भूमिका

समाज-विज्ञान के अध्ययन पर आजकल अधिक ज़ोर दिया जा रहा है। समाज-विज्ञान में अर्थ-शास्त्र, राजनीति, समाज-शास्त्र, मानव जाति-शास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान आदि सम्मिलित हैं। इन शास्त्रों के अध्ययन की आवश्यकता स्पष्ट है। जिस समाज में हम रहते हैं—जन्म से लेकर मृत्यु तक जिसके हम एक अविच्छिन्न अंग है—उसके सम्बन्ध में अधिक से अधिक ज्ञान हम प्राप्त कर सकें, यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा तो है ही, सामाजिक सम्बन्धों की सुघडता की दृष्टि से भी वह अत्यधिक उपयोगी है।

आज स्थिति यह है कि प्राकृतिक विज्ञानों के सम्बन्ध में तो मनुष्य ने अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त कर ली है, अणु और परमाणु स लेकर सौर्य-मण्डल और नक्षत्र-लोक के रहस्यों का उसने उद्‌घाटन किया है, परन्तु मानव-प्रकृति और मानव-मनोविज्ञान के सम्बन्ध में उसका अज्ञान पद-पद पर झलकता है। इस असन्तुलन को दूर करने के लिए, प्रमुख शिक्षा-शास्त्रियों की दृष्टि में, यह आवश्यक माना जाने लगा है कि जो लोग प्राकृतिक विज्ञानों का अध्ययन कर रहे हों उन्हें समाज-विज्ञान के मूल तत्वों से परिचित कराया जाए। प्राकृतिक विज्ञान ने हमें प्रकृति की सूक्ष्म से सूक्ष्म शक्तियों को समझने की क्षमता दी है, परन्तु समाज-विज्ञान ही हमें यह बता सकता है कि मनुष्य की मूल भूत आवश्यकताएँ क्या हैं, जिस अर्थ-व्यवस्था का उसने विकास किया है उसके नियम क्या हैं, और जिस राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत वह अपनी भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है, उसका निर्माण और विकास कैसे हुआ, उससे वह किन अधिकारों की अपेक्षा कर सकता है और उसके प्रति उसका क्या दायित्व है और आवश्यकता पड़ने पर कैसे वह उस राज्य-व्यवस्था को बदल सकता है। सामाजिक अध्ययन पर आग्रह का यह अर्थ नहीं है कि प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन की उपेक्षा की जाए। वह तो अध्ययन का एक आवश्यक क्षेत्र है ही। हमारा आशय केवल इतना ही है कि उसके अध्ययन के साथ ही साथ सामाजिक अध्ययन की आवश्यकता को भी समझ लिया जाए, क्योंकि उसके अभाव में भौतिक ज्ञान का उपार्जन केवल एकांगी ही नहीं होगा, वह ख़तरनाक भी हो सकता है।

भौतिक-विज्ञान की देन को हम कदापि उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकते। उसके बिना हमारी आज की सभ्यता असम्भव होती। उसने हमारे उत्पादन और उत्पादन-शक्ति दोनों को ही बढ़ाया है। संसार में आज जो समृद्धि दिखाई देती है—पिछड़े हुए देशों की बात हम छोड़ दें—और जीवन की सुविधाओं को आसानी से प्राप्त करने की जिस स्थिति में हम अपने को पाते हैं, वह भौतिक विज्ञान के द्वारा ही सम्भव हुई है। उत्पादन में यन्त्रों की सहायता लेकर मनुष्य समय की एक अपार राशि को बचा लेने में समर्थ हुआ है और जैसा कि सब मानते हैं, फ़ुर्सत की ये घड़ियाँ कला और साहित्य के निर्माण के लिए बड़ी मूल्यवान् हैं।

परन्तु मनुष्य ने जहाँ प्राकृतिक विज्ञानों की सहायता से प्रकृति पर एक अभूतपूर्व विजय प्राप्त की है वह सदा ही यह नहीं जानता कि इस बढ़ी हुई समृद्धि और बचे हुए समय का कैसे वह अच्छे से अच्छा उपयोग कर सकता है। ज्यों-ज्यों विज्ञान की उन्नति होती जा रही है और प्रकृति की शक्तियों और उसके रहस्यों पर मनुष्य का नियन्त्रण बढ़ता जा रहा है वह ऐसे अस्त्रों का निर्माण कर रहा है जिसके मानव-समाज के न केवल अव्यवस्थित पर समाप्त हो जाने की आशङ्का भी बढ़ती जा रही है। विज्ञान का यदि इतना अधिक विकास न हुआ होता तो पिछले दो महायुद्धों की भीषणता निःसन्देह इतनी अधिक न बढ़ गई होती। यह बात अविश्वसनीय तो लगती है पर इसमे सन्देह नहीं कि विज्ञान ने ज्यों-ज्यों प्रगति की है, मनुष्य के प्रति मनुष्य की घृणा और असहिष्णुता अधिक बर्बर होती गई है और मानव-सभ्यता के लिए बड़े से बड़ा सङ्कट उपस्थित होता गया है। आज की स्थिति के सम्बन्ध मे प्रायः यह कहा जाता है कि मनुष्य ने प्रकृति पर तो विजय प्राप्त की है, पर स्वयं अपने आप पर विजय प्राप्त करने में वह असफल रहा है।

समाज-विज्ञान हमें मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं से परिचित कराता है, और इसमें सन्देह नहीं कि ये मूलभूत आवश्यकताएँ ही उसके सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करती हैं। ये मूलभूत आवश्यकताएँ क्या हैं, इसके सम्बन्ध में निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है। मनुष्य सुरक्षा चाहता है, वह परम्पराओं को तोडने में झिझकता है, संभवतः एक आध्यात्मिक भूख भी उसके कार्यों को प्रेरित करती है। पर, ये मूलभूत आवश्यकताएँ कुछ भी हों, प्रत्येक युग और देश में उनकी अभिव्यक्ति विभिन्न रूपों में होती है। किसी युग और देश के राजनीतिक चिन्तक के लिए यह सदा ही सम्भव नहीं हो

पाता कि वह उन मूलभूत आवश्यकताओं को ठीक से समझ ले। अपनी विशिष्ट परिस्थितियों के प्रभाव में वह मनुष्य के मनोविज्ञान के सम्बन्ध में एक विशेष दृष्टिकोण बना लेता है। यदि कोई राजनीतिक चिन्तक मनुष्य को स्वभाव से भीरु, स्वार्थी और संघर्ष-प्रिय मानता है तो वह एक ऐसे शासन की कल्पना करता है और समाज के लिए अनिवार्य मानता है, जो स्वेच्छाचारी और सर्वशक्तिमान हो। दूसरा व्यक्ति जो मनुष्य को स्वभाव से अच्छा, समाज से प्रेम करनेवाला और निःस्वार्थता की भावना से अभिभूत मानता है, वह एक ऐसे जनतान्त्रिक लोकहितकारी राज्य का आदर्श हमारे सामने रखता है जिसका आधार बल पर नहीं; स्वीकृति पर है। हौब्स और लौक इन दोनों दृष्टिकोणों को बड़े अच्छे ढंग से व्यक्त करते हैं। सच तो यह है कि विचार-धाराओं का जो संघर्ष हमें आज दिखाई दे रहा है उसके मूल में मनुष्य की प्रकृति के सम्बन्ध में, दृष्टिकोणों का मौलिक अन्तर ही है। मनुष्य की मूल प्रकृति के सम्बन्ध में जो अन्ततः सामाजिक है, यदि हम एक सही दृष्टिकोण का विकास कर सकें तो सम्भवतः अन्तर्राष्ट्रीय उलझनों और संघर्षों में बहुत कमी आ जाए।

समाज-विज्ञान हमें यही सिखाता है कि मनुष्य के इस मूल-स्वरूप को समझने का हम प्रयत्न करें। उसके लिए हमें वैज्ञानिक उपादानों का प्रयोग करना होगा। मानसिक संकीर्णता और रागद्वेष की भावनाएँ लेकर हम मनुष्य के वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान सकते। मनुष्य के अध्ययन में भी हमें उसी वैज्ञानिक दृष्टिकोण को लेकर चलना होगा जिसका प्रयोग हम अमानवीय प्रकृति के अध्ययन में करते हैं। लार्ड बेवरिज के शब्दों में, "यदि मनुष्य को प्रकृति पर प्राप्त किए गए अपने प्रभुत्व का उचित उपयोग करना है तो उसे अपने पर नियन्त्रण करना सीखना होगा। इस नियन्त्रण को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक होगा कि वह उसी पथ पर—विज्ञान के कठोर, लम्बे पथ पर—चले जिसने प्रकृति पर प्रभुत्व प्राप्त करने में उसे सहायता पहुँचाई है—अन्तर केवल यही होगा कि इसका उपयोग वह प्रकृति पर नहीं, समाज-स्थित मनुष्य पर करेगा।" इसका तात्पर्य यही है कि समाज-विज्ञान का आधार ठोस तथ्यों पर होना चाहिए, न कि रागद्वेष-मिश्रित भावनाओं पर।

समाज-विज्ञान के अध्ययन में प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन के साधनों का उपयोग करने में सावधानी बरतने की आवश्यकता है। कई बार बड़े-बड़े समाज-शास्त्री भी यह मानने की गल्ती कर बैठते हैं कि समाज के क्षेत्र में वैसे

ही कठोर, अटल और अपरिवर्त्तनशील नियमों का शासन है जैसा प्राकृतिक विज्ञान में। कुछ प्रमुख इतिहासकारों ने इतिहास के क्रम को कड़े नियमों में बाँधने का प्रयत्न किया है। कोई मानता है कि इतिहास उन्नति से अवनति और अवनति से उन्नति की ओर एक नियमित रूप से बढ़ता रहता है, कोई मानता है कि इतिहास का एक युग सङ्घटनात्मक होता है और दूसरा सर्जनात्मक। किसी का विश्वास है कि युग का निर्धारण एक आर्थिक व्यवस्था को दूसरी आर्थिक व्यवस्था के द्वारा बलपूर्वक हटाए जाने से होता है। इन सब विचार-धाराओं के पीछे, जिनके साथ कुछ बड़े-बडे चिन्तकों के नाम सम्बद्ध है, यह धारणा दिखाई देती है कि इतिहास कुछ प्राकृतिक नियमों के सङ्केत पर चलता है और व्यक्ति इतिहास के हाथों में एक खिलौने के समान है, प्राकृतिक-विज्ञान के नियमों को सामाजिक अध्ययन में ज्यों का त्यों अपना लेने के प्रयत्न की असफलता का यह एक अच्छा उदाहरण है।

व्यक्ति सामाजिक अध्ययन का केन्द्र है। वह नियमो की डोरी पर नाचनेवाला एक खिलौना नहीं है। वह नियन्ता, सृजक और स्रष्टा है। देश, काल और स्थिति का उस पर प्रभाव पडता है, पर देश, काल और स्थिति को बदलने की उसमे क्षमता भी है। समाज-विज्ञान के अध्ययन में व्यक्ति की इस सर्जनात्मक शक्ति को हम उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देख सकते। इतिहास मे ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण हमारे सामने है जिन्होंने विचारों की दिशा को ही बदल दिया है, क्रान्ति का प्रजनन और नियन्त्रण जिनके सङ्केत पर हुआ है, समाज-व्यवस्थाओं में जो आमूल परिवर्त्तन कर सके है और नए युगो की जिन्होंने सृष्टि की है। डॉ० राधाकृष्णन के शब्दों में, "मनुष्य एक नैतिक क्रियाशील प्राणी है, जो अपना व्यवहार स्वयं निश्चित करता है। अपनी इच्छा-शक्ति का प्रयोग करके वह आगे बढ़ सकता है। यदि मनुष्य अपनी सृजन-शक्ति को खो दे और अपने को भीड का केवल एक अव्यक्त अङ्ग मान ले तो वह ज्ञान जो आज उसने विज्ञान और यन्त्रो की सहायता से प्राप्त किया है स्वयं उसी का गला घोट देगा, और वह शक्ति जो आज उसके हाथ में है उसके अस्तित्व को ही मिटा देगी। परन्तु यदि उसे जीवन के वास्तविक मूल्यों का ज्ञान है और साधारणीकरण के आकर्षण में वह अपनी सृजन-शक्ति को नहीं खो देता तो वह उस ज्ञान और शक्ति को जो आज उसके पास है अपने नियन्त्रण मे रख सकता है और उसका सही उपयोग कर सकता है।" समाज-विज्ञान के अध्ययन में इस महान् तथ्य को ध्यान में रखना आवश्यक है।

सच तो यह है कि मनुष्य जब तक जीवन के मूल्यों के सम्बन्ध में एक स्वस्थ दृष्टिकोण का विकास नहीं कर लेगा, न तो प्रकृति की विजय से प्राप्त होनेवाली उपलब्धियों से वह पूरा लाभ उठा सकेगा और न समाज के मूल तत्त्वों के अपने गहरे ज्ञान से। इसी कारण, यह माना गया है कि सामाजिक अध्ययन का उद्देश्य समाज के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करने से कहीं अधिक बड़ा है। केवल ज्ञान से मानव का कभी कल्याण नहीं हुआ है। ज्ञान के पीछे, वह ज्ञान चाहे प्रकृति का हो अथवा मनुष्य-स्वभाव का, यदि मन की स्वस्थ, परिष्कृत और सहानुभूति-मूलक वृत्तियाँ नहीं हैं तो वह खतरनाक भी बन सकता है। प्राकृतिक विज्ञान ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की जो सामर्थ्य मनुष्य को दी उसका जैसा दुरुपयोग हुआ वैसा ही समाज-विज्ञान के द्वारा समाज की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त किया उसका भी दुरुपयोग हुआ है और हो सकता है। व्यक्ति की सहज विश्वास की वृत्ति, अनुशासन की तत्परता, राष्ट्र-प्रेम की भावना, अपनों से प्रेम और परायों से घृणा, आदि प्रवृत्तियों को लेकर खतरनाक राज्य-व्यवस्थाएँ खड़ी की गई हैं, और जातियो, राष्ट्रों और धर्मों, को एक दूसरे के प्रति उभाड़ा गया है, जिनके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध और गृह-कलह की ज्वालाएँ धधक उठी हैं। मनुष्य के सामाजिक मनोविज्ञान से परिचित स्वार्थरत, सत्ता-लोलुप राजनीतिक नेताओं के लिए यह कभी भी कठिन नहीं रहा है कि वे भाव-प्रवण, सम्वेदनशील, उदारचेता, नवयुवकों के अर्द्ध-विकसित, मस्तिष्कों में जाति, वर्ग, धर्म अथवा राष्ट्र के नाम पर घृणा और द्वेष के बीज बो दें।

इस कारण, सामाजिक अध्ययन में यह भी आवश्यक है कि समाज के ज्ञान के साथ व्यक्ति की वृत्तियों का भी परिष्कार और परिमार्जन किया जाए। ज्ञान का अर्जन एक स्पष्ट उद्देश्य को लेकर हो और वह उद्देश्य समस्त मानवता का विकास और कल्याण हो। उस सामाजिक अध्ययन को निरर्थक ही माना जाना चाहिए जो हमें अपने को समस्त मानव-समाज का एक अंग मानने की प्रेरणा नहीं देता। आज हम इतिहास के उस मोड़ पर हैं जहाँ अन्य सभी निष्ठाओं को पीछे छोड़कर मानवता के प्रति निष्ठा को हमें सुदृढ़ बनाना होगा। गुफा में रहनेवाला व्यक्ति कुटुम्ब के बाहर की बात नहीं सोच सकता था। राज्य की परिधि जब नगर की सीमाओं से मर्यादित थी तब मनुष्य के लिए राष्ट्रहित की बात सोचना कठिन था। कई शताब्दियों तक राज्य का आधार राष्ट्रीयता की भावना पर निर्भर रहा और इसमें सन्देह नहीं कि जब तक एक राष्ट्र

बलपूर्वक अथवा छलपूर्वक, दूसरे राष्ट्रों पर अपना प्रभुत्त्व स्थापित करने की योजनाएँ बनाता रहेगा, राष्ट्रीयता की भावना मिटेगी नहीं। परन्तु विज्ञान और यन्त्रवाद के विकास के इस युग में, हमारी दुनिया आज इतनी सिकुड़ गई है, और सभी एक दूसरे पर इतना अधिक निर्भर हो गए हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जब तक अन्तर्राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से नहीं सोचेगा, हमारी समस्याएँ उलझती ही जाएँगी।

सामाजिक अध्ययन यदि किसी महान् सचाई को हमारे सामने स्पष्ट रूप में रखता है तो वह यह है कि कोई भी देश, बौद्धिक, व्यावसायिक और सैनिक दृष्टि से वह चाहे कितना भी सशक्त क्यो न हो, यदि अन्य देशों के प्रति सहानुभूति, सहयोग और उदारता का दृष्टिकोण नहीं रखेगा तो उसका अस्तित्व मिट जाएगा। एक देश और दूसरे देश के बीच आज तो केवल एक ही प्रकार की प्रतिस्पर्धा के लिए अवसर रह गया है और वह कला और साहित्य, ज्ञान और विज्ञान, सभ्यता और संस्कृति मे एक दूसरे से आगे बढ़ जाने की प्रतिस्पर्धा है। सामाजिक अध्ययन के द्वारा ही यह सम्भव हो सकता है कि प्रत्येक देश में अधिक से अधिक संख्या में ऐसे पुरुषों और स्त्रियों का निर्माण किया जाए जो जाति, धर्म, भाषा, और संस्कृति की सीमाओं से ऊपर उठकर मानवता के दृष्टिकोण से सोच सकें, और 'वसुधैव कुटुम्बकं' जिनके जीवन का मूलमन्त्र हो।

उदयपुर

शंकर सहाय सक्सेना
शान्ति प्रसाद वर्मा

विषय-सूची

भाग १

आधुनिक समाज की आधार-शिलाएँ

भाग २

आधुनिक समाज का नवनिर्माण

१—राजनीतिक

२—सामाजिक

भाग ३

एशिया का सर्वतोमुखी विकास

१—भारतवर्ष

२—एशिया के अन्य देश

भाग ४

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में

भाग १

आधुनिक समाज की आधार-शिलाएँ

दूर दूर के देशों की यात्रा करने लगे। चौदहवीं शताब्दी के बाद से यात्रा-संबंधी साहित्य भी बढ़ता जा रहा था और जानकारी भी। पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत में जब वास्को ड गामा ने आशा अन्तरीप की परिक्रमा करके भारतवर्ष का मार्ग ढूँढ़ निकाला, तब से दूर देशों की यात्रा में यूरोप के लोगों की रुचि बहुत बढ़ गई। इस बीच कोलम्बस ने अमरीका का पता लगा लिया था। यूरोप के लोगों ने दूसरी ओर लंका, सुमात्रा, जावा, चीन और जापान तक पहुँचकर अपने व्यापार के अड्डे कायम किए। यह स्पष्ट था कि इन क्रान्तिकारी परिवर्त्तनों के बीच पश्चिमी यूरोप की सीमित और संकुचित छोटी सी दुनिया बहुत दिनों तक अपने आपमें बन्द नहीं रह सकती थी।

धर्म-युद्धों और भौगोलिक खोजों का सीधा परिणाम यह निकला कि यूरोप के लोगों की एक ओर तो प्राचीन में रुचि बढ़ी और दूसरी ओर उनमें वर्त्तमान को समझने की उत्कण्ठा जागी। इस नए युग की सबसे बड़ी विशेषता जिज्ञासा की भावना थी, जिसके बिना किसी प्रकार का बौद्धिक विकास संभव नहीं है। प्राचीन संस्कृतियों में रुचि मध्य-काल में भी बिलकुल मिट नहीं गई थी। परंतु अब उसके पीछे एक नई प्रेरणा काम कर रही थी। अपने संबंध मे और उस दुनिया के संबंध में, जिसमें वह रह रहा था, मनुष्य के दृष्टिकोण में एक भौतिक अन्तर आ गया था। इस बदले हुए दृष्टिकोण को प्रायः मानववाद (Humanism) का नाम दिया गया है। मानववाद के समर्थक प्राचीन संस्कृति में अगाध विश्वास रखते थे, परंतु उसकी पुनः स्थापना ही उनका एकमात्र लक्ष्य नहीं था। उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह थी कि उन्हे हमारी इस प्रत्यक्ष दुनिया में, जिसमें हम रहते हैं और साँस लेते हैं, खाते-पीते हैं और आमोद-प्रमोद मे व्यस्त रहते हं, प्रेम करते हैं और घृणा करते हं, एक जीवित, जागृत और विशेष रुचि थी। सहज, स्वाभाविक मानव-जीवन से उन्हें प्रेम था। उसके स्वप्न और उसकी आकाक्षाएँ, उसकी वेदना और उसका उत्पीड़न, यही उनकी कला और साहित्य की मूल प्रेरणा थे।

नए युग की विशेषताएँ

मानववाद के सही अर्थों के संबंध मे विद्वानों में काफी मतभेद है। सिसेरो का विश्वास था कि जिन नवयुवकों के हाथ में आगे जाकर समाज

का नेतृत्व आनेवाला है, उन्हे साहित्य, दर्शन, वक्तृत्व-कला, इतिहास और कानून आदि विषयों का अध्ययन करना चाहिए। मानववाद से उनका अर्थ उस संस्कृति से था, जिसमें इस प्रकार के अध्ययन का समावेश हो। परन्तु पुनर्जागृति के युग में मानववाद का प्रयोग विशेष अर्थों मे किया जाता था। उसका अर्थ था विचार और कर्म दोनों में ही धर्म के नियंत्रण की ढिलाई, मध्यकालीन धर्म-शास्त्र, दर्शन, कला और साहित्य के संबंध में उपेक्षा की भावना, और प्राचीन यूनानी और रोमन जीवन और संस्कृति के प्रति अनुराग।

मानववाद का अभ्युदय

पेट्रार्क (Francesco Petrarch, 1304-1374) के जीवन और चरित्र में हमें मानववाद की सभी विशेषताएँ केन्द्रीभूत दिखाई देती है। पेट्रार्क फ्लोरेंस (इटली) का रहनेवाला था और मानववादी विद्रोह का मुख्य नेता। उसका चरित्र भावनाप्रधान था। रूढ़ियों के बंधन उसे जकड़ पाने में सदा ही असमर्थ रहे। उसके जीवन में निरंतर एक संघर्ष चलता रहा जिसके मूल मे यह प्रश्न था—"हमारे कार्य कहाँ तक एक बाहरी नैतिकता की संकीर्ण सीमाओं मे बँधे रहने चाहिए और कहाँ तक हमें अपनी इच्छाओं और भावनाओं को व्यक्त करने की स्वतंत्रता होनी चाहिए?" मध्य-युग का उत्तर इस संबंध में बहुत स्पष्ट था: "नैतिक बन्धनों को हमे जीवन में सर्वोपरि स्थान देना चाहिए।" पेट्रार्क ने इस उत्तर के विरुद्ध बग़ावत की। धर्म के बन्धनों को मानने के लिए भी वह तैयार न था। अन्तः-प्रेरणा ही उसके लिए सब कुछ थी। यह धर्म-निरपेक्षता मानववादी विचार-धारा की प्रमुख विशेषता थी। पेट्रार्क के मन में प्राचीन रोम के मिटे हुए वैभव के लिए एक गहरा आकर्षण था। प्राचीन रोम के धर्म-निरपेक्ष आदर्शों और संस्कृति के प्रति प्रेम उसके व्यक्तित्व में कूट-कूटकर भरा था। प्राचीन ग्रन्थों की खोज में मारे-मारे फिरना और वे जहाँ मिल जाएँ, सुन्दर अक्षरों में उनकी नकल कर लेना पेट्रार्क का मुख्य धन्धा ही बन गया था। इसके साथ ही देश-भक्ति की भावना और प्रकृति से प्रेम, ये दोनों बाते भी हम उसके जीवन में पाते हैं। पेट्रार्क के इन आदर्शों को बोकेशियो और अन्य मानववादियों ने आगे बढ़ाया। प्राचीन साहित्य के संग्रह और अध्ययन की भावना चारों ओर फैल गई। इन्हीं दिनों एक यूनानी विद्वान् के फ्लौरेंस आ जाने से यूनानी भाषा और साहित्य के संबंध मे

लोगों को अपनी तीव्र जिज्ञासा शान्त करने--का अच्छा अवसर मिल गया। मान्टुआ में तो एक ऐसी शिक्षा-संस्था ही खोल दी गई जिसमें मानववाद की शिक्षा दी जाती थी। फ्लोरेंस के शासकों और इटली के अन्य नगरों के सरदारों और धनीमानी व्यक्तियों से भी इस आन्दोलन को बड़ा समर्थन मिला। मानववाद के इस आन्दोलन ने पुनर्जागृति के युग को संभव बनाने में बहुत सहायता पहुँचाई।

पुनर्जागृति के युग की सबसे सुन्दर अभिव्यक्ति ललित कलाओं के क्षेत्र में हुई। मध्य-युग में कला धर्म के हाथों की कठपुतली थी। जीवन और वास्तविकता मनुष्य के शरीर और प्रकृति के सौंदर्य से उसका कोई संबंध नहीं रह गया था और इस कारण उसका स्वरूप भी कठोर, रूढ़िग्रस्त और भद्दा हो गया था। कला के जर्जर शरीर में नए प्राणों का संचार सबसे पहले इटली में हुआ। पुनर्जागृति के युग से पहले ही इटली के चित्रकार रूढ़ियों के बंधनों को ढीला करने में लग गए थे। पुनर्जागृति-युग के चित्रकारों मे माइकेल एन्जेलो (Michel Angelo, 1475-1564) रैफेल (Raphael 1483-1520) और लियोनार्डो ड विन्सी (Leonardo de Vinci 1452-1519) प्रमुख हैं। इनकी कला के विषय भी धार्मिक थे, पर कला अब धर्म की दासी नहीं रह गई थी। रैफेल ने अपने 'आदर्शों' के लिए अधिक से अधिक सुन्दर स्त्रियों को चुना, और माँ के सौन्दर्य और शिशु की सरलता को जीवित रूप देने का प्रयत्न किया। उसका सबसे प्रसिद्ध चित्र 'मैडोना' अपने संश्लिष्ट सौंदर्य और सजीव आकर्षण के कारण संसार के सबसे प्रसिद्ध चित्रों में गिना जाता है। माइकेल एन्जेलो एक कट्टर व्यक्तिवादी चित्रकार था। उसने मनुष्य की शरीर रचना का बड़ी बारीकी से अध्ययन किया और अपने चित्रों में उसका बड़ा सफल प्रदर्शन किया। कल्पना की भव्यता, अभिव्यक्ति की सरलता और शक्ति और धार्मिक भावनाओं की गहराई में संसार का कोई भी चित्रकार उसके सामने नहीं ठहर सकता। लियोनार्डो चित्रकार, कवि, संगीतज्ञ, शिल्पशास्त्री सभी कुछ था; परंतु चित्रकार के रूप में उसका स्थान अद्वितीय है। 'मोना लिसा' नाम का उसका प्रसिद्ध चित्र अपनी अथाह और गंभीर मुस्कराहट के कारण रहस्यमय आकर्षण का एक प्रतीक बन गया है, और कई कला पारखियों की दृष्टि में भाव-भंगिमा के सौंदर्य और

ललित कलाओं का विकास

अन्य विशेषताओं के कारण संसार के सुन्दर चित्रों में अद्वितीय है। उसके एक दूसरे प्रसिद्ध चित्र में उस अन्तिम भोज का दृश्य है, जिसमें क्राइस्ट ने घोषणा की है कि बारह शिष्यों में से एक उनके साथ विश्वासघात करेगा। क्राइस्ट की मुख-मुद्रा गंभीर है, और बारह शिष्यों में से प्रत्येक के मुख पर विभिन्न भावनाएँ अंकित की गई हैं। सारा चित्र एक सजीव नाटक का दृश्य प्रस्तुत करता है। इटली की चित्रकला फिर कभी उस ऊँचाई का स्पर्श नहीं कर सकी जिस तक इन महान् चित्रकारों ने उसे उठा दिया था।

मूर्त्तिकला, स्थापत्य-कला और संगीत में भी हम इन्हीं प्रवृत्तियों को देख सकते हैं। मूर्त्तिकला में प्राचीन आदर्शों का अनुकरण करने की चेष्टा की गई। जिबर्टी (Ghiberti-1378-1455) ने फ्लौरेंस के प्रमुख गिरजाघर के लिए जिस भव्य प्रवेश, द्वार का निर्माण किया, माइकेल एन्जेलो ने उसके संबंध में कहा था कि उनसे स्वर्ग के प्रवेश-द्वार का काम लिया जा सकता था। डोनाटेलो (Denatello, 1386-1466) का भी अपने युग की मूर्त्तिकला पर बड़ा प्रभाव पड़ा। स्वयं माइकेल एन्जेलो एक कुशल मूर्त्तिकार था। उसकी बनाई हुई डेविड की विशाल मूर्त्ति शरीर-रचना की दृष्टि से संसार की मूर्त्तियों में ऊँचा स्थान रखती है। स्थापत्य-कला के क्षेत्र में भी मध्य-युग की गौथिक शैली का तिरस्कार किया गया और यूनान और रोम की प्राचीन वास्तु-कला की विशेषताओं, महराब, गुम्बद और स्तंभ को अपनाया गया। प्राचीन इमारतों के खण्डहरों के जीर्णोद्धार का प्रयत्न किया गया। पर प्राचीन शैली ज्यों की त्यों नहीं अपना ली गई। पुनर्जागृति-काल की स्थापत्यकला में नक्काशी और पच्चीकारी पर अधिक जोर दिया गया। रोम-स्थित सेन्टपीटर का गिरजाघर इस शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उसके विशाल और प्रभावपूर्ण गुम्बद की योजना माइकेल एन्जेलो के द्वारा बनाई गई थी। फ्लौरेंस, रोम और सीना आदि के राजप्रासादों में हमें पुनर्जागृति-युग की वास्तुकला के बहुत से उदाहरण देखने को मिलते हैं। इसी प्रकार संगीत के रूप में भी एक बड़ा परिवर्त्तन हुआ। मार्टिन लूथर ने पहली बार इस बात की कल्पना की कि धार्मिक अवसरों पर सामूहिक संगीत की व्यवस्था होनी चाहिए। उसने कुछ तो प्राचीन

मूर्त्तिकला, स्थापत्य और संगीत

धर्म-गीतों को लिया, कुछ नए धर्म-गीतों की रचना की और उसके बाद से तो गिरजाघरों में सामूहिक संगीत की परिपाटी ही चल पड़ी। इस नई आवश्यकता के आधार पर वाद्य-यंत्रों में भी परिवर्त्तन और सुधार हुए। आधुनिक ऑपेरा का जन्म भी तभी हुआ।

साहित्य के विकास मे सबसे अधिक सहायता मुद्रण-कला के आविष्कार से मिली। आज से पाँच सौ वर्ष पहले यूरोप में जितनी भी पुस्तकें प्रचलित थीं, वे सब हाथ से लिखी जाती थीं। प्राचीन यूनानी और रोमन एक किस्म की मोटी घास से बनाए गए रेशों से एक चीज़ तैयार करते थे, जिसका उपयोग पुस्तकें लिखने के लिए किया जाता था। बाद में कुछ जानवरों की खालों को साफ करके उनसे लिखने का काम लिया जाने लगा। ये दोनों ही तरीके महँगे और दुःसाध्य थे। चीन के लोगों ने ईसा से भी दो सौ वर्ष पहले रेशम से एक प्रकार का कागज़ तैयार करना आरंभ किया था। दमिश्क के मुसलमानों ने आठवीं शताब्दी में रेशम के बदले सूत का प्रयोग करना शुरू किया और बाद मे यूनान, दक्षिण इटली और स्पेन में उसका प्रचलन हो गया। तेरहवीं शताब्दी में इटली में एक किस्म का लिनन का कागज काम मे लाया जाता था। बाद में उसका प्रचार फ्रांस, पश्चिमी यूरोप और मध्य यूरोप के सभी देशों मे हो गया। कागज के आविष्कार के बाद ही मुद्रण-कला का प्रचार संभव हो सका। प्रारंभ में लकड़ी पर उल्टे अक्षरों में पुस्तकें खोदी जाती थीं और उस पर स्याही लगाकर कागज़ पर छाप लिया जाता था। पहले इसमे असुविधा बहुत अधिक थी। अक्षरों के ढालने का काम सबसे पहले हालैण्ड के एक व्यक्ति ने आरंभ किया। उसके बाद उन अक्षरों को शब्दों और वाक्यों में व्यवस्थित करके छपाई का काम सरल बनाया जा सका। बराबरी की ऊँचाईवाले इन अक्षरों को एक साँचे में जमा लिया जाता था और एक पृष्ठ के छप जाने पर उन्हें अलग अलग करके दूसरे पृष्ठ के लिए नए सिरे से जमाना पड़ता था। गुटेन बर्ग (Gutenburg, 1398-1468) नाम के एक व्यक्ति ने जर्मनी के एक नगर मे पहला छापाखाना खोला। धीरे धीरे यह कला जर्मनी भर में और वहाँ से इटली, फ्रांस, इंग्लैण्ड और यूरोप के अन्य देशों में फैल गई। यूरोप के सभी बड़े नगरों में छापेखाने स्थापित हो गए।

मुद्रण-कला का आविष्कार

इस आविष्कार का सभ्यता के विकास पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। पुस्तकें बड़ी संख्या में लिखी जाने लगीं और दूर दूर तक उनका प्रचार होने लगा। जबकि पहले एक कुशल लेखक वर्ष में शायद दो अच्छी पुस्तकों की नकल कर सकता था, सोलहवीं शताब्दी में एक छापेखाने से एक पुस्तक की चौबीस हजार प्रतियाँ आसानी से निकल सकती थीं। किताबों के मूल्य में भी अब भारी कमी हो गई थी। सरदारों और राजकुमारों के लिए ही नहीं, मध्यम श्रेणी के लिए भी अब यह संभव हो गया था कि वे पुस्तकें खरीद सकें। पुस्तकों के प्रचार से ज्ञान का विस्तार हुआ। सर्वसाधारण का मानसिक दृष्टिकोण अधिक विकसित हुआ और प्राचीन जीवन और साहित्य के संबंध में जिज्ञासा तृप्त करने के साधन बढ़े।

मुद्रण-कला के आविष्कार का सीधा प्रभाव साहित्य के विकास पर पड़ा। साहित्य में भी नवीन प्रवृत्ति का आरंभ इटली से हुआ, पर बहुत जल्दी यूरोप के अन्य देशों में भी उसका प्रभाव जा पहुँचा। इस नए साहित्य का दृष्टिकोण ही दूसरा था। अन्य कलाओं के समान साहित्य भी अब तक मध्य कालीन धर्म के गतिहीन चक्र से जकड़ा हुआ था। अब उसे एक नई युक्ति मिली और उसने मानव जीवन और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के विशाल क्षितिज में अपने मुक्त पंखों को फैलाकर उड़ान भरना आरंभ किया। यूनानी और लैटिन भाषाओं के प्राचीन साहित्य में रुचि होना तो इस युग की विशिष्ट प्रवृत्तियों के अनुकूल ही था। प्राचीन साहित्य के साथ ही प्राचीन भाषाओं का भी वैज्ञानिक अध्ययन किया जाने लगा। नई भाषाओं के विकास पर उसका गहरा असर पड़ा। सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक यूरोप के सभी प्रमुख देशों की भाषाओं में एक शक्तिशाली गद्यशैली का विकास होने लगा था। धीरे धीरे रचनात्मक साहित्य का निर्माण आरंभ हुआ। इस युग में नाटकों ने विशेष प्रगति की। नाटक मध्य युग में और प्राचीन युग में भी, धर्म के साथ बँधे हुए थे; पर धीरे धीरे, विशेषकर इंग्लैण्ड में, सर्वसाधारण ने उन्हें अपने हाथ में लेना आरंभ कर दिया था। अब प्राचीन यूनानी नाटककारों की सुखांत और दुःखान्त रचनाओं का नए सिरे से अध्ययन आरंभ किया गया और उनका अनुकरण करने का प्रयत्न किया जाने लगा; परंतु कुछ देशों, विशेषकर फ्रांस और इंग्लैण्ड में मौलिक शैलियों का विकास हुआ। पहला आधुनिक नाटक इंग्लैण्ड

साहित्य का विकास

में तैयार किया गया। मार्लो (Christopher Marlow, 1564-1593) ने मुक्त छंद का आविष्कार किया, जिसने शेक्सपीयर की महान् कृतियों की रचना का मार्ग सुगम कर दिया। मॉन्टेन (Montaigne, 1533-1592) को, जो फ्रांस का एक बड़ा निबंध लेखक था, पुनर्जागृति-युग के साहित्य की भावना का प्रतीक माना जा सकता है। "मैं अपना ही चित्र खींचता हूँ" यह उसका साहित्य-रचना का मूल सिद्धान्त था। मॉन्टेन ने अपने निबंधों में मानव जीवन की दिन प्रतिदिन की घटनाओं को लिया है और व्यक्तिगत बातों की ही चर्चा की है। बाइबिल के देशी भाषाओं में अनुवाद किए जाने का भी उनकी गद्यशैलियों पर गहरा प्रभाव पड़ा।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास

पुनर्जागृति-काल की सबसे बड़ी विशेषता आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास था। विज्ञान का थोड़ा बहुत विकास तो मध्य-युग में भी हुआ था; परंतु जीवन को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयास आधुनिक युग की अपनी विशेषता है। सोलहवीं शताब्दी में प्राकृतिक विज्ञान के विकास के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ भी प्राप्त हो गई थीं। मनुष्य के मस्तिष्क पर से धर्म का नियंत्रण शिथिल हो गया था और उसे इस दुनिया और उसके जीवन में अपेक्षाकृत अधिक रुचि हो गई थी। धार्मिक सुधार ने भी सदियों के नियंत्रण को एक चुनौती दी और व्यक्तिगत अनुभव को उत्साहित किया। वैज्ञानिक खोज के लिए इस भावना का होना आवश्यक था। पुनर्जागृति-युग में भी चिन्तनशील व्यक्तियों की दृष्टि प्रायः प्राचीन की ओर ही रहती थी। प्राचीन के जीर्णोद्धार की भावना का उस युग में प्राधान्य था। पर सोलहवीं शताब्दी से इस दृष्टिकोण में परिवर्त्तन आना आरंभ हुआ और दर्शन शास्त्रियों, लेखकों, राजनीतिक सुधारकों, धार्मिक आचार्यों और वैज्ञानिकों ने अपनी कृतियों में भविष्य में एक नए विश्वास का प्रदर्शन किया। इस वातावरण में एक नई वैज्ञानिक भावना ने जन्म लिया। मध्ययुग के लोगों से अधिकारियों द्वारा जो बात कही जाती थी, वे उसे मान लेते थे। अन्ध-विश्वास में वे डूबे हुए थे और एक रहस्यमय और अप्राकृतिक लोक में वे विचरण करते थे। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में बेकन (Francis Bacon, 1561-1626) ने उद्घोषणा की कि विज्ञान का वास्तविक लक्ष्य मनुष्य जीवन को नई खोजों और शक्तियों की भेंट देना है, और डेकार्टीज (Descartes, 1596-1650) ने बताया

कि हमें प्रत्येक वस्तु को सन्देह और अविश्वास की दृष्टि से देखना चाहिए जिससे हम सत्य की खोज कर सकें। इस नए मानसिक दृष्टिकोण के बन जाने से भूगोल और ज्योतिष, रसायन और वनस्पति-शास्त्र, गणित और भौतिक-शास्त्र आदि प्राकृतिक विज्ञानों का विकास स्वाभाविक हो गया। परंतु वैज्ञानिक दृष्टिकोण का यह विकास यूरोप एक लंबे अर्से तक धर्मान्धता के प्रवाह में बहते रहने से रोक नहीं सका।

अभ्यास के प्रश्न

१—पुनर्जागृति-युग (Renaissance) के कारणों का उल्लेख कीजिए। उसके विकास में धर्म-युगों ने कहाँ तक सहायता पहुँचाई?

२—मानववाद (Humanism) का अर्थ समझाते हुए उसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

३—पुनर्जागृति-युग में कला, संगीत, साहित्य, दर्शन और विज्ञान की प्रगति का एक संक्षिप्त विवरण दीजिए।

विविध अध्ययन के लिए

1. Symonds, J. A. : The Renaissance in Italy.
2. Lucas, H. S : The Renaissance and the Reformation.
3 Barnes : The History of Western Civilization.

अध्याय २

धार्मिक सुधार के आन्दोलन

पुनर्जागृति के युग में जिज्ञासा और आलोचना की जिस प्रवृत्ति का जन्म हुआ, उसका प्रभाव धर्म के क्षेत्र में पड़ना अनिवार्य था। पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार की प्रवृत्तियों में बहुत अधिक
सादृश्य रहा हो, यह बात नहीं थी। पुनर्जागरण ने पुनर्जागृति-युग और मानववाद का समर्थन किया था। मानववाद ने प्राचीन धार्मिक सुधार के साहित्य और संस्कृति के अध्ययन पर जोर दिया था आन्दोलन
जिसके परिणाम-स्वरूप तर्क और विज्ञान के दृष्टिकोणों
को प्रमुखता मिली। धार्मिक सुधारों के आन्दोलन में व्यक्तिवाद की भावना पर जोर तो दिया गया था; पर इस व्यक्तिवाद का आधार श्रद्धा पर था, तर्क पर नहीं और इस कारण कई बार वह श्रद्धा अन्धविश्वास का रूप भी ले लेती थी। आग्रह उसके पीछे इतना अधिक रहता था कि वह दुराग्रह बन जाता था और असहिष्णुता की सृष्टि करता था। यह पुनर्जागरण की मूल भावना के प्रतिकूल था, जिसका आधार सहानुभूति की व्यापकता में था। पुनर्जागृति-युग और धार्मिक सुधारों के आन्दोलन मे इस मूलभूत अन्तर को समझते हुए हमारे लिए यह जान लेना भी आवश्यक है कि यदि पुनर्जागृति-युग ने एक तर्कशील प्रवृत्ति को जन्म न दे दिया होता, तो धार्मिक रूढ़ियों के विरुद्ध वह विद्रोह संगठित नहीं किया जा सकता था, जिसने धार्मिक सुधार के आन्दोलन को जन्म दिया। इस प्रकार इन दोनों आन्दोलनों का एक दूसरे से बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। जैसा एक लेखक ने लिखा है, पुनर्जागृति-काल ने उस 'आक्सीजन' की सृष्टि की जिसकी अनुपस्थिति में धार्मिक सुधारों की ज्योति इतनी तीव्रता के साथ कदापि जल ही नहीं पाती।

धार्मिक सुधारों के आन्दोलन को पुनर्जागृति के तर्कशील दृष्टिकोण से जहाँ प्रेरणा मिली, वहाँ हमें यह भी मानना पड़ेगा कि

उसके लिए मध्ययुगीन रोमन कैथोलिक धर्म में बहुत काफी कारण मौजूद थे। मध्ययुग में रोमन कैथोलिक चर्च के रूप में संगठित ईसाई धर्म का प्रभाव बहुत अधिक बढ़ गया था। चर्च के पास बहुत अधिक भूमि और संपत्ति तो थी ही, कई प्रकार के कर और चुंगी आदि लगाने का भी उसे अधिकार था। इसके अतिरिक्त उसके राजनीतिक अधिकार भी बहुत विस्तृत थे। इटली के एक बड़े भूभाग पर पोप का शासन था। समस्त यूरोप के शासकों का राज्याभिषेक पोप के हाथों से ही कराया जाता था। विभिन्न देशोंके आन्तरिक शासन में हस्तक्षेप करने का भी पोप को एक बड़ी सीमा तक अधिकार था। धन-वैभव और शक्ति के बढ़ते जाने के साथ ही पोप और पादरियों के जीवन में ऐश्वर्य और विलासिता भी बढ़ते जा रहे थे, और इसके कारण उन्हे श्रद्धालु व्यक्तियों से और भी अधिक धन प्राप्त करना अनिवार्य दिखाई देता था। धन प्राप्त करने के लिए नए-नए उपाय निकाले जाते थे। इनमें से कई बड़े आपत्तिजनक थे। इसके अतिरिक्त जिन वर्गों पर बढ़े हुए करों का बोझ पड़ता था, उनके मन मे असन्तोष की भावना का विकसित होना स्वाभाविक था। व्यापारियों के लिए तो यह और भी असह्नीय था कि दूर देशों में जाकर और जोखिम उठाकर वे जो लाभ प्राप्त करते थे, उसका एक बड़ा भाग चर्च उनसे ले लेती थी। दूसरी ओर, नवीन राजनीतिक विचार-धाराओं के आधार पर संगठित होनेवाले शासन भी चर्च और उसके अधिकारियों के राजनीतिक जीवन पर बढ़ते हुए अतिक्रमण को बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थे। असन्तोष और आलोचना के इस वातावरण में, जिसका प्रभाव जनसाधारण, व्यापारी और राजनीतिक अधिकारियों सभी पर था, पोप और पादरियों का आलसी अकर्मण्य और अनैतिक जीवन और भी अखरता था। यह संभव है कि धार्मिक क्षेत्रों में व्यभिचार और अनाचार इतना अधिक नहीं था जितना बताया जाता है; परंतु आलोचना की प्रवृत्ति समाज में अब इतनी व्याप्त हो गई थी कि उस ऊँचे नैतिक जीवन से, जिस पर चलने की पादरियों से आशा की जाती थी, हल्के से स्खलन को भी सहने के लिए सर्वसाधारण तैयार नहीं थे।

आन्दोलन के मुख्य कारण

धार्मिक अधिकारियों का अज्ञान भी सर्वसाधारण के उपहास और व्यंग्य का लक्ष्य बन गया था। इस अज्ञान में विशेष रूप से कोई वृद्धि

नहीं हुई थी; समय के साथ संभवतः उसमें कमी ही आई हो। मध्य-युग में अधिकांश पादरी कृषक वर्ग के थे और शिक्षा की दृष्टि से काफी पिछड़े हुए थे। पुनर्जागृति-युग मे स्थिति उतनी बुरी न थी; परंतु जो एक बौद्धिक चेतना चारों ओर फैलती जा रही थी, उसकी तुलना में इन लोगों का अज्ञान सचमुच एक कुतूहल की वस्तु था। सत्रहवीं शताब्दी के साहित्य में हमें स्थान स्थान पर इन

धार्मिक अधिकारियों का अनैतिक जीवन

धार्मिक नेताओं पर व्यंगात्मक टिप्पणियाँ पढ़ने को मिलती हैं। पादरियों की ऊपरी पवित्रता भी मानववादी आलोचकों की तुलना में एक ढकोसला ही थी। धीरे धीरे पोप की प्रतिष्ठा का राजनीतिक आधार भी मिटने लगा था। कुछ समय तक पोप को फ्रांस के सम्राट् के आश्रय में रहना पड़ा और उसके बाद ही चर्च का विभाजन हो गया, जिसके परिणामस्वरूप दो व्यक्तियों ने एक साथ ही पोप होने का दावा किया। चर्च के इस आन्तरिक विग्रह के पीछे फ्रांस और इटली की राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता मुख्य कारण थी, और चर्च के अनुयायियों ने जब देखा कि एक पोप फ्रांस के सम्राट् के आधीन है और दूसरा इटली के राज्याधिकारियों के, तो क्राइस्ट के प्रतिनिधित्व का दावा करनेवाले इस धार्मिक अधिकारी में जनसाधारण का विश्वास शिथिल पड़ जाना स्वाभाविक ही था।

चर्च की आलोचना पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में ही की जाने लगी थी और कुछ लेखकों ने तो और भी पहले से इस प्रकार की आलोचना करना आरंभ कर दिया था। इस दृष्टि से

धार्मिक सुधार के प्रारंभिक प्रयत्न

इटली में सैवोनेरोला (Savonarola 1452-1498) और इंग्लैण्ड में विक्लिफ (John Wycliffe 1330-1384) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सैवोनेरोला को जीवित ही जला दिया गया और विक्लिफ के शरीर को उसकी मृत्यु के बाद कब्र मे से निकालकर अपमानित किया गया। बोहिमिया के हस (John Huss, 1369-1415) को भी अपनी आलोचनाओं के पुरस्कार में जीवित जलाए जाने की सजा मिली। सोलहवी शताब्दी में इंग्लैण्ड में एरेस्मस (Erasmus, 1466-1536) ने चर्च की प्रखर आलोचना की, परंतु एरेस्मस का मार्ग खुले विद्रोह का मार्ग नहीं

था। असहिष्णुता और संघर्ष से उसे अरुचि थी। एरेस्मस कीरचनाओं में चर्च की बुराइयों के प्रति एक तीखा व्यंग है; परंतु विरोधी के प्रति भी सभ्य और शालीनतापूर्ण व्यवहार का वह इतना बड़ा समर्थक था कि इससे अधिक की उससे अपेक्षा नहीं की जा सकती थी। परंतु इन आलोचनाओं के बावजूद भी, चर्च की बुराइयाँ बढ़ती ही गईं। पोप की गद्दी पर बैठने वालों ने नैतिक अधःपतन को मानो अपने जीवन का लक्ष्य ही बना लिया था। धार्मिक जीवन से उनका संपर्क कम होता गया। चर्च को उन्होंने मौज की जिन्दगी बिताने के लिए अधिक से अधिक धन कमाने का एक साधन बना लिया और इस प्रकार उनकी प्रतिष्ठा लगातार गिरती चली गई।

मार्टिन लूथर (Martin Luther 1483-1546) ने चर्च के खिलाफ खुले विद्रोह का झंडा ऊँचा किया। वह एक मध्य श्रेणी का व्यक्ति था जिसे उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला था। जीवन में वह बहुत कुछ बन सकता था, परंतु आरंभ से ही उसकी धार्मिक प्रवृत्तियाँ प्रगाढ़ होती चली गईं। उसने अपने लिए पादरी का जीवन चुना और धार्मिक पुस्तकों के गहरे अध्ययन में अपना बहुत सा समय लगाया। धीरे धीरे उसके मन में ऐसे विचार बनते जा रहे थे जिन्होंने उसकी धर्म-विह्वल आत्मा को वर्त्तमान धर्म-व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह का शंखनाद करने पर विवश किया। उसने बाइबिल में पढ़ा था कि क्राइस्ट ने मनुष्य-मात्र को यह आदेश दिया है कि वह अपने को ईश्वर जैसा पूर्ण बनाए, परंतु मार्टिन लूथर को यह असंभव दिखाई देता था, क्योंकि उसका यह गहरा विश्वास हो गया था कि मनुष्य का नैतिक अधःपतन इतना अधिक हो चुका है कि अपने प्रयत्न से पूर्णत्व की प्राप्ति उसके लिए अब सभव नहीं रह गई है। लूथर का यह विश्वास दिन प्रतिदिन दृढ़ होता गया कि केवल अच्छे कामों से मनुष्य की मुक्ति संभव नहीं है। उसकी मुक्ति का तो केवल एक ही मार्ग है, और वह है श्रद्धा का मार्ग। केवल श्रद्धा से ही मनुष्य को मुक्ति प्राप्त हो सकती है, धर्म-शास्त्र के आध्यापक होने के नाते लूथर ने अपने विश्वविद्यालय में इस प्रकार के सिद्धान्तों का प्रतिपादन भी आरंभ कर दिया। इसी बीच लूथर ने देखा कि चर्च की ओर से अच्छे कामों के बदले में रुपया देकर मुक्ति

मार्टिन लूथर और उसके धार्मिक विचार

पत्र प्राप्त किए जाने की व्यवस्था है। लूथर ने इस व्यवस्था का कड़ा विरोध किया। यह पोप के अधिकारों और रोमन कैथोलिक चर्च के एक मूल सिद्धान्त पर प्रहार था। लूथर के सामने जब यह सीधा प्रश्न रखा गया कि ईसाई धर्म के किसी भी सिद्धान्त के संबंध में अन्तिम निर्णय देने का अधिकार क्या केवल पोप को ही नहीं है, तो उसे स्पष्ट शब्दों में कहना पड़ा कि इस दृष्टिकोण से वह सहमत नहीं है। लूथर का कहना था कि बाइबिल के आधार पर बनाए जानेवाले व्यक्तिगत विश्वासों का महत्त्व पोप के निर्णय से कहीं अधिक है। यह एक क्रान्तिकारी सिद्धान्त था। इसके बाद रोमन कैथोलिक चर्च के सिद्धान्तों और अंधविश्वासों के विरुद्ध लूथर का प्रचार बढ़ता ही गया। हस और सेवोनेरोला के समान लूथर को जलाया नहीं जा सका, इसका कारण यह था कि परिस्थितियाँ अब बदल गई थीं। पोप और पादरियों के प्रति जनसाधारण की आस्था कम हो गई थी। इसके अतिरिक्त जर्मनी छोटे छोटे राज्यों में बँटा हुआ था और उनमें से बहुत से राज्य, अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए, लूथर को पूरा सहयोग देने के लिए तैयार थे। इसका परिणाम यह हुआ कि लूथर का प्रभाव बढ़ता ही गया।

धार्मिक सुधार के इस आन्दोलन का यह स्वभाव ही था कि वह एक से अधिक विरोधी मतों की सृष्टि करे। जब व्यक्ति के इस अधिकार को मान लिया गया कि वह धर्म के संबंध में अपने अन्तः-करण की आवाज के आधार पर अपने निर्णय बना सके

धार्मिक एकता का अंत

तो यह स्वाभाविक था कि प्रत्येक सुधारक अपने ढंग से उन सिद्धान्तों की व्याख्या करता। स्विजरलैण्ड में ज्विंग्ली (Zwingli, 1184-1531) ने अपना नया मत निकाला। ज्विंग्ली धर्म और राजनीति में बहुत निकट का संबंध मानता था। लूथर के कई धार्मिक विश्वासों से उसका गहरा मतभेद था। ज्विंग्ली की मृत्यु के बाद कैल्विन (John Calvin, 1509-1561) ने उसके सिद्धान्तों को कुछ बदलकर अपना एक अलग ही मत निकाल लिया। कैल्विन एक बड़ा विद्वान् था, पर अपने विचारों के संबंध में बहुत ही अधिक दुराग्रही और असहिष्णु। उसके सिद्धान्तों का प्रचार फ्रांस, हॉलैण्ड, जर्मनी, हंगरी, पोलैण्ड, स्कॉटलैण्ड और इंग्लैण्ड में अधिक हुआ। भिन्न भिन्न देशों में उसके सिद्धान्तों ने अलग अलग रूप लिया। इंग्लैण्ड

में एंग्लीकन चर्च (Anglican Church) की स्थापना हुई। वह कई दृष्टियों से लूथर और कैल्विन के ही सिद्धान्तों का एक अधिक कट्टर और विकासवादी रूप था। राष्ट्रीयता की भावना पर उसका आधार था। उसके समर्थक धीरे धीरे पोप के आधिपत्य से मुक्त होते चले गए। इनके अतिरिक्त धार्मिक सुधार के और भी बहुत से आन्दोलन चल निकले। इन सबके मतों और विश्वासों का थोड़ा बहुत अन्तर था, सभी में अपने मतों और विश्वासों के लिए इतना अधिक दुराग्रह था कि इनके प्रतिपादन के लिए हिंसा और प्रतिशोध के मार्ग पर चलने में भी उन्हें संकोच नहीं था।

दूसरी ओर, धार्मिक सुधार के आन्दोलन को निःशक्त करने के लिए स्वयं रोमन कैथोलिक चर्च में आन्तरिक सुधार का एक आन्दोलन (Counter Reformation) प्रारंभ हो गया।

आन्तरिक सुधार के प्रयत्न

रोमन कैथोलिक चर्च के सिद्धान्तों में प्रगाढ़ विश्वास रखनेवाले बहुत से व्यक्ति स्वयं यह अनुभव कर रहे थे कि उसमें सुधार की आवश्यकता है। प्रसिद्ध कलाकार माइकेल एन्जेलो दृढ़ कैथोलिक विचारों का था; पर उसने इस आवश्यकता का अनुभव किया था। इसी प्रकार के और भी अनेकों व्यक्ति थे। सोलहवीं शताब्दी के अन्त तक धार्मिक क्रान्ति का वेग कुछ धीमा पड़ने लगा था। तब इस प्रकार के आन्तरिक सुधार के प्रयत्नों को उचित वातावरण मिला। कई संगठन इस काम में लगे हुए थे। इनमें से जेसूट संगठन (Jesuits), जिसकी स्थापना इगनेशियस लोयला (Ignatius de Loyala, 1491-1556), ने की थी, सबसे महत्त्वपूर्ण था। अपने प्रारंभिक जीवन मे वह एक सैनिक था। संभवतः इसी कारण उसने अपने संगठन की व्यवस्था सैनिक ढंग पर की। अपने धार्मिक विचारों के प्रचार के लिए इन लोगों ने शिक्षा-संस्थाएँ खोलीं। इस संगठन के सदस्यों की संख्या कम थी, पर चरित्र की दृष्टि से वे बहुत ऊँचे लोग थे। अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और अनुशासन में उन्हे दीक्षा लेनी पड़ती थी। यूरोप की जनता को रोमन कैथोलिक चर्च के विश्वासों में लौटा लाने और दृढ़ बनाने का बहुत बड़ा श्रेय इस संगठन को प्राप्त है। इन्होंने न केवल यूरोप में, वलिक अमरीका और एशिया के दूर-दूर के देशों में अपने धर्म का प्रचार किया था। आन्तरिक सुधार के लक्ष्य को

लेकर इसी प्रकार के कुछ और संगठन भी बने; पर सबसे अधिक सफलता जेसूट संगठन को ही मिली। आन्तरिक सुधारों के इस आन्दोलन ने कैथोलिक चर्च की बहुत सी बुराइयों को दूर किया। इसमें संदेह नहीं कि यह प्रयत्न यदि कुछ पहले आरंभ कर दिया गया होता तो धार्मिक क्रान्ति के आन्दोलन इतने सफल न हो पाते। आन्तरिक सुधार के इस आन्दोलन ने क्रान्ति की प्रगति को रोक दिया। यह आन्दोलन धीरे धीरे बढ़ता चला। १५४५ से १५६० तक ट्रैण्ट नाम के स्थान पर कैथोलिक धर्माधिकारियों की एक बैठक (Council of Trent) हुई, जिसमें सुधारों के संबंध में महत्त्वपूर्ण निर्णय किए गए। स्वयं पोप ने सुधारों में क्रियात्मक भाग लिया। उन्होंने योग्य और चरित्रवान् पादरियों को ही नियुक्त करना आरंभ किया, जिन्होंने अपने अनुयायियों के धार्मिक जीवन में नई शक्ति और स्फूर्ति के विकास में सफलता प्राप्त की। इसके परिणामस्वरूप कैथोलिक धर्म के नेताओं और अनुयायियों दोनों के ही जीवन का नैतिक स्तर ऊँचा उठा।

धार्मिक मतभेदों का युग

सोलहवीं शताब्दी के अंत तक यूरोप, इस प्रकार नए और पुराने अनेकों धार्मिक पंथों में बँट गया था। यूरोप के दक्षिणी भागों, इटली स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस आदि, दक्षिणी नैदरलैण्ड्स, दक्षिणी जर्मनी, दक्षिणी आयर्लैंड, पोलैण्ड आदि में कैथोलिक धर्म मे दृढ़ विश्वास प्रकट किया जा रहा था; परंतु उत्तरी यूरोप का अधिक भाग, जर्मनी के उत्तरी राज्य, उत्तरी नैदरलैण्ड्स, नॉर्वे और स्वेडन, स्कॉटलैण्ड, उत्तरी आयर्लैण्ड और इंग्लैण्ड में किसी न किसी प्रकार के प्रोटेस्टैण्ट मत को मान लिया गया था। रोमन कैथोलिक धर्म में इगनेशियस लॉयला और जेसूट संगठन व ट्रैण्ट की कौंसिल के निश्चयों आदि से आन्तरिक सुधार की एक प्रवृत्ति अपने पूरे वेग पर थी। परंतु इसका यह अर्थ नहीं था कि उसमे आन्तरिक विग्रह की प्रवृत्ति कुछ रुक गई थी। रोमन कैथोलिक चर्च में ही धार्मिक विश्वासों को लेकर अनेकों मतभेद थे। कोई भाग्यवाद मे विश्वास रखता था, तो कोई इच्छा-स्वातंत्र्य में। चर्च और राज्य में भी आपसी मतभेद बढ़ते जा रहे थे। राज्यों के स्वेच्छाचारी शासक धर्म पर भी वैसा ही नियंत्रण स्थापित कर लेना चाहते थे, जैसा जीवन के अन्य क्षेत्रों पर। कई देशों के चर्च ने अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के

लिए त्याग और कष्ट-सहन के मार्ग को चुना। उसी प्रकार से, बल्कि उससे भी अधिक, मतभेद प्रोटेस्टैण्ट चर्च मे पाये जाते थे। जब बाइबिल को एकमात्र सत्य मान लिया गया था और प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार दे दिया गया था कि उसकी शिक्षाओं को वह जैसा समझे, अपने जीवन मे उतारने का प्रयत्न करे, तो यह स्वाभाविक था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से उसकी व्याख्या करे। लूथर ने एक दृष्टिकोण लिया, कैल्विन ने दूसरा। इंग्लैण्ड में एक बीच के रास्ते पर चलने का प्रयत्न किया गया। लूथर कैल्विन और एंगलीकन चर्च के अनुयायी, प्रोटेस्टैण्ट धर्म को तीन विभिन्न दिशाओं में खींचते हुए दिखाई दिए। कोई श्रद्धा को अधिक महत्त्व देता था, कोई भाग्यवाद को। चर्च के सगठन के संबंध में भी उनके अलग अलग विचार थे। इनके अतिरिक्त मैथोडिज्म (Methodism), बैपटिज्म (Baptism) और काग्रिगेशनलिज्म (Congregationlism) आदि और भी बहुत से मत-मतान्तरों की सृष्टि हुई। किसी का आग्रह भावना और विश्वास पर था, किसी का कर्मकाण्ड पर और किसी का पारस्परिक सहयोग पर।

असहिष्णुता का प्रसार

इन परिस्थितियों में धार्मिक कट्टरता और असहिष्णुता की भावना का प्रसार स्वाभाविक ही था। प्रत्येक छोटे-बड़े मत-मतान्तर को अपने सिद्धान्तों की सचाई में दृढ़ विश्वास था, और वह दूर दूर तक उनका प्रचार करना चाहता था। साथ ही अन्य धार्मिक विश्वासों को वह गलत भी समझता था और उन्हे नष्ट कर देने को एक धार्मिक कृत्य की दृष्टि से देखता था। धार्मिक मतभेदों की इन उलझनों को आर्थिक और राजनीतिक कारणों ने और भी बढ़ाया। शासकों के लिए धर्म राजनीतिक शक्ति के केन्द्रीकरण का एक साधन था। पोप, उसकी आड़ में, अपने प्रभावक्षेत्र को बढ़ाने के लिए उत्सुक था। मतभेद को दमन और अत्याचार के द्वारा ही मिटाया जा सकता है, इस संबंध मे सब एकमत जान पड़ते थे। धर्म के नाम पर असहिष्णुता के प्रदर्शन इतिहास मे पहले भी हुए हैं; परंतु सोलहवीं और सत्रहवी शताब्दियों के यूरोप की बर्बरता की तुलना में वे ठहर नहीं पाते। इंग्लैण्ड में एक कैथोलिक शासक के राज्य में सैकड़ों प्रोटेस्टैण्ड मतावलंबियों को जिन्दा जला दिया गया, जिनके खून ने प्रोटेस्टैण्ट धर्म की जड़ों को मजबूत बनाया; परंतु

प्रोटेस्टैंयट शासकों के राज्य में कैथोलिक और अन्य धर्म के लोगों पर अत्याचार किए गए। क्रॉमवेल ने हजारों आइरिश कैथोलिकों को मौत की सजा दी। कैथोलिकों पर अत्याचार की यह प्रवृत्ति दूर अमरीका तक भी पहुँची और अन्य अंग्रेजी उपनिवेशों में उनके साथ बदसलूकी के बहुत से उदाहरण हमें इतिहास में मिलते हैं। कैल्विन ने सर्विटस को धार्मिक मतभेद के कारण जिन्दा जलवा दिया। सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक धार्मिक असहिष्णुता और अत्याचारों की घटनाएँ समय समय पर होती रहीं।

परंतु अंत में मानवता ने धार्मिक वर्बरता पर विजय प्राप्त की। समझदार लोगों ने देखा कि धर्म के नाम पर लड़ने से कोई लाभ नहीं है। कुछ लोग ऐसे भी सामने आए जिन्होंने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि उस ईसामसीह के अनुयायी, जो प्रेम और अहिंसा का प्रतीक था और प्रतिशोध की भावना जिसका स्पर्श
तक भी न कर सकी, उसके सिद्धान्तों के नाम पर; सहिष्णुता की
कैसे एक दूसरे का गला काटने के लिए तत्पर हो भावना का विकास
सके। मतभेदों को दूर करने का प्रयत्न भी किया
गया। शासकों ने इस बात को अनुभव किया कि विभिन्न धर्मों के माननेवाले भी राष्ट्रीय एकता के सूत्र में बाँधे जा सकते हैं, और इस कारण उन्होंने एक ही धर्म को प्रश्रय देने की अपनी नीति को बदला। उधर खोज, आविष्कार और वैज्ञानिक प्रगति ने धार्मिक विश्वासों को एक चुनौती दी। शताब्दियों से सत्य मानी जानेवाली धारणाएँ खंडित होती हुई दिखाई दीं, और कुछ समय के लिए धर्म के ठेकेदारों ने इस नए आक्रमण के विरुद्ध अपने आपको संगठित करने का प्रयत्न किया। परंतु धीमे, पर निश्चित रूप से, विज्ञान की विजय हुई, और मनुष्य ने वस्तु-जगत् और अन्तर्जगत् दोनों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखना आरंभ किया। धर्म में जिनका गहरा विश्वास था, उन्होंने धर्म के आचरण पर अधिक जोर देना आरंभ किया। हृदय की उदात्त वृत्तियों, दया, क्षमा, मानव-मात्र के प्रति करुणा और सहानुभूति, प्रेम और त्याग पर अब अधिक आग्रह दिखाई दिया। जो लोग भिन्न विचारों और विश्वासों में डूबे हुए हैं, उनके प्रति भी सहानुभूति और सहिष्णुता का व्यवहार होना चाहिए, धार्मिक व्यक्ति भी अब इस सिद्धान्त को मानने लगे थे।

धर्म और विज्ञान के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न भी किया गया। बहुत से लोगों ने बाइबिल और धर्म-ग्रन्थों को ही वैज्ञानिक आलोचना की कसौटी पर कसना चाहा। पर जहाँ तक जनसाधारण का प्रश्न था, धर्म के संबंध में उनमें एक उदासीनता की भावना का विकास हुआ। जिस वस्तु में आस्था ही शिथिल पड़ गई हो, उनके लिए मारकाट के लिए कौन तैयार होगा? धार्मिक विश्वासों का स्थान धीरे धीरे वैज्ञानिक दृष्टिकोण ले रहा था। केवल धर्म के संबंध में ही नहीं, जीवन के सभी क्षेत्रों में अपनी स्वतंत्रता के प्रति आग्रह और दूसरों की स्वतंत्रता के प्रति सहिष्णुता की यह भावना लगातार बढ़ती गई।

अभ्यास के प्रश्न

१—पुनर्जागृति-युग (Renaissance) और धार्मिक सुधार के आन्दोलन (Reformation) में संबंध स्थापित कीजिए।

२—धार्मिक सुधार आन्दोलन (Reformation) के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालिए।

३—धार्मिक सुधार के आरंभिक प्रयत्नों का संक्षिप्त इतिहास देते हुए उनकी असफलता के कारण बताइए।

४—मार्टिन लूथर और उनके धार्मिक विश्वासों के संबंध में आप क्या जानते हैं? धार्मिक सुधारों के आन्दोलन में मार्टिन लूथर का स्थान निर्धारित कीजिए।

५—यूरोप में धार्मिक विघटन के क्या कारण थे? असहिष्णुता के प्रसार के लिए यह धार्मिक विघटन कहाँ तक उत्तरदायी था?

६—कैथोलिक चर्च में आन्तरिक सुधारों के प्रयत्न (Counter-Reformation) का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

७—धार्मिक मतभेदों ने जिस असहिष्णुता की भावना का प्रसार किया था, उसका अंत कैसे हुआ? सहिष्णुता की भावना के विकास के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Lucas, H. S. : The Renaissance and the Reformation
2. Smith, P. : Age of the Reformation.
3. Polter : The Story of Religion.

अध्याय ३

खोज, आविष्कार और वैज्ञानिक प्रगति

ख़ोज और आविष्कार की कहानी

मनुष्य के मानसिक विकास के साथ ही खोज और आविष्कार की कहानी भी जुड़ी हुई है। मध्य-युग में यूरोप के लोग यूरोप के बाहर की दुनिया से सर्वथा अपरिचित थे, और बहुत कम लोग यूरोप के भूगोल के संबंध में भी कोई स्पष्ट जानकारी रखते थे। उत्तरी अफ्रीका के मिस्र आदि देशों और हिन्दुस्तान और चीन के संबंध में उन्होंने कुछ सुन अवश्य रखा था; पर वह बहुत ही अस्पष्ट था। यह देखकर आश्चर्य होता है कि नए युग के आविर्भाव के साथ ही बहुत थोड़े से समय में यूरोप के लोगों ने न केवल अफ्रीका के संबंध में काफी जानकारी प्राप्त कर ली, एशिया के साथ सीधे व्यापार के संबंध भी स्थापित किए और अमरीका के तो दो बड़े महाद्वीपों को ,नए सिरे से ही खोज निकाला और उनमें तेजी के साथ अपनी सभ्यता को फैलाना आरंभ किया। अफ्रीका और एशिया के देशों से भी उनके सम्पर्क निरन्तर बढ़ते गए और यद्यपि यूरोप की सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव इन देशों पर अधिक नहीं पड़ा—और इसका मुख्य कारण संभवतः यह था कि इन देशों की अपनी सभ्यता और संस्कृति तत्कालीन यूरोप की तुलना में कहीं आगे बढ़ी हुई थी—आर्थिक दृष्टि से यूरोप का आधिपत्य उन पर बढ़ता गया। धीरे धीरे यूरोप का साम्राज्यवाद इन देशों में स्थापित हुआ जिससे यूरोप के देशों के द्वारा उनका आर्थिक शोषण अधिक सरल हो गया। इसमें दीर्घकालीन परिणाम बड़े भयंकर निकले। परन्तु कुछ शताब्दियों तक यूरोप की आर्थिक समृद्धि और उसके सांस्कृतिक विकास का मुख्य कारण दूर देशों पर उसका राजनीतिक प्रभाव ही था।

इस साहसपूर्ण काम में पुर्त्तगाल का छोटा-सा देश सबसे आगे था। उसके साहसी नाविकों ने अफ्रीका के उत्तरी किनारे से अपनी खोज का

काम आरंभ किया। राजा हेनरी (Prince Henry, d. 1460) ने भूगोल के संबंध में बहुत सी जानकारी इकट्ठा की और नक्शों का अध्ययन किया। कुछ ही समय में पुर्त्तगाल का व्यापार अफ्रीका के पश्चिमी प्रदेशों में बहुत काफी बढ़ गया। इस देश के लोग अफ्रीका में लगातार आगे बढ़ते रहे और अन्त में उन्होंने उसके दक्षिणतम छोर, आशा अन्तरीप तक पहुँचने और उसकी परिक्रमा करने में सफलता प्राप्त की। वास्को डि गामा (Vasco de Gama, d. 1524) ने अफ्रीका के पूर्वी किनारे के नजदीक चलते चलते अरब सागर को पार किया और भारतवर्ष तक की यात्रा की। उसके बाद तो पुर्त्तगाल से भारतवर्ष आनेवाले जहाजों का ताँता-सा लग गया। पुर्त्तगाल-वालों ने रास्ते के महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अधिकार कर लिया। इस साम्राज्य-विस्तार में अल्बुकर्क (Alfonso de Albuquerque, d. 1515) का प्रमुख हाथ था। उसे भारतवर्ष का वायसराय नियुक्त किया गया। इसके परिणामस्वरूप पुर्त्तगाल का व्यापार बहुत बढ़ गया और पिछली शताब्दियों में वेनिस का जो स्थान था, वह अब लिस्बन ने ले लिया।

पुर्त्तगाल के साहस-पूर्ण प्रयत्न

पुर्त्तगालियों ने जिस काम को आरंभ किया था, स्पेनवालों ने उसे और आगे बढ़ाया। कोलम्बस को तीन जहाज और नब्बे आदमियों की सहायता से भारतवर्ष तक पहुँचने के लिए एक नया मार्ग खोज निकालने का काम सौंपा गया। अमरीका महाद्वीप और प्रशान्त महासागर के अस्तित्त्व का तब तक यूरोप के निवासियों को पता तक न था। कोलम्बस का यह अनुमान था कि वह यदि लगातार पश्चिम की ओर चलता रहा तो हिन्दुस्तान पहुँच जायेगा। पश्चिमी द्वीप-समूह का जब उसने स्पर्श किया, तब उसका यह अनुमान था कि वह कहीं जापान के आसपास है। उसने अपनी यात्राओं में अमरीका के नजदीक के बहुत से द्वीपों और महाद्वीप के कई भागों का आविष्कार किया। भारतवर्ष तो वह नहीं पहुँच सका; परन्तु अमरीका की खोज उसने अवश्य कर डाली। यह निःसंदेह संसार के इतिहास की एक बहुत बड़ी घटना थी। अमरीका के उस पार एक दूसरा महासागर है, इसका पता कोलम्बस के बाद

स्पेन द्वारा अमरीका की खोज

अमरीका पहुँचनेवाले लोगों ने लगाया। मैगेलन (Fernands Magallen, d. 1521) संसार का पहला व्यक्ति था, जिसने प्रशान्त महासागर को पार कर एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों का चक्कर लगाते हुए पूरे संसार की परिक्रमा कर डाली। पुर्त्तगाल और स्पेन की देखादेखी दूसरे देशों ने भी खोज के इन कामों मे भाग लेना आरंभ किया। इंग्लेण्ड की ओर से कैवट (John Cabot. d. 1508) को भेजा गया। अंग्रेजों ने उत्तरी अमरीका के पूर्वी तट में अधिक दिलचस्पी ली। फ्रांस की ओर से भी वहुत काफी लोग उत्तरी अमरीका जाने लगे। कई स्थानों में स्पेन, इंग्लैण्ड और फ्रांस के लोगों में प्रतिस्पर्धा की भावना का विकास भी हुआ।

इन खोजों के परिणामस्वरूप कुछ बड़ी आश्चर्यजनक वातों का पता लगा। अमरीका के आदिम-निवासी आरंभ से वहीं रहते थे अथवा एशिया महाद्वीप से जाकर वहाँ वसे, यदि वे मूलरूप से एशिया के रहने-वाले थे तो कब और किस रास्ते से वे इस महाद्वीप में जा पहुँचे, इत्यादि वहुत से ऐसे प्रश्न हैं जिनके संबंध में इतिहासकार किसी
निश्चित मत पर नहीं पहुँच सके हैं। पर एशिया अमरीका की प्राचीन की सभ्यता से उनका सादृश्य अवश्य आश्चर्य में सभ्यताओं की खोज डालनेवाला है। यह वात नहीं कि अमरीका के सभी
लोगों ने एक ही प्रकार की सभ्यता का विकास किया था, अमरीका की विशालता और जलवायु और भूगोल संबंधी विभिन्नताओं के कारण यह संभव भी नहीं था। इस नए महाद्वीप के अधिकांश निवासी शिकारियों का जीवन व्यतीत करते थे। देश के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के जानवरों का शिकार किया जाता था। वहुत से प्रदेशों मे जहाँ शिकार की अधिक सुविधा नहीं थी और जहाँ मछलियाँ भी वहुत कम पाई जाती थीं, लोग जड़ों और जंगली फलों आदि पर निर्वाह करते थे। कुछ भागों में जहाँ जमीन उपजाऊ थी और पानी की सुविधा थी, खेती-बाड़ी का विकास भी हो गया था। मक्का और कुछ अन्य धानों की फसले पैदा की जाती थीं। सभी प्रदेशों में लोग गाँवों में रहते थे। ये गाँव अक्सर नदियों के किनारे पर होते थे। कई स्थानों पर नगरों का विकास भी हुआ था। पशुओं को वोझा ढोने के लिए काम में लाया जाता था और उनके वालों का उपयोग कपड़ा वनाने के लिए किया जाता था। गाय,

घोड़े, भेड़, बकरी, सुअर और बिल्ली आदि बिलकुल नहीं पाए जाते थे।

प्राचीन सभ्यताओं के इस महाद्वीप का आविष्कार अपने आपमें एक बहुत बड़ी घटना थी। भूगोल की जानकारी को तो उसने आगे बढ़ाया ही, नवोत्थित यूरोप की बढ़ती हुई शक्ति को अभिव्यक्ति और प्रसार का उसने बहुत अच्छा अवसर दिया। इन देशों में अपार धनराशि के होने की सूचना भी बहुत जल्दी यूरोप के देशों में फैल गई। साम्राज्य-विस्तार की भावना को उससे प्रेरणा मिली। तोप और बारूद को काम में लानेवाली यूरोप की सेनाओं के लिए इन जातियों पर विजय पाना कुछ कठिन नहीं था। स्पेन ने बहुत जल्दी मैक्सिको पर विजय प्राप्त कर ली और उसके बाद पेरू और चिली में अपने साम्राज्य को फैलाया। उसके साहसी विजेताओं ने सैकड़ों नए नगरों का विकास किया। इन नगरों में उन्होंने अपने शासन, धार्मिक संगठन और व्यापार को केन्द्रित किया, साथ ही उनके द्वारा स्पेन की भाषा, उसका साहित्य और उसकी संस्कृति देश में चारों ओर फैली। प्राचीन सभ्यताएँ धीरे-धीरे मिट चलीं और यूरोप की सभ्यता अमरीका पर छा गई। आदिम निवासियों का काम यूरोप के लोगों के लिए मजदूरी करने का रह गया। परन्तु अमरीका की खोज का सबसे बड़ा परिणाम यह निकला कि शताब्दियों में इकट्ठा किया गया ढेरों सोना और चाँदी तो यूरोप लाया ही जा सका, सोने और चाँदी की खानों में, स्पेन के निर्देशन में, तेजी से काम होने लगा और पहले की तुलना में कई गुना अधिक सोना और चाँदी उनमें तैयार किया जाने लगा। यूरोप मे इन बहुमूल्य धातुओं की कमी हो गई थी। इस कारण वस्तुओं के दाम बढ़ते जा रहे थे। इस आविष्कार से उसके आर्थिक जीवन में अब एक क्रान्तिकारी परिवर्त्तन आ गया। यूरोप के इतिहास में यह समृद्धि के एक महान् युग का आरंभ था। केवल नगरों का वैभव ही नहीं बढ़ा, गाँवों के जीवन पर भी उसका अच्छा प्रभाव पड़ा। किसानों को अब अनाज की बिक्री से अच्छे दाम मिल सकते थे। जागीरदारों की स्थिति पर अवश्य ही अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा। समाज में उनकी स्थिति गिरने लगी और उनका स्थान व्यापारियों ने लेना आरंभ किया। आर्थिक सहायता के

इस खोज के ऐतिहासिक परिणाम

लिए उन्हें कई बार व्यापारियों पर निर्भर रहना पड़ता था। इसका यह भी परिणाम निकला कि राजा अब सामन्तों की सहायता पर उतना निर्भर नहीं रहता था जितना व्यापारियों के सहयोग पर। व्यापारी चाहते थे कि देश का शासन मजबूत हो, इस कारण उन्होंने राज्य-शक्ति के केन्द्रीकरण का समर्थन किया। इस प्रकार, नए देशों की खोजों का परिणाम केवल मनुष्य के मानसिक विकास पर ही नहीं पड़ा, राजनीतिक संस्थाओं और विश्वासों में भी उसने एक क्रान्तिकारी परिवर्त्तन ला दिया।

× × ×

आधुनिक युग की वैज्ञानिक क्रान्ति

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता उसकी वैज्ञानिक क्रान्ति को माना जा सकता है। धर्म और जीवन-दर्शन, साहित्य और कला, सामाजिक और आर्थिक संस्थाएँ, सबको अब एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाने लगा। जीवन के संबंध में मनुष्य के दृष्टिकोण को तीन अवस्थाओं में बाँटा जा सकता है—अति प्राकृतिक (Supernatural), मानवी (human) और प्राकृतिक (natural)। मध्य-युग में अति-प्राकृतिक का ही अधिक महत्त्व था। पुनर्जागृति-युग के साथ मानववादी दृष्टिकोण का विकास हुआ। इस दृष्टिकोण में मनुष्य को जीवन के सभी मूल्यों का मापदण्ड माना गया था। परंतु उसके बाद प्रकृतिवाद का युग आया और प्रकृति को उसके अनेक रूपों में देखने और समझने का प्रयास किया गया। यह विज्ञान का युग कहलाता है। कई कारणों ने इस युग के विकास में सहायता पहुँचाई। नए-नए देशों की खोज और उद्योगों के विकास ने वैज्ञानिक को अपनी प्रतिभा के उपयोग का अभूतपूर्व अवसर दिया। सभी देशों में राजतंत्र के आधार पर सुदृढ़ शासन-व्यवस्थाएँ स्थापित हो जाने से भी वैज्ञानिक को निर्बाध गति से काम करने का अवसर मिला। पूँजीवाद के साथ समाज में जिस मध्य-वर्ग का विकास हो रहा था, उसकी सहायता से वैज्ञानिक अपनी प्रयोग-शालाएँ खोल सके और अपनी खोजों आदि के प्रकाशन के लिए उचित अवसर प्राप्त कर सके। मध्य-वर्ग की सहायता से लगभग प्रत्येक देश में ऐसी संस्थाओं का निर्माण हुआ जिन्होंने वैज्ञानिकों को अपने काम में बड़ी सहायता पहुँचाई। इंग्लैण्ड की रायल सोसायटी, आयर्लैण्ड

की डबलिन फिलॉसोफिकल सोसायटी, फ्रांस की फ्रेंच एकेडेमी, जर्मनी की बर्लिन एकेडेमी आदि संस्थाओं का इस संबंध में उल्लेख किया जा सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वैज्ञानिकों को अपने विचारों का प्रचार करने में कोई रुकावट नहीं थी। जनसाधारण, बहुत से शासकों और अधिकांश धर्माधिकारियों के विचार अब भी पुरातनवाद और अंधविश्वास की शृङ्खलाओं में जकड़े हुए थे और इस कारण अनेकों वैज्ञानिकों को सत्य की खोज में जीवन विताने का कभी कभी बहुत महँगा मूल्य भी देना पड़ जाता था। परंतु इन कठिनाइयों के होते हुए भी इस युग में विज्ञान के सभी क्षेत्रों का बहुत अधिक विकास हुआ।

भूगोल और ज्योतिष के संबंध में अब तक अरस्तू और टॉलेमी के विचार ही सच माने जा रहे थे। कोपरनिकस (Copernicus, 1473-1543) ने इस संबंध में कई क्रान्तिकारी खोजें की। वह पहला व्यक्ति था जिसने पुराने दार्शनिकों के इस सिद्धान्तों को चुनौती दी कि हमारी पृथ्वी ही ब्रह्माण्ड का केन्द्र है। उसने यह

भूगोल और ज्योतिप

प्रमाणित किया कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर नहीं, परंतु पृथ्वी सूर्य के चारों ओर घूमती है। यह बात पुराने दार्शनिकों के मत के प्रतिकूल ही नहीं थी, धर्म-ग्रंथों का भी इससे खंडन होता था। इसका परिणाम यह निकला कि धार्मिक नेताओं ने भी इस सिद्धान्त का कड़ा विरोध किया। वैज्ञानिक केवल आकाश और नक्षत्रों के संबंध में ही खोज नहीं कर रहे थे, शरीर-विज्ञान के संबंध में भी नई नई बातों का पता लगाया जा रहा था। इस काम का आरंभ तो प्रसिद्ध चित्रकार लियोनार्डो ड विंची ने किया जिसने मनुष्यों व घोड़ों आदि के यथार्थवादी चित्र बनाने की दृष्टि से उनकी शरीर-रचना का बड़ी बारीकी से अध्ययन किया। परंतु चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से वैसेलियस (Vesalius, 1514-1564) ने इस काम को बहुत आगे बढ़ाया। वह स्वयं अपने हाथ से चीड़फाड़ का काम करता था। अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर उसने इस क्षेत्र में प्रचलित अनेकों पुरानी धारणाओं को निराधार प्रमाणित किया और शरीर-रचना के संबंध में बहुत-सी महत्त्वपूर्ण बातों पर प्रकाश डाला। व्यावहारिक चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से पेरासेल्सस (Paracelsus, 1493-1541) का नाम उल्लेखनीय है। पेरासेल्सस

स्विजरलैण्ड का रहनेवाला था। उसने जगह-जगह घूम-घूमकर पौधों, वनस्पतियों, जड़ी-बूटियों और बीमारियों आदि के संबंध मे बहुत सी काम की सामग्री एकत्रित की। उसका विश्वास था कि कुछ थोड़ी सी दवाओं से बहुत सी बीमारियों का इलाज किया जा सकता है। पेरासेल्सस पहला चिकित्सा-शास्त्री था जिसकी चिकित्सा का आधार रसायन-शास्त्र पर था। उसने बहुत से दु:साध्य रोगों का इलाज किया जिससे चिकित्सक के नाते उसकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ी। परंतु नए विचारों का निर्भीक प्रचारक होने के कारण उसे विरोध, लांछन और अपमान का भी सामना करना पड़ा। शल्य-चिकित्सा में पारे (Pare, 1510-1590) का नाम लिया जा सकता है। शरीर के टूटे हुए अंगों को जोड़ने और जख्मों का इलाज करने में उसे विशेष सफलता मिली। फ्रैकस्टोरो (Fracastoro, 1483-1553) ने यह सिद्धान्त निकाला कि बीमारियाँ 'बीजों' के द्वारा फैलती है। सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र का तब तक आविष्कार नहीं हुआ था, परंतु बीमारियों के कीटाणुओं के आविष्कार की दिशा मे यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सुझाव था। सर्वेटस (Servetus) ने रक्त-प्रवाह के संबंध में खोजें कीं।

ज्योतिष-शास्त्र में तो बड़ी महत्त्वपूर्ण खोजे की जा रही थीं। दूर-दर्शक यंत्र के आविष्कार से पहले ही टाइको ब्राहे (Tycho Brahe, 1546-1601) ने नक्षत्र-मंडल के संबंध में बहुत सी नई बातों का पता लगाया। टाइको ब्राहे कोपरनिकस के बाद पहला ज्योतिष-शास्त्री था। डेनमार्क के राजा की सहायता से उसने अपने लिए एक प्रयोग-शाला बनाई। उसके इस काम को केपलर (Kepler, 1571-1630) नाम के एक जर्मन वैज्ञानिक ने आगे बढ़ाया। नक्षत्रों की गतिविधि के संबंध में कई महत्त्वपूर्ण नियम केपलर के नाम से संबद्ध है। कोपरनिकस और केपलर की खोजों को एक सफल परिणाम तक ले जाने का श्रेय इटली के गेलीलियो (Galileo, 1564-1642) को है। गेलीलियो ने इस बात पर बहुत अधिक जोर दिया कि वैज्ञानिक को धर्म-शास्त्रों अथवा परंपराओं पर निर्भर नहीं रहना चाहिए; परंतु प्रयोगों के आधार पर ही अपने परिणामों तक पहुँचना चाहिए। उसने प्रयोग के द्वारा इस बात को सिद्ध किया कि ऊपर से गिरती हुई वस्तु की गति का उसके वजन से बिलकुल संबंध नही है। दूरदर्शक यंत्र का यद्यपि स्वयं गेलीलियो ने

आविष्कार नहीं किया; परंतु उसके विकास का श्रेय उसी को है। उसने एक ऐसा दूरदर्शक यंत्र बनाया जिससे दूर की वस्तुओं का आकार चार सौ गुना अधिक बड़ा दिखाई देता था। गेलीलियो पहला व्यक्ति था जिसने चन्द्रमा की सतह पर फैले हुए पहाड़ों, घाटियों और मैदानों को देखा। आकाश-गंगा का प्रकाश असंख्य तारों की जगमगाहट के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह वही जान सका। बृहस्पति के इर्दगिर्द के चन्द्रमाओं और शनि के समीप-स्थित तारों का भी उसी ने पता लगाया। अन्य नक्षत्रों के संबंध में भी उसने महत्त्वपूर्ण खोजें कीं। गेलीलियो की खोजें इतनी क्रान्तिकारी थीं कि रूढ़ियों में पले हुए धर्मान्ध नेता, जिनके हाथ में समाज और शासन की बागडोर थी, उन्हें सह नहीं सके। गेलीलियो के विचारों पर प्रतिबंध लगा दिया गया और सत्तर वर्ष की अवस्था में उसे कैद और प्रायश्चित्त की सजा दी गई।

ऊपर जिन प्रमुख वैज्ञानिकों का नाम दिया गया है, उनके अतिरिक्त भी प्रत्येक देश में छोटे-बड़े ऐसे अनेक वैज्ञानिक थे, जो सत्य की खोज के अपने प्रयत्नों में लगे हुए थे। और, जहाँ एक ओर प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में खोज का काम चल रहा था और जीवन का वैज्ञानिक दृष्टिकोण बनाया जा रहा था, दूसरी ओर इस युगों में ऐसे दर्शन-शास्त्री भी हुए जिन्होंने दार्शनिक दृष्टि से वैज्ञानिक दृष्टिकोण का समर्थन किया। इनमें इंग्लैण्ड के बेकन (Becon, 1561–1626), फ्रांस के डेकार्टीज (Descartes, 1596–1650), हालैण्ड के स्पिनोजा (Spinoza, 1632–1677) और जर्मनी के लीबनिज (Leibnitz, 1646–1716) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बेकन का विश्वास था कि ज्ञान को प्राप्त करने का एक ही मार्ग है और वह अन्वेषण, प्रयोग और निरीक्षण के आधार पर निष्कर्ष तक पहुँचने का मार्ग है। डेकार्टीज भी सत्य की खोज का सबसे अच्छा मार्ग प्रत्येक वस्तु में सन्देह और शंका करने की प्रवृत्ति को ही समझता था। जड़ और चेतन के पारस्परिक संबंध पर उसने बहुत से नए विचार दिए। स्पिनोजा डेकार्टीज के समान स्वयं गणितज्ञ था, परंतु उसके दर्शन की विशेषता यह थी कि उसने जड़ और चेतन को एक ही वस्तु के विभिन्न रूप माना। इन सब विचारों के पीछे वस्तुवाद की विचार-धारा काम कर रही थी। चेतन हो अथवा जड, सबका आधार परमाणु अथवा वस्तु में है, इस विचार को उन्होंने

आगे बढ़ाया। लीबनिज के विचार भी बहुत कुछ इसी प्रकार के थे। विज्ञान और दर्शन में की गई इन खोजों और उनके आधार पर बनाए गए निष्कर्षों का परिणाम यह निकला कि प्रयोगात्मक विधियों और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को जीवन के सभी क्षेत्रों में बहुत अधिक प्रधानता दी जाने लगी। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति तक यही यूरोप की प्रमुख विचार-धारा रही। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक जीवन के इस नए दृष्टिकोण का प्रभाव जनसाधारण के दिन-प्रतिदिन के व्यवहार पर भी दिखाई देने लगा था।

अभ्यास के प्रश्न

१—आधुनिक युग के प्रारंभ की भौगोलिक खोजों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
२—नए देशों और महाद्वीपों की खोज का मनुष्य के विकास पर क्या प्रभाव पड़ा?
३—आधुनिक युग की वैज्ञानिक क्रान्ति से आपका क्या तात्पर्य है? उसके मूल कारणों पर प्रकाश डालिए।
४—भूगोल और ज्योतिष के क्षेत्रों में पुनर्जागृति-युग के प्रमुख आविष्कारों का वर्णन कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Abbott, W. C.: Expansion of Europe, 2 vols.
2. Barnes: The History of Western Civilization.
3. Blacknar: A History of Human Society.
4. Thorndika, L.: A Short History of Civilization.

अध्याय ४

राजनीतिक विचारों में परिवर्त्तन

मध्य-युग का राजनीतिक आदर्श सारे संसार को एक शासन के अन्तर्गत ले आना था। रोम-साम्राज्य के पतन के बाद एक ओर तो रोमन कैथोलिक धर्म ने और दूसरी ओर पवित्र रोमन साम्राज्य ने इस आदर्श को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस आदर्श को राष्ट्रीयता की भावना के विकास में एक बड़ा धक्का लगा। राष्ट्रीयता की भावना का विकास आधुनिक युग की एक बड़ी विशेषता है। मध्य-काल में राजभक्ति का आधार भाषा अथवा संस्कृति पर नहीं था। उसका लक्ष्य या तो साम्राज्य होता था अथवा नगर-राज्य, और कभी-कभी तो कोई सैनिक अफसर अथवा स्थानीय जमींदार ही इस निष्ठा का केन्द्र बन जाता था। राज्य का राष्ट्रीयता से कोई संबंध नहीं था। विभिन्न भाषाओं को बोलनेवाले और विभिन्न संस्कृतियों को माननेवाले एक किसी दूर-पार के नगर में स्थित राज-शक्ति को अपनी समस्त राजभक्ति देने के लिए तैयार रहते थे। परंतु राष्ट्रीयता की भावना के विकास ने इस स्थिति को बिलकुल ही बदल दिया। राष्ट्रीयता की भावना का जन्म कई कारणों से हुआ। एक बड़ा कारण तो मध्य-युग के धर्म-युद्ध ही थे। इन धर्म-युद्धों ने यूरोप के लोगों को दूर-दूर के देशों तक यात्रा करने की प्रेरणा दी थी और उन्हें विधर्मी, विजातीय और विभिन्न भाषा बोलनेवालों के संपर्क में ला खड़ा किया था, जिसका परिणाम यह हुआ कि अपने धर्म, अपनी जाति, अपनी भाषा और अपनी संस्कृति के प्रति उनका ममत्व और अपनापन बढ़ गया था। इधर, धार्मिक सुधार के आन्दोलनों को लेकर यूरोप के लोगों में आपसी संघर्ष उपस्थित हो गए थे। फ्रांस के कैथोलिक जर्मनी के प्रोटैस्टेण्ट मतानुयायियों से द्वेष करने लगे थे, और जर्मनी के प्रोटैस्टेण्ट इँग्लैण्ड के एंग्लीकन चर्च के माननेवालों के प्रति ईर्ष्या का भाव रखते थे। इस धार्मिक विद्वेष का भौगोलिक आधार धीरे-

मध्य-युग के राजनीतिक आदर्शों पर प्रहार

धीरे दृढ़ होता गया, जिसका परिणाम यह निकला कि धर्म-युद्धों ने राष्ट्रीय युद्धों का रूप ले लिया, और इन युद्धों ने राष्ट्रीयता की भावना को और भी अधिक पुष्ट किया। सामन्तवाद का पतन, नगरों का विकास, व्यापार और वाणिज्य का उत्कर्ष—ये सब कारण ऐसे थे जिन्होंने राष्ट्रीयता की भावना को दृढ़ बनाया।

राष्ट्रीयता की भावना ने विभिन्न देशों की जनता को अपने राष्ट्रीय शासक की शक्ति को बढ़ाने की प्रेरणा दी। विभिन्न राष्ट्रों में ज्यों-ज्यों आपसी लड़ाइयाँ बढ़ती गईं, एक ओर तो उन देशों मे राष्ट्रीय भावना मजबूत बनी और दूसरी ओर, युद्ध को सुचारु रूप से चलाने के लिए, वहाँ शक्तिशाली राजाओं का उद्भव हुआ। इंग्लैण्ड
और फ्रांस में लगभग सौ वर्षों तक युद्ध चला। राष्ट्रीयता की भावना
उसका आरंभ एक सामंतवादी युद्ध के रूप में हुआ वा विकास
था; परंतु उसने शीघ्र ही, फ्रांसवालों की दृष्टि मे,
जॉन ऑफ आर्क के नेतृत्व मे राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए लड़े जाने-वाले आन्दोलन का रूप ले लिया और उसका परिणाम यह हुआ कि दोनों ही देशों में राष्ट्रीयता की भावना, आग की लपटों की तेजी के समान, बढ़ी। स्पेन में मुसलमानों के साथ के संघर्ष और नई दुनिया की खोज ने राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ाया। इस प्रकार, पश्चिमी यूरोप के सभी देशों में राष्ट्रीयता की एक ऐसी भावना फैलती गई जिसका लक्ष्य अपने देश की शक्ति और समृद्धि को बढ़ाना था। इस शक्ति और समृद्धि को बढ़ाने के लिए एक मजबूत शासन-तंत्र की आवश्यकता थी। इस प्रकार का मजबूत शासन-तंत्र न तो सामंतवादी व्यवस्था में संभव था और न धर्म के शासन में ही, उसके लिए राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत एक राष्ट्रीय शासक की आवश्यकता थी। प्रत्येक देश की जनता ने इस प्रकार के शासक की शक्ति को बढ़ाया। सोलहवीं शताब्दी के पश्चिमी यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना और एक सशक्त राष्ट्रीय शासक, दोनों का विकास साथ-साथ हुआ। राष्ट्रीयता की भावना ने शासक की शक्ति को बढ़ाया और राष्ट्रीय शासक ने राष्ट्रीयता की भावना को पुष्ट किया। सामन्तवाद की अवनति और व्यक्ति के जीवन पर से धर्म के नियंत्रण की शिथिलता ने इस प्रवृत्ति को और भी बल दिया। धीरे धीरे, विशेषकर मुद्रण-कला के आविष्कार के बाद, प्रत्येक देश

में राष्ट्रीय भाषा और राष्ट्रीय साहित्य का विकास हुआ। अंग्रेज लेखकों ने अंग्रेजी भाषा का विकास किया, और अंग्रेज जनता के ऐसा साहित्य प्रस्तुत किया जिसमें उनकी अपनी विशिष्ट भावनाओं की झलक थी। फ्रांस के लेखकों ने फ्रांसीसियों के लिए और जर्मन लेखकों ने जर्मन भाषा बोलनेवालों के लिए अपनी-अपनी भाषाओं में साहित्य का एक अनुपम भांडार उपस्थित किया। राष्ट्रीयता की इस बढ़ती हुई भावना ने पुरानी संस्थाओं पर आघात किया और इन संस्थाओं के कमजोर पड़ जाने पर राष्ट्रीयता की भावना और भी पुष्ट हुई।

यूरोप के शासकों ने इतिहास की इन प्रवृत्तियों का अधिक से अधिक लाभ उठाया। मध्य-युग का शासन केवल स्वेच्छाचारिता पर ही अवलंबित नहीं था। विभिन्न देशों में लोकसभाएँ थीं। शासन में जनता की बिलकुल ही उपेक्षा नहीं की जाती थी। परंतु धीरे-धीरे परिस्थितियाँ बदलीं। इस परिवर्त्तन में भी कुछ हाथ धर्म-युद्धों का था। धर्म युद्धों के कारण यूरोप के ईसाई शासक पूर्वी देशों के संपर्क में आए और उनसे उन्होंने स्वेच्छाचारी शासन के सिद्धान्त सीखे। इधर, धर्म-युद्धों ने व्यापार और यात्राओं को प्रेरणा दी जिसका परिणाम यह हुआ कि मध्य-वर्ग की संख्या, समृद्धि और शक्ति बढ़ी और उसने यात्रा और व्यापार में सुरक्षा के लिए शक्तिशाली शासकों की अपेक्षा की। धर्म-युद्धों में सामन्तवादी दल के बहुत से लोगों का ध्यान आन्तरिक समस्याओं की ओर से हटकर विदेशों के आकर्षणों की ओर गया, और शासन पर उनका प्रभाव शिथिल पड़ा। कई सामन्ती नेता धार्मिक युद्धों में मारे भी गए। कुछ दूर देशों में जा बसे। इस सबका परिणाम यह हुआ कि सामन्ती व्यवस्था कमजोर पड़ गई और राजाओं को अपनी शक्ति बढ़ाने का अवसर मिल गया। राजा की शक्ति के मार्ग में मध्य-युग की धर्म-व्यवस्था भी एक बहुत बड़ी बाधा थी; परंतु अब बढ़ती हुई अराजकता को देखते हुए उसने भी राजा की शक्ति को बढ़ने देना ही श्रेयस्कर समझा। इन सब प्रवृत्तियों का परिणाम यह हुआ कि सत्रहवीं शताब्दी तक यूरोप के देशों में राजा की शक्ति इतनी बढ़ गई कि उसने धर्म-व्यवस्था पर ही आक्रमण किया। तब तक वह व्यवस्था इतनी शिथिल और जर्जर हो गई थी कि राजा की बढ़ती हुई शक्ति का

शासकों के अधिकारों में वृद्धि

प्रतिरोध करने की क्षमता उसमें नहीं रह गई थी। धार्मिक सुधार के आन्दोलनों ने राजा की शक्ति को और भी बढ़ाया। इँग्लैण्ड मे विक्लिफ ने और जर्मनी में लूथर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि राजा को ईश्वर-प्रदत्त शक्ति प्राप्त है।

राजा की इस अनियमित शक्ति का तर्क और दर्शन के आधार पर समर्थन करनेवाले राजनीतिक चिन्तकों की भी कमी नहीं रही। इनमें मैकियावेली (Machiavelli, 1467-1527) बोदाँ (Bodin, 1529 1596) और हॉब्स (Hobbes, 1588-1679) प्रमुख हैं। मैकिया-वेली ने बताया कि मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्य-
कता शरीर और धन की सुरक्षा है। इसके लिए एक नए युग का नया मजबूत शासन वांछनीय है, और शासन मज़बूत राजनीति-शास्त्र तभी हो सकता है जब वह ऐसे व्यक्ति के साथ में हो
जिसके पास अपरिमित सत्ता हो। बोदाँ ने यह सिद्ध करना चाहा कि शासक ही कानून का अन्तिम स्रोत है और वह अपने कामों के लिए ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं है। कानून से वह ऊपर है और राजनीतिक दृष्टि से सर्वोपरि सत्ता है। हॉब्स ने बताया कि मनुष्य राग-द्वेष, भय और प्रतिद्वन्द्विता की भावनाओं के वश में रहकर शक्ति प्राप्त करने के लिए ही सदा संघर्ष करता रहता है। उसे कठोर नियंत्रण में रखने व देश में शान्ति और सुव्यवस्था की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि एक मजबूत केन्द्रीय शासन की स्थापना की जाए और उसे ऐसी शक्ति के हाथ में सौंपा जाए जो कानून से ऊपर हो और समस्त जनता पर जिसका अनियंत्रित अधिकार हो। इस राजनीतिक दर्शन के लोकप्रिय हो जाने का परिणाम यह निकला कि राजा की शक्ति इतनी बढ़ गई जितनी इतिहास में कभी नहीं थी। वह राज्य का एकछत्र स्वामी, समस्त राजनीतिक शक्ति का एकमात्र स्रोत, न्याय का उद्गम और निर्माता ही नहीं था, वह ईश्वर का अंश भी माना जाने लगा और उसके प्रति अवज्ञा की भावना भी पाप मानी जाने लगी। राजा की शक्ति का मुख्य आधार मध्यम वर्ग में था। उसने राजा को योग्य सलाह-कार दिए और अपनी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए पर्याप्त धन दिया और उसके बदले में राजा ने इस मध्यम वर्ग को अपना व्यापार फैलाने और अपनी धन-समृद्धि को बढ़ाने में पूरी सहायता की।

एकछत्र शासन की जो व्यवस्था इस प्रकार स्थापित हुई वह बहुत अधिक समय तक नहीं चल सकी। यह सच है कि इस युग में कुछ बहुत बड़े-बड़े शासक हुए और उन्होंने अपने देश के लिए बहुत कुछ किया। नए फ्रांस के निर्माण में हेनरी चतुर्थ (Henry IV, 1589-1610) और सली (Sully), रिशेलू (Richelieu) और मैजेरीन (Mazarin) और लुई चौदहवें (Louis XIV, 1643-1715) ने बहुत बड़ा भाग लिया। मेरिया थैरेसा (Maria Theresa, 1745–1780) और जोसेफ़ द्वितीय (Joseph II. 1790) के बिना आस्ट्रिया यूरोप की राजनीति में प्रमुख भाग नहीं ले सकता था। फ्रेडरिक महान् (Frederick The Great, 1740-1786) ने जर्मनी के उत्कर्ष की नींव डाली। पीटर (Peter The Great, 1682 1725) और केथरीन (Catherine The Great, 1762:1796) ने रूस को बर्बरता के अंधकार से निकालकर आधुनिक यूरोप के बड़े राष्ट्रों की पंक्ति में ला खड़ा किया। नई और प्रगतिशील विचार-धाराओं के साथ इन शासकों की सहानुभूति थी। गुलामी की प्रथा को उन्होंने मिटाने का प्रयत्न किया, सामन्तवादी प्रथाओं को उन्होंने कुचला और व्यापार और उद्योग-धन्धों के विकास में उन्होंने पूरी सहायता की। पर इन सब बातों के होते हुए भी स्वेच्छाचारी शासन अधिक टिक नहीं सका। उसकी सबसे बड़ी कमजोरी तो यह थी कि उसका आधार शासक के व्यक्तिगत चरित्र पर था। यह असंभव था कि किसी भी राजवंश में योग्य शासकों की एक अनवरत श्रृंखला चलती रहती। फ्रांस में लुई चौदहवें के बाद लुई पन्द्रहवाँ जैसा अयोग्य व्यक्ति गद्दी पर बैठा। स्पेन में चार्ल्स तृतीय की गद्दी एक अर्द्ध-विक्षिप्त व्यक्ति के हाथ में आई। पुर्तगाल में जोसेफ प्रथम की उत्तराधिकारिणी एक पागल रानी बनी। इसी प्रकार अन्य देशों में भी हुआ। बहुत से शासकों ने अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा की और अपना अधिकांश समय भोग-विलास और निष्क्रिय ऐश्वर्य में बिताना आरंभ किया।

एकछत्र शासन की व्यवस्था का पतन

इस युग के प्रमुख शासकों में भी बहुतों ने, जिनके नाम इतिहास में राष्ट्र-निर्माताओं की सूची में गिनाए जाते हैं, आन्तरिक सुधारों में कम दिलचस्पी ली, बाहरी लड़ाइयों में अपना अधिक समय लगाया।

वैधानिकता के सिद्धान्तों का उदय

इसका परिणाम यह हुआ कि देश की शक्ति और प्रतिष्ठा तो बढ़ी, पर जन-साधारण के जीवन का स्तर गिरता गया। फ्रांस, प्रशा और रूस धनी और शक्तिशाली बने; परन्तु साधारण फ्रांसीसी, जर्मन अथवा रूसी निर्धन और राज्य की शक्ति की तुलना में, अधिक निःशक्त होता गया। राजनीतिक चिन्तकों के विचारों पर इस स्थिति की प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। जिन शताब्दियों में शासक की स्वेच्छाचारी सत्ता अपनी पराकाष्ठा का स्पर्श करती हुई दिखाई दे रही थी, उनमें भी ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं थी जिन्होंने उसके विरुद्ध विद्रोह किया। सोलहवीं शताब्दी में हालैण्ड ने स्पेन के आधिपत्य को चुनौती दी और एक ऐसे गणतंत्र की स्थापना की जिसमें राजनीतिक सत्ता लोकसभा के हाथ में थी। इसी प्रकार की क्रान्तियाँ, कुछ सीमित रूप में, अन्य देशों मे भी हुईं। धीरे-धीरे वैधानिकता के दर्शन-शास्त्री अपने विचारों का प्रचार करते हुए दिखाई दिए। इनमें प्रमुख स्थान लॉक (John Locke, 1632-1704), मौन्टेस्क (Montesquieu, 1689-1755), रूसो (Rousseau, 1712-1778) और वैन्थम (Jeremy Bentham, 1748-1832) जैसे व्यक्तियों का है, जिन्होंने जनतंत्र के राजनीतिक दर्शन की नींव डाली। लाक ने यह सिद्ध किया कि प्रत्येक मनुष्य को जीवन, स्वतंत्रता और संपत्ति पर प्राकृतिक अधिकार है और राज्य का निर्माण केवल इस कारण से हुआ है कि वह व्यक्ति को इन अधिकारों के उपयोग का पूरा अवसर दे। लॉक ने तो यहाँ तक कहा कि राजसत्ता के प्रति विद्रोह करना व्यक्ति का अधिकार ही नहीं है, कभी-कभी तो वह उसका कर्त्तव्य भी हो जाता है। मौन्टेस्क ने शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त का प्रचार किया। रूसो ने स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के उन प्रज्वलनशील सिद्धान्तों की घोषणा की जिन्होंने फ्रांस में क्रान्ति की अग्नि को सुलगा दिया। वैन्थम ने कहा कि राज्य के अस्तित्व और कानून बनाने की सारी कार्यवाही का अन्तिम और एकमात्र लक्ष्य अधिक से अधिक लोगों को अधिक से अधिक लाभ पहुँचाना है।

इन विचारों को लेकर यूरोप के राजनीतिक जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्त्तन आया जिसका परिणाम यह निकला कि स्वेच्छाचारिता के स्थान पर जनतंत्र के सिद्धान्त की स्थापना हुई। इस परिवर्त्तन का

सूत्रपात इंग्लैण्ड में हुआ। इंग्लैण्ड में तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में वहाँ की जनता ने अपने शासकों से मैगनाकार्टा नाम का एक प्रसिद्ध घोषणा-पत्र प्राप्त किया था जिसमें नागरिक अधिकारों की पहली बार चर्चा की गई थी। इंग्लैण्ड में तभी से लोकसभाएँ काम करने लगी थीं। आरंभ में उनका काम राजा को सलाह देना और रुपए-पैसे की उसकी माँग को पूरा करना ही था—कानून बनाने का दायित्व राजा पर ही था। पर धीरे धीरे लोक-सभा ने अपने अधिकारों का दायरा बढ़ाना आरंभ किया, और राजा की ओर से जब उसके इस प्रयत्न में बाधा डाली गई तो उसने राजा का विरोध करने की तत्परता भी दिखाई। सत्रहवीं शताब्दी में इस संघर्ष ने बड़ा तीव्र रूप ले लिया। इसमें एक राजा को तो अपने प्राणों तक से हाथ धोना पड़ा। सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक लोकसभा के हाथ में राज्य के सब वास्तविक अधिकार आ गए थे और जनता के प्रतिनिधियों को अब न केवल राजा की खुली आलोचना करने का अधिकार, बल्कि कर लगाने, न्यायाधीशों को नियुक्त करने, फौज का नियंत्रण करने आदि के अन्य अधिकार भी मिल गए थे। राज्य की सत्ता धीरे-धीरे राजा के हाथों से निकलकर जनता के हाथों में आती गई। इंग्लैण्ड में यह परिवर्त्तन एक रक्त-हीन क्रान्ति के द्वारा हुआ। सत्ता के अन्तिम हस्तान्तर में एक बूँद रक्त बहाने की आवश्यकता भी नहीं पड़ी। राजा ने चुपचाप लोकसभा के सामने आत्म-समर्पण कर दिया। यह सच है कि यह लोकसभा वास्तविक अर्थों में जनता की प्रतिनिधि-सभा नहीं कही जा सकती थी। मध्यम वर्ग के कुछ विशिष्ट परिवारों द्वारा ही उसका नियंत्रण होता था; परंतु इसमें संदेह नहीं कि जनतंत्र की भावना को आगे बढ़ाने में उसका बहुत बड़ा हाथ रहा है।

राजनीतिक विचारों में पुनः परिवर्त्तन इंग्लैण्ड

अठारहवीं शताब्दी में अमरीका में जो क्रान्ति हुई, वह एक प्रकार से तो इंग्लैण्ड के आधिपत्य के विरुद्ध थी; पर वास्तव में उसका उद्देश्य अमरीका में उसी प्रकार की जनतांत्रिक शासन-प्रणाली की स्थापना करना था, जैसी इंग्लैण्ड में मौजूद थी। उनका कहना था कि उन पर कर लगाने का अधिकार उनके चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में ही होना चाहिए। इस सिद्धान्त को लेकर ही इंग्लैण्ड के साथ उनका संघर्ष आरंभ हुआ।

अमरीका की जनतांत्रिक क्रान्ति

४ जुलाई १७७६ को अमरीका के नेताओं ने अपने देश की स्वतंत्रता का घोषणा-पत्र प्रकाशित किया। इसके तैयार करने में जेफरसन का प्रमुख हाथ था। इस घोषणा-पत्र में न केवल राजा के शासन करने के दैवी अधिकार पर ही आक्रमण किया गया है, बल्कि यह कहा गया है कि कोई भी ऐसा शासन जिसमें जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व न हो, जनता पर राज्य करने का अधिकारी नहीं है। इस घोषणा पत्र में दो मूल अधिकारों पर विशेष जोर दिया गया—(१) न्यायालयों की पूर्ण स्वतंत्रता और (२) शासन के लिए अपने प्रतिनिधि को स्वयं चुनने का जनता का अधिकार। जनतंत्र की भावना के प्रचार मे अमरीका की इस क्रान्ति का एक विशेष स्थान है। इसमें पहली बार लॉक, रूसो, मौन्टेस्क आदि चिन्तकों की विचार-धारा को मूर्त्त-रूप दिया गया था। यह सच है कि इस क्रान्ति के परिणाम स्वरूप जिस शासन की स्थापना हुई, उसे भी हम शुद्ध जनतंत्र नही कह सकते ; परंतु वह शासन यूरोप के किसी भी देश की तुलना मे कहीं अधिक प्रगतिशील था और उसने यूरोप के, विशेषकर फ्रांस के लोगों के लिए, जो जनतंत्र के विचार का प्रचार करने में बहुत दिनों से लगे हुए थे, एक आदर्श उपस्थित किया और उन्हे अपनी व्यवस्था को बदलने के लिए एक प्रेरणा दी।

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति और उसके कारण

फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का मुख्य कारण देश की दुर्व्यवस्था था। राजाओं को जनता में कोई रुचि नहीं रह गई थी, न शासन-तंत्र में। नई विचार-धाराओं के अनुसार शासन-तंत्र को ढालने का उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया। शासन का संचालन भ्रष्ट और अयोग्य कर्मचारियों के हाथ में चला गया था, जो सत्ता का उपयोग स्वार्थ-पूर्त्ति के लिए करते थे। देश में ज्यों ज्यों असन्तोष बढ़ता गया, राजा की प्रतिष्ठा घटती गई। असन्तोष का मुख्य कारण सामाजिक असमानताएँ थीं। समाज दो भागों में बँट गया था। एक ओर किसान थे, जो करों और अत्याचारों के बोझ से पिसते चले आ रहे थे और दूसरी ओर कुलीन और महन्त-वर्ग के लोग थे, जो ऐश्वर्य में डूबे हुए थे। राजा वर्साई (Versailles) में पन्द्रह हजार दरबारियों और भोगविलास की प्रचुर सामग्री से घिरा हुआ पचास करोड़ रुपये की लागत के महल में रहता था। केवल

उसके परिवार का वार्षिक खर्च दस करोड़ रुपए था। कुलीन वर्ग के लोगों में भी सभी समृद्ध और सुखी नहीं थे। कुछ गरीब भी थे और गरीबों से उन्हें सहानुभूति थी। महन्तों में भी इसी प्रकार की असमानता थी। ऊँचे वर्गों के महन्तों के हाथ में देश की भूमि का लगभग एक-पंचमांश था। दूसरी ओर ऐसे महन्त भी थे जो भीख माँगकर गुजारा करते थे। कानून की दृष्टि में सब बराबर नहीं थे और स्वयं कानून की कोई निश्चित मान्यताएँ नहीं थीं। जैसा वॉल्टेअर ने लिखा, वह लगभग उतनी ही दूरी पर बदल जाता था, जिस पर घोड़ागाड़ी के घोड़े बदले जाते थे। एक ही अपराध पर कुलीन वर्ग के लोगों को एक किस्म की सजा मिलती थी और अकुलीन वर्ग के लोगों को दूसरे किस्म की। पर सबसे बड़ी असमानता कर वसूल करने के संबंध में थी। कुलीन और महन्त-वर्ग के लोग, जिनके पास देश का लगभग समस्त धन केन्द्रित था, करों से लगभग मुक्त थे और गरीब किसानों को अपनी थोड़ी-सी आमदनी का कभी तो लगभग पूरा भाग करों में दे देना पड़ता था।

राज्य-क्रान्ति का प्रमुख कारण आर्थिक था। जनता तो गरीब थी ही, सरकार का भी दिवाला निकल चुका था। जनता खुशहाल हो तो वह कैसे भी निकम्मे शासन को भी बर्दाश्त कर लेती है। अठारहवीं शताब्दी के फ्रांस में शासन भी निकम्मा था और जनता भी दुःखी थी। ऐसे वातावरण में क्रान्ति की ज्वाला का सुलग उठना सहज और स्वाभाविक था। क्रान्ति के लिए जिस नेतृत्व की आवश्यकता होती है, वह उसे मध्यम-वर्ग से मिला। मध्यम-वर्ग की शक्ति और प्रभाव बहुत बढ़ गया था और यह मध्यम-वर्ग शासन के सूत्रों को उन निकम्मे हाथों से, जो उसका संचालन कर रहे थे, छीन लेने के लिए लालायित था। गरीब लोगों को भड़काने के लिए इस वर्ग के पास जनतंत्र का वह सारा विचार-दर्शन था, जो अठारहवी शताब्दी के बुद्धिवादियों ने विकसित किया था। इस प्रज्वलनशील वातावरण में क्रान्ति की ज्वाला को सुलगाने के लिए केवल चिनगारी की आवश्यकता थी, और वह चिनगारी अमरीका की राज्य-क्रान्ति ने फ्रांस को प्रस्तुत की। अमरीका की राज्यक्रान्ति में फ्रांस के लोगों को उन सिद्धान्तों का एक साकार-रूप दिखाई दिया जिन्हे उनके अपने मौन्टेस्क और रूसो, हैल्वेशियस और हॉलबैक, दिदेरो और विश्व-

कोष के लेखकों ने प्रतिपादित किया था और अब स्वयं अपने देश में उन्हें क्रियात्मक रूप देने के लिए वे बेचैन हो उठे थे।

क्रान्ति की यह ज्वाला धीरे धीरे सुलगी; पर एक बार सुलग जाने पर उसने बड़ा विकराल और भयंकर रूप ले लिया, और एक बार तो सारा देश खून की होली में नहाता हुआ दिखाई दिया। राजा ने टर्गो(Turgot), नेकर (Necker) आदि कुछ व्यक्तियों को राज्य की आर्थिक स्थिति सुधारने के लए नियुक्त किया था, पर वे असफल रहे थे। तब विशेष लोगों की एक सभा बुलाई गई, पर वह भी कुछ न कर सकी। सच बात तो यह थी कि राज्य के लिए धन प्राप्त करने का एक ही स्रोत था—देश के अमीर लोग। पर उनसे धन वसूल करने की सलाह राजा को देने का साहस किसी में न था। अन्त में राजा से कहा गया कि वह 'स्टेट्स जनरल' (Estates General) की एक सभा बुला ले। इस प्रकार की सभा फ्रांस में लगभग दो सौ वर्षों से नहीं बुलाई गई थी। इस सभा में तीन सदन होते थे जिनके सदस्य क्रमशः कुलीन, महन्त और सर्वसाधारण होते थे। निर्णय इन सदनों के बहुमत से किया जाता था। यह सभा भी कुछ न कर सकी। उसके सर्वसाधारण वर्ग के प्रतिनिधियों ने जब यह देखा कि यह सभा भी बिना कुछ किए-धरे भंग की जा रही है, तो उनके धैर्य का बाँध टूट गया और उन्होंने इस बात की घोषणा कर दी कि जनता के प्रतिनिधि होने के नाते देश के भाग्य-निर्माण का अधिकार उनका है। स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध यह एक खुली चुनौती थी। इस विद्रोह में उन्हें महन्त और कुलीन-वर्ग के बहुत से लोगों का समर्थन भी मिला। अपने को एक राष्ट्रीय महासभा के रूप में घोषित करते हुए उन्होंने इस बात की प्रतिज्ञा की कि राजा की संगीनें चाहे उनके वक्ष:स्थलों में घुसा दी जाएँ, वे तब तक अपने घर नहीं लौटेंगे जब तक फ्रांस को एक नया शासन-विधान नहीं दे देंगे।

क्रान्ति का सूत्रपात

फ्रांस की राज्य क्रान्ति का यह सूत्रपात था। उसका नेतृत्व आरंभ में कुछ नरम दल के लोगों के हाथ में रहा, जो राजा की सत्ता को बिलकुल ही नष्ट कर देना नहीं चाहते थे, और इस कारण सुधार की प्रगति कुछ धीमी रही। पर इस धीमेपन ने कुछ लोगों को अधीर बना दिया। उधर, देश में खाने-पीने की कमी बढ़ती जा रही थी। आलोचना और प्रत्यालोचना की बौछारों

क्रान्ति की प्रगति

से चारों ओर का वातावरण विक्षुब्ध हो उठा। नए राजनीतिक दल बने और नए राजनीतिक नेता सामने आये, जो वर्त्तमान को नष्ट करके रंगीन स्वप्नों और आदर्शों का एक नया भविष्य बनाना चाहते थे; जिनके विचारों में उन्मेष था; जिनकी वाणी अपने में सर्वनाश की हुंकार लिए हुए थी और जिनके हाथ, आदर्शों की प्राप्ति के लिए, हिंसा से खिलवाड़ करने के लिए बेचैन थे। राजा की शक्ति अब बिलकुल टूट चुकी थी। राष्ट्रीय महासभा ने अपने नन्हे जीवन-काल में काफी बड़े बड़े काम किए थे। सामन्तवादी व्यवस्था नष्ट की जा चुकी थी और एक नए ढंग का समाज, जिसका आधार वर्ग पर नहीं व्यक्ति पर था, जन्म ले चुका था। राष्ट्रीय महासभा द्वारा स्वीकृत मनुष्य और नागरिक के अधिकारों की घोषणा द्वारा नए राजनीतिक अधिकारों की सृष्टि की जा चुकी थी जिसका आधार स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व में था। एक नया संविधान भी बना लिया गया था जिसमें राजसत्ता एक चुनी हुई धारा-सभा को सौंप दी गई थी और धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धान्त का समावेश था। परंतु उग्र राजनीतिक विचारों के नेता, जो वर्त्तमान समाज-व्यवस्था को जड़ से उखाड़-कर एक नई समाज-व्यवस्था बनाना चाहते थे, इस प्रगति से संतुष्ट नहीं थे, और उनकी शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही थी। शासन के सामने आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। प्रतिक्रियावादी इन कठिनाइयों से लाभ उठाकर पुरानी व्यवस्था को फिर से स्थापित कर देना चाहते थे और इसके लिए देश के साथ विश्वासघात करने और विदेशों की प्रतिक्रियावादी सत्ताओं से सहायता प्राप्त करने में उन्हे तनिक भी संकोच नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि फ्रांस, आस्ट्रिया और प्रशा के साथ लड़ाई में उलझ गया। युद्ध आरंभ हो जाने के बाद उसकी विशेषताएँ दिन पर दिन बढ़ती गईं। एक राजनीतिक दल के लोग षड्यंत्र और हिंसा के द्वारा दूसरे राजनीतिक दल का अन्त करने में लग गए। कुछ समय तक देश भर में 'आतंक का राज्य' (reign of terror) रहा जिसमें कहा जाता है, केवल पेरिस नगर में, पाँच हजार व्यक्ति मौत के घाट उतार दिए गए, जिनमें क्रान्ति के लगभग सभी प्रमुख अग्रदूत भी थे, और लगभग पन्द्रह हजार व्यक्ति देश के दूसरे भागों में मार डाले गए। हिंसा की ये लपटें अपनी पराकाष्ठा तक पहुँचकर बुझती-सी दिखाई दीं। प्रतिक्रिया की एक लहर उठी। क्रान्ति और परिवर्त्तन के नाम से फ्रांस

की जनता घबराने लगी, और जनतांत्रिक क्रान्ति के इस खण्डहर पर नैपोलियन ने अपनी एकछत्र राजसत्ता का प्रासाद खड़ा किया।

कुछ लोगों की धारणा है कि हिंसा और प्रतिशोध की इन ज्वालाओं में राज्य-क्रान्ति के आदर्श भस्म हो गए और वह अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रही। पर बात ऐसी नहीं है। अपनी समस्त भयंकरता के होते हुए भी 'आतंक का राज्य' एक महान् राजनीतिक और सामाजिक क्रान्ति में एक घटना-मात्र है। फ्रांस को जिन आन्तरिक परिस्थितियों और बाहरी उलझनों में फ्रांस की क्रान्ति की से गुजरना पड़ रहा था, यह शायद उसका अनिवार्य इतिहास की देन विस्फोट था। उस युग के सामने हिंसा के अतिरिक्त संभवतः कोई दूसरा मार्ग था भी नहीं, पर इस कारण हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि फ्रांस की क्रान्ति अपने उद्देश्यों में असफल रही। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति वास्तव में उन प्रवृत्तियों की पराकाष्ठा का संकेत है जिनका आरंभ सोलहवीं शताब्दी में पुनर्जागृति के युग में हुआ था। इँग्लैण्ड और अमरीका की राज्य-क्रान्तियों ने जिन विचारों को जन्म दिया था, फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने उन्हें और आगे बढ़ाया। वह अधिक व्यापक और गहरी क्रान्ति थी जिसने न केवल महान् राजनीतिक परिवर्त्तनों का सूत्रपात किया; परंतु सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में भी गहरे परिवर्त्तन लाने का प्रयत्न किया। फ्रांस में यह परिवर्त्तन इतनी सरलता से नहीं हो सका जैसा इंग्लैण्ड और अमरीका में हुआ था, क्योंकि फ्रांस की परिस्थितियाँ भिन्न प्रकार की थीं; परंतु फ्रांस की राज्य-क्रान्ति का प्रभाव, इँग्लैण्ड और अमरीका की क्रान्तियों की तुलना में, कहीं गहरा पड़ा। उसने उन सब सिद्धान्तों को एक अमर स्वरूप प्रदान किया जो पिछले दो सौ वर्षों से यूरोप के सर्वश्रेष्ठ मनीषियों की आत्मा का मन्थन कर रहे थे। स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्त आधुनिक मानव-समाज के निर्माण में नींव के पत्थर के समान हैं। आज की हमारी सभ्यता का भव्य प्रासाद इन्हीं के आधार पर खड़ा है। स्वतंत्रता का अर्थ है कि कोई सत्ता चाहे वह राजनीतिक हो अथवा धार्मिक अथवा सामाजिक, व्यक्ति की इच्छा को कुचलने का सामर्थ्य नहीं रखती। समानता के सिद्धान्त की उद्घोषणा का अर्थ था विशेष अधिकारों के उस समस्त अम्बार को भस्म कर देना, जिसे ईश्वर

और धर्म के नाम पर कुछ लोग अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिए काम में ला रहे थे, और कानून और राज्य की दृष्टि में, मनुष्य मात्र की समानता की स्थापना करना। भ्रातृत्व का अर्थ मानवता में भाई-चारे की स्थापना करना था। इन सिद्धान्तों ने व्यक्ति की प्रतिष्ठा और उसके आत्म-विश्वास को बहुत ऊँचा उठा दिया। व्यक्ति की प्रतिष्ठा की यह भावना आज भी मानवता के एक बड़े भाग के लिए बहुत अधिक महत्त्व रखती है। यही फ्रांस की राज्य-क्रान्ति की मानव-सभ्यता को सबसे बड़ी देन है।

अभ्यास के प्रश्न

१—मध्य-युग के राजनीतिक आदर्शों के संबंध में आप क्या जानते हैं? उनमें और आधुनिक युग के राजनीतिक आदर्शों में भेद समझाइए।

२—राष्ट्रीयता की भावना का विकास किन कारणों से हुआ? राजाओं के एकछत्र शासन की स्थापना में राष्ट्रीयता की भावना ने कहाँ तक सहायता पहुँचाई?

३—सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों के शासन-संबंधी प्रमुख राजनीतिक सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए।

४—एकछत्र शासन की व्यवस्था का पतन किन कारणों से हुआ?

५—वैधानिकता के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए इंग्लैण्ड में लोकसभा के विकास का संक्षिप्त इतिहास दीजिए।

६—अमरीका की जनतान्त्रिक क्रान्ति का विवरण दीजिए। यूरोप की राजनीति पर उसका क्या प्रभाव पड़ा?

७—फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के प्रमुख कारणों का विश्लेषण कीजिए।

८—फ्रांस की राज्य क्रान्ति का एक संक्षिप्त विवरण दीजिए, और यह स्पष्ट कीजिए कि इतिहास पर उसका क्या प्रभाव पड़ा।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Dumming, W. A.: Political theories from Luther to Montessquien.
2. Hayes, C. J. H.; Essays on Natrondism.

3. H. J. Laski,: Political Thought in England from Locke to Bentham.
4. Mc Laughlin, A. C.: A Constitutional History of the United States.
5. Hearnshew, F. J. C.: The Social and Political Ideas of Some Great French Thinkers of the Age of Reason.

अध्याय ५

राष्ट्रीय संस्कृतियों का विकास

इटली से पुनर्जागृति के जिस युग का सूत्रपात हुआ था, उसका प्रभाव धीरे धीरे यूरोप के अन्य देशों में भी फैला, और उनमें कला और साहित्य की नई प्रवृत्तियों ने जन्म लिया। इस दृष्टि से इटली स्वयं तो अधिक प्रगति न कर सका। व्यापार का गुरुत्व-केन्द्र भूमध्यसागर से अटलांटिक चले जाने के कारण इटली की आर्थिक स्थिति लगातार गिरती चली गई। राजनीतिक एकता का अभाव भी इटली के पतन का एक प्रमुख कारण था। परंतु इटली से प्रेरणा लेकर अन्य देशों ने, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में, अपने सांस्कृतिक पुनरुत्थान की दिशा में बहुत कुछ प्रगति की। रैफेल, लियोनार्डो और माइकेल एन्जेलो ने चित्रकला और मूर्तिकला में जिन आदर्शों की सृष्टि की थी, अथवा बरनिनी (Giovamni Bernini, 1598-1680) ने वस्तुकला में सौंदर्य के जो उदाहरण सामने रखे थे। उनसे अन्य देशों ने प्रेरणा ली। परंतु पुनर्जागृति-युग के बाद की कला में इस शक्ति से अधिक सजावट का आग्रह पाते है, जो अन्य देशों के समान इटली की भी इस युग की विशेषता थी। अन्य देशों पर इटली के साहित्य, संगीत, नाटक और नृत्य की शैलियों का प्रभाव भी पड़ा। राजनीतिक दृष्टि से यह युग स्पेन, हॉलैण्ड, इंग्लैण्ड और फ्रांस के उत्कर्ष का युग था, इस कारण भी इन देशों का कला और साहित्य में विशेष प्रगति करना स्वाभाविक था।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान की लहर

स्पेन, चार्ल्स पंचम (Charles V) और फिलिप द्वितीय (Philip II) के नेतृत्व में, राजनीतिक एकता और साम्राज्यवाद में ही आगे नहीं बढ़ रहा था, सांस्कृतिक विकास में भी वह अग्रणी था और बौद्धिक उत्साह में वह बहुत आगे बढ़ गया था। उच्च कोटि के अनेकों विद्वानों को जन्म देने के अतिरिक्त स्पेन ने इस युग में बहुत से उत्कृष्ट कलाकारों

स्पेन

को भी उत्पन्न किया। चित्रकारों में एल ग्रेसो (El·Greco, 1548-1625), वेलासक्वेज (Velasquez, 1599-1660) और मुरिलो (Murillo,1618-1682) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। एल ग्रेसो यूनान का रहनेवाला था, पर स्पेन में बस गया था। प्रकाश और छाया के प्रभावों को बड़ी सक्षमता के साथ अपने चित्रों में प्रदर्शित करना उसकी विशेषता थी। उसके चित्रों में भावनाओं का उद्रेक इतनी सफलता के साथ दिखाया गया है कि चित्र में दी गई अन्य बातें जैसे दब गई हों। उसने अपने चित्रों में चमकीले रंगों का भी काफी प्रयोग किया। वेलासक्वेज की गिनती यूरोप के सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों में की जाती है। उसके चित्रों में हमें एक गहरे यथार्थवाद के दर्शन होते हैं। यूरोप के संभ्रान्त परिवारों के बहुत से चित्र उसने अंकित किए। मुरिलो के चित्र दूसरे प्रकार के हैं। उनमें जनसाधारण के जीवन को प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न किया गया है। स्पेन में मूर्त्तिकला के कुछ सुन्दर प्रयोग लकड़ी पर किए गए। साहित्य के क्षेत्र में नाटक के विकास पर अधिक ध्यान दिया गया। नाटककारों में लोप डि वेगा (Lope de Vega, 1562-1635) मुख्य था। उसने लगभग बारह सौ सुखान्त व धार्मिक नाटक लिखे। व्यंग, भावना और यथार्थवाद का एक अच्छा सम्मिश्रण उसकी रचनाओं में पाया जाता है। प्रभावपूर्ण लेखकों में डौन क्विक्जोट (Don Quixote) के लेखक सर्वान्तीज (Cervantes, 1547-1616) को प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए। उसने मध्य-वर्ग के जीवन पर व्यंगात्मक ढंग से बहुत अधिक प्रकाश डाला। स्पेन के राजनीतिक पतन के साथ उसके सांस्कृतिक जीवन में भी शिथिलता आ गई।

इँग्लैण्ड के इतिहास में सत्रहवीं शताब्दी को स्वर्ण-युग माना गया है। रानी एलिजावेथ (Queen Elizabeth, 1558-1603) और उसके पूर्वजों ने देश में एक सुदृढ़ शासन की स्थापना कर दी थी। एलिजावेथ के समय में धार्मिक झगड़े भी समाप्त कर दिए गए थे। संस्कृति के विकास के लिए इससे अधिक उपयुक्त वातावरण क्या हो सकता था? इँग्लैण्ड ने इस युग में होगार्थ (Hogarth, 1697-1764), रेनॉल्ड्स (Reynolds, 1723-1792) और गेन्सबरॉ (Gainsborough,

इँग्लैण्ड

1727-1788) जैसे कुछ श्रेष्ठ चित्रकारों को भी उत्पन्न किया, जिन्होंने चित्रकला के स्तर को ऊँचा उठाया। परंतु इंग्लैण्ड के सांस्कृतिक विकास को साहित्य के क्षेत्र में अधिक अभिव्यक्ति मिली और साहित्य में भी नाटक पर उसके कलाकारों ने अधिक ध्यान दिया। शेक्सपीयर (Shakespeare,1564-1616) और मिल्टन(Milton,1608-1674), ड्रायडन (Dryden, 1631-1700) और पोप (Pope, 1688.1744) इस युग के प्रमुख कवि हैं। आधुनिक अंग्रेजी गद्य का विकास भी इसी युग में हुआ। इतिहास, विज्ञान, जीवनगाथा और उपन्यास, साहित्य के इन सभी क्षेत्रों में इंग्लैण्ड ने बड़ी प्रगति की। गिबन (Gibbon, 1737-1794) और ह्यूम (Hume, 1711-1776) ने इतिहास के क्षेत्र में अनुपम रचनाएँ कीं। जानसन (Johnson, 1709-1784) ने कोष का निर्माण किया। एडम स्मिथ (Adam Smith) ने अर्थ-शास्त्र पर पुस्तकें लिखीं। ब्लैकस्टोन (Blackstone, 1723-1780) ने न्याय-शास्त्र के ज्ञान को बहुत आगे बढ़ा दिया। एडीसन (Addison, 1672-1719), डीफो (Defoe. 1660 1731) और स्विफ्ट (Swift, 1667-1745) ने सुंदर उपन्यासों की सृष्टि की। परंतु इन सब व्यक्तियों से अधिक जिस एक व्यक्ति ने इंग्लैण्ड की प्रतिष्ठा को संसार भर में चमका दिया, वह शेक्सपीयर था। नाटककार की दृष्टि से उसे संसार का सर्वश्रेष्ठ लेखक माना जा सकता है। उसके अधिकांश नाटक आज भी संसार भर के देशों के रंगमंच पर खेले जाते हैं। मानव-चरित्र की जिस गहराई का स्पर्श, अनुभव और अभिव्यक्ति शेक्सपीयर कर सका और हृदय की विभिन्न भावनाओं का जैसा सफल चित्रण उसने किया, वैसा कोई अन्य लेखक नहीं कर सका।

हालैण्ड

हालैण्ड ने भी कला और साहित्य के क्षेत्र में अभूतपूर्व उन्नति की। राष्ट्रीय स्वाधीनता और समृद्धिशाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ने उसे प्रेरणा और प्रोत्साहन दिया। हॉलैण्ड अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण भी यूरोप के अनेकों देशों के सांस्कृतिक प्रभावों का केन्द्र-बिन्दु बन गया। विचारशीलता और चिन्तन के क्षेत्र में उसने ग्रोशियस (Hugo Grotius, 1583-1645) जैसे विद्वान् को जन्म दिया। परंतु हॉलैण्ड के सांस्कृतिक पुनरुत्थान को सबसे अधिक अभिव्यक्ति चित्रकला के

द्वारा मिली। इस युग में हॉलैण्ड ने रूबेन्स (Rubens, 1577-1640) और वान डिक (Van Dyck, 1599-1641), रेम्ब्रैण्ट (Rembrendt, 1606-1669) और र्‌यूज़डैल (Jacob Van Ruysdael, 1628-1682) जैसे चित्रकारों को जन्म दिया, जिनकी अमर कृतियाँ संसार भर की चित्रकला का गौरव बन गई हैं। इन चित्रकारों ने सर्वसाधारण के जीवन का जितना सुन्दर चित्रण किया है उतना शायद किसी भी देश के चित्रकारों ने नहीं। इटली और स्पेन के कलाकार जहाँ धार्मिक कथाओं के चित्रण में ही विशेष रुचि लेते रहे, हॉलैण्ड में मध्य-वर्ग के दिन-प्रतिदिन के जीवन के प्रति सहानुभूति और तादात्म्य का प्रदर्शन किया गया। हॉलैण्ड के चित्रकारों में रेम्ब्रैण्ट सबसे प्रमुख था। प्रकाश और छाया का जैसा सफल चित्रण रेम्ब्रैण्ट के चित्रों मे मिलता है, वैसा अन्यत्र नहीं। प्राकृतिक दृश्यों के भी उसने अनेकों सुन्दर चित्र खींचे, परंतु उसकी सबसे बड़ी विशेषता चेहरे पर झलक उठनेवाली हृदय की सूक्ष्मतम भावनाओं का सफल चित्रण था।

जर्मनी और अन्य देश

जर्मनी के विभिन्न राज्य, राजनीतिक अराजकता और यूरोप के अन्य देशों के निकट सांस्कृतिक संपर्क में न होने के कारण, कला और संस्कृति के क्षेत्र में विशेष योग नहीं दे सके; परंतु ड्यूरर (Durer, 1471-1528) और हौल्बीन (Holbein, 1497-1543) आदि जर्मन कलाकारों ने चित्रकला के क्षेत्र में विशेष प्रगति की। जर्मनी की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति विशेष रूप से संगीत के क्षेत्र में हुई। बैरक और हैन्डेल, मोजार्ट, बीथोवन और वैगनर जैसे संगीतज्ञों को जर्मनी ने इस युग में उत्पन्न किया जिनकी तुलना मे यूरोप के किसी अन्य देश के संगीतज्ञ नहीं ठहर सकते। जर्मन भाषा के विकास में लूथर का बहुत बड़ा हाथ था। भाषा के इस परिष्कार के अभाव में जर्मनी हर्डर, गेटे और शिलर जैसे उन महान् साहित्यकारों को उत्पन्न नहीं कर सकता था जिन्होंने आनेवाले युगों में उसकी प्रतिष्ठा को संसार भर में फैला दिया।

कला और संस्कृति के विकास में सबसे अधिक प्रगति फ्रांस ने की। फ्रांस में ललित कलाओं के सभी क्षेत्रों में अभूतपूर्व उन्नति हुई। राज-

नीतिक दृष्टि से फ्रांस इन दिनों यूरोप का सबसे प्रमुख देश था। लुई चौदहवें जैसे शासकों ने केवल उसकी सीमाओं का विस्तार ही नहीं किया, सभी ललित कलाओं के विकास को उसने प्रश्रय और प्रोत्साहन दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि पूसाँ (Poussin, 1594-1665) और लोराँ (Cloude Lorrain, 1600-1682) जैसे चित्रकार, मैंन्सर्ट (Jules Mansart) जैसे स्थापत्य-कला विशारद और लेब्रुन (Le Brun, 1619-1690) जैसे शिल्पी फ्रांस ने उत्पन्न किए। नाटक की दृष्टि से भी फ्रांस ने बहुत उन्नति की, यद्यपि इंग्लैण्ड की तुलना में उसकी नाट्यकला का रूप बिलकुल भिन्न है। मोलियर (Moliere, 1622-1673) फ्रांस का सबसे बड़ा नाटककार था। उसके नाटक हास्य-प्रधान हैं, पर तत्कालीन समाज के विभिन्न वर्गों के प्रतिनिधि व्यक्तियों का जितना सुन्दर चरित्र-चित्रण हमें मोलियर के नाटकों में मिलता है वैसा अन्यत्र नहीं। अन्य प्रसिद्ध नाटककारों में कौर्नील (Corneille, 1606-1684) और रासीन (Racine, 1639-1699) के नाम लिए जा सकते हैं। फ्रांस में गद्य का भी बहुत अधिक विकास हुआ। गद्य-लेखकों में बॉयलो (Nicolas Boilean, 1636-1711), ला फौन्टेन (Jean La Fontaine, 1621-1695), रैबेले (Rabelais, 1494-1553) और मॉन्टेन (Montaigne, 1533-1692) प्रमुख थे। इनकी गिनती विश्व के उच्च कोटि के साहित्यकारों में की जाती है। कैल्विन, मॉन्टेस्क, वॉल्टेअर, रूसो, दिदेरो आदि ने दार्शनिक विचारों को सुन्दर और प्रभावशाली गद्य-शैलियों में अभिव्यक्त किया।

फ्रांस का स्वर्ण-युग

इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों में यूरोप के सभी प्रमुख देशों में सांस्कृतिक पुनरुत्थान एक बहुत ऊँचे स्तर का स्पर्श कर रहा था। परंतु इसके साथ ही कुछ अन्य बातों को भी हम अपनी दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। पहली बात तो यह है कि इस सांस्कृतिक पुनरुत्थान के पीछे स्वेच्छाचारी शासकों, विलास और अकर्मण्यता में डूबे हुए सामन्ती नेताओं और व्यापार से अटूट धन कमानेवाले पूँजीपतियों का प्रश्रय और संरक्षण था, और इस कारण उसमें उनके वैभव और ऐश्वर्य का प्रतिबिम्ब ही अधिक

सांस्कृतिक पुनरुत्थान की विशेषताएँ

दिखाई देता है, जनसाधारण के दिन-प्रतिदिन के जीवन की झाँकी कम। इस समस्त सांस्कृतिक वैभव के होते हुए भी यूरोप के समाज में अमीर और गरीब के बीच का अन्तर बढ़ता जा रहा था और वर्ग-भेद की दरारें चौड़ी होती जा रही थीं जिसके परिणाम-स्वरूप क्रान्तिकारी विचारों के नए अंकुर विभिन्न देशों में और विशेषकर फ्रांस में फूटने लगे थे। यूरोप के शासक अपार धन-राशि केवल अपने भोग-विलास के जीवन पर ही खर्च नहीं कर रहे थे, अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा और वंशगत प्रतिष्ठा को संतुष्ट करने के लिए वे बिना सोचे-समझे, महान् अन्तर्राष्ट्रीय युद्धों में जूझ पड़ते थे और इस सबका बोझ जनसाधारण के टूटते हुए कंधों पर पड़ता था। यह निश्चित था कि अठारहवीं शताब्दी के अंत तक एकछत्र राज्य व्यवस्था और सामंतवादी संस्कृति दोनों ही इतनी जर्जर हो गई थीं कि उन्हें चकनाचूर कर इतिहास के ध्वंसावशेषों में फेंक देने और उनके स्थान पर एक जनवादी राजतंत्र और सर्वहारा संस्कृति के निर्माण का प्रयत्न करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह गया था। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में इस नए राजतंत्र और नई संस्कृति का विकास हुआ।

अभ्यास के प्रश्न

१—सत्रहवीं शताब्दी में राष्ट्रीय कला और संस्कृतियों के विकास के कारण समझाइए। पुनर्जागृति-युग की कला और संस्कृति से आप उसमें क्या भेद पाते हैं?

२—स्पेन, हॉलैण्ड, इंग्लैण्ड, जर्मनी और फ्रांस की कला, साहित्य और स्थापत्य की विशेषताएँ बताइए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Barnes : The History of Western Civilization.
2. Mather, F J. : Modern Painting.
3. Smith, P. : History of Modern Culture

अध्याय ६

औद्योगिक क्रान्ति की देन

उन्नीसवीं शताब्दी में संसार में दो प्रबल आर्थिक शक्तियाँ काम कर रही थीं—प्रथम, वे आविष्कार जिन्होंने मनुष्य का प्रकृति पर आधिपत्य स्थापित कर दिया और दूसरे, फ्रांस की राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप आर्थिक स्वतंत्रता की भावना का उदय होना। इन दोनों शक्तियों ने मनुष्य के आर्थिक तथा सामाजिक जीवन को बिलकुल बदल दिया।

अन्वेषण की प्रवृत्ति का उदय

बात यह थी कि अठारहवीं शताब्दी तक यूरोप तथा संसार के अन्य देशों में सामन्तवादी प्रथा कायम थी। उद्योग धंधों में गिल्ड पद्धति का प्राबल्य था। सामन्तवादी प्रथा में मनुष्य की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक स्वतंत्रता का सर्वथा अभाव था। भू-स्वामियों का अपने किसानों या आसामियों पर पूरा अधिकार था। किसान को प्रति सप्ताह तीन या चार दिन अपने स्वामी की विस्तृत भूमि पर बिना वेतन के काम करना पड़ता था। उन्हें अपने स्वामी को समय-समय पर भेंट देनी पड़ती थी। जब किसान अपनी पुत्री का विवाह करता तो उसे जुर्माना देना पड़ता। कोई किसान या उसका पुत्र अपने स्वामी की भूमि को छोड़कर अन्यत्र कार्य करने नहीं जा सकता था। यदि कोई गाँव को छोड़कर जाना चाहता, तो उसे बहुत बड़ी रकम हर्जाने के रूप मे अपने स्वामी को देनी पड़ती। गाँव के निवासियों को अपने स्वामी की चक्की से ही आटा पिसवाना पड़ता, उसके मदिरालय से ही शराब लेनी पड़ती और उसकी बेकरी से ही रोटी लेनी पड़ती। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भू-स्वामी उनके मालिक थे और वे उसके दास थे। इस दासता के बदले उनको भूमि खेती के लिए दी जाती थी और वे अपने स्वामी की सेवा करते थे। इस आर्थिक दासता के फलस्वरूप उनको सामाजिक तथा राजनैतिक दासता भी स्वीकार करनी पड़ती थी। उन दिनों नगर

तो बहुत कम होते थे; किन्तु जो भी नगर होते थे उनमें धंधों और व्यापार का नियंत्रण उनके संघों (गिल्डस) के द्वारा होता था।

व्यावसायिक संघों में भी बहुत बंधन था। प्रत्येक धंधे का संघ होता था। केवल उस संघ के सदस्यों को ही उस धंधे को करने का अधिकार था। सदस्यों के परिवार के लोगों को ही उस धंधे की शिक्षा दी जाती थी। प्रत्येक लडके को सात वर्ष तक किसी कारीगर के पास धंधे की शिक्षा लेनी पड़ती थी। इस दशा में वह अपरैंटिस कहलाता था। उसके उपरान्त वह जरनीमैन अर्थात् मजदूर कारीगर बनता था। उस दशा में उसे अपने स्वामी कारीगर के कारखाने में काम करना पड़ता था और उसे संघ द्वारा निर्धारित वेतन मिलता था। वह स्वतंत्र रूप से अपना कारबार स्थापित नहीं कर सकता था। जब संघ के नेता अर्थात् पंचायत उससे प्रसन्न हो, और वह कोई विशेष कारीगरी की वस्तु उपस्थित करे तो उसको स्वतंत्र कारीगर स्वीकार किया जाता था। उनको एक निश्चित प्रकार की वस्तु ही बनानी पड़ती थी। संघ उनके धंधे, रहन सहन, विवाह, पूजा, पाठ, सभी का कठोरतापूर्वक नियंत्रण करता था। इसी प्रकार व्यापारियों के संघ थे, जो उनके व्यापार, रहन-सहन इत्यादि का नियंत्रण करते थे।

कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय कोई आर्थिक तथा सामाजिक स्वतंत्रता नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति दास की भाँति जीवन व्यतीत करता था। बहुत से देशों में तो दास प्रथा ही स्थापित थी।

जब व्यक्तिगत स्वतंत्रता का इतना अभाव था, समाज का आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक ढाँचा, परम्परा और रूढ़िवादिता पर आश्रित था, उस समय कोई वैज्ञानिक आविष्कार अथवा औद्योगिक क्रान्ति नहीं हो सकती थी।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में इंग्लैंड में अभूतपूर्व व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उदय हुआ। बात यह थी कि इंग्लैंड में "काली मृत्यु" (ब्लैक डैथ) नामक बीमारी के कारण लगभग आधी जनसंख्या नष्ट हो गई। भूमि को जोतने के लिए दास किसानों का टोटा हो गया। प्रत्येक भू-स्वामी उनको अपने यहाँ रखने के लिए लालायित होने लगा। यद्यपि भू-स्वामी का अपने किसान पर कानूनी अधिकार था;

किन्तु अब किसान को अपने मूल्य का पता चल गया था। वह जब गाँव से भागकर जाता तो दूसरा भू-स्वामी उसको अधिक उदार शर्तों पर रखने के लिए लालायित रहता था। वह उसकी कानून से भी रक्षा करता था। इधर शहरों में भी इन व्यावसायिक संघों तथा व्यापारिक संघों का प्रभाव और अधिकार कम हो गया और जरनीमैन शहरों को छोड़कर स्वतंत्रतापूर्वक अपना कारबार करने लगे।

ब्रिटेन में आर्थिक स्वतंत्रता का युग आरम्भ हो गया। उधर ब्रिटेन का विशाल साम्राज्य स्थापित हो गया था। उसके उपनिवेश उसके व्यापार के लिए विस्तृत बाजार बन गए। इस विस्तृत बाजार को अपने हाथ में तभी रक्खा जा सकता था, जब कि ब्रिटेन में व्यक्तिगत स्वतंत्रता हो, व्यापार, व्यवसाय तथा खेती में बंधन न हों। अतएव ब्रिटेन की परिस्थिति ने वहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता का विकास किया। व्यक्तिगत स्वतंत्रता की स्थापना, विस्तृत बाजार और ब्रिटेन का बढ़ता हुआ विदेशी बाजार यह कुछ ऐसे कारण थे कि जिनने ब्रिटेन को विवश कर दिया कि वह वैज्ञानिक आविष्कार करे, तथा यंत्रों का निर्माण करे कि जिससे उत्पादन कार्य मे श्रम की बचत की जा सके। इसके अतिरिक्त उपनिवेशों के व्यापार से ब्रिटेन को जो लाभ होता था उससे ब्रिटेन में पूँजी का प्रादुर्भाव हुआ और ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति सफल हुई। चार्ल्स प्रथम के वध के उपरान्त ब्रिटेन में और भी अधिक व्यक्ति-स्वातंत्र्य की भावना का उदय हुआ। अब प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र था। वह जहाँ भी जाकर बसना चाहे बस सकता था, वह जिस धंधे या कारबार को करना चाहे कर सकता था। प्रत्येक व्यक्ति व्यापार करने में स्वतंत्र था। इस स्वतंत्रता का परिणाम यह हुआ कि लोगों में आत्मविश्वास, नवीनता को स्वीकार करने की भावना तथा वैज्ञानिक अनुसंधान की भावना का उदय हुआ और औद्योगिक क्रान्ति सफल हो सकी।

ब्रिटेन में जहाँ व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा विचार-क्रान्ति का उदय क्रमशः परिस्थितिवश हुआ, वहाँ फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने यूरोप में व्यक्तिगत स्वतंत्रता को तेजी से जागृत किया। जहाँ जहाँ फ्रैन्च सेनायें गईं वहाँ उन्होंने व्यक्तिगत स्वतंत्रता को स्थापित करने का प्रयत्न

किया। इन दोनों कारणों से यूरोप में अभूतपूर्व व्यक्तिगत स्वतंत्रता का उदय हुआ। जहाँ भी दास प्रथा स्थापित थी, समाप्त कर दी गई। उस समय विचार-क्रान्ति, अन्वेषण और वैज्ञानिक अनुसंधान की प्रवृत्ति बहुत प्रबल हो उठी। यही कारण था कि उस समय प्रत्येक देश में एक विलक्षण हलचल प्रकट हुई।

इंग्लैण्ड तथा अन्य योरोपीय देशों के पर्यटक नये देशों की खोज में निकल पड़े। उसी समय नये महादेशों का पता लगाया गया। विदेशी बाजार तेजी से बढ़ा। प्रत्येक व्यक्ति कोई न कोई नवीन चीज का अनुसंधान करने में लगा हुआ था। बात यह थी कि आर्थिक दासता का अन्त होने पर तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के स्थापित होने पर व्यक्तियों में नवीन स्फूर्ति और नव आकांक्षा का उदय हुआ और उनमें साहसिकता तथा वैज्ञानिक अन्वेषण का अभूतपूर्व उदय हुआ।

इस वैज्ञानिक अन्वेषण की प्रवृत्ति के फलस्वरूप ही नये-नये आविष्कार हुए और औद्योगिक क्रान्ति हुई। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जो महान् आर्थिक परिवर्तन हुए, वे तब तक सम्भव नहीं थे जब तक कि व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अभाव था।

अभ्यास के प्रश्न

१—औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व समाज का आर्थिक ढाँचा किस प्रकार था, संक्षेप में लिखिए।

२—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तथा वैज्ञानिक अनुसंधान की प्रवृत्ति का क्या प्रभाव पड़ा?

अध्याय ७

औद्योगिक क्रान्ति की देन—औद्योगिक परिवर्तन

औद्योगिक क्रान्ति
क्या है

औद्योगिक क्रान्ति उन आर्थिक परिवर्तनों की श्रृंखला को कहते हैं जिनके कारण अठारहवी और उन्नीसवीं शताब्दी मे योरोपीय समाज की कायापलट हो गई। औद्योगिक क्रान्ति शब्द कुछ सीमा तक भ्रामक है, क्योंकि उससे यह ध्वनि निकलती है कि यह आर्थिक परिवर्तन एकाएक और बहुत शीघ्रता से हुए। परन्तु बात यह नहीं थी, वे आर्थिक परिवर्तन न तो अकस्मात हुए और न बहुत शीघ्रता से हुए। यदि देखा जावे तो औद्योगिक क्रान्ति की क्रिया डेढ़ सौ वर्षों में जाकर सम्पूर्ण हुई। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जो परिवर्तन हुए, वे इतने गम्भीर और व्यापक थे कि उनको क्रान्तिकारी कहना अनुचित नहीं था।

औद्योगिक क्रान्ति
यंत्रों तथा यांत्रिक
शक्ति की देन थी।

यदि देखा जावे तो औद्योगिक क्रान्ति का जन्म उत्पादन-कार्य में यंत्रों तथा यांत्रिक शक्ति (भाप) के उपयोग से हुआ। यंत्रों तथा यांत्रिक शक्ति के आविष्कार के फलस्वरूप उत्पादन का पुराना तरीका बेकार हो गया और उसका स्थान फैक्टरी पद्धति ने ले लिया।

फैक्टरी पद्धति की स्थापना के पूर्व उत्पादन कार्य कारीगरों के द्वारा अपने घरों में अपने निज के औजारों द्वारा होता था। यह कारीगर अपने गाँव अथवा नगर के स्थानीय बँधे हुए ग्राहकों के लिए ही बहुधा माल तैयार करते थे। माल को बेचने की कोई बड़ी समस्या नहीं थी। उदाहरण के लिए गाँव का चमार अपने ग्राहक से आर्डर मिलने पर उसके लिए जूता तैयार कर देता था। गाँव का कुम्हार या बढ़ई गाँव की आवश्यकताओं को पूरा करता था। कहने का तात्पर्य यह है कि गृह-उद्योग धंधों की उस व्यवस्था में कारीगर उत्पादन कार्य स्थानीय माँग

को ध्यान में रखकर ही करता था, अतः विक्री की समस्या जटिल नहीं थी, वह अत्यन्त सरल थी। कुटीर धंधे में कारीगर औजारों से स्वयं सारी क्रियाएँ करता था, अपनी सहायता के लिए वह अपने घर के सदस्यों को अथवा एक दो शिष्यों को अवश्य रखता था, परन्तु उसको समस्त क्रियाएँ करनी पड़ती थीं। उत्पादन के उस तरीके में श्रम-विभाजन (Division of Labour) अविकसित दशा में था और इतना दुरूह नहीं था जैसा कि आज है। औजार थोड़े और सस्ते होते थे, इस कारण प्रत्येक साधारण कारीगर उनको खरीद सकता था और स्वतंत्र कारीगर की हैसियत से अपना धंधा कर सकता था। बहुधा स्थानीय माँग के लिए ही उत्पादन किया जाता था। माल को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने की समस्या उपस्थित नहीं होती थी। हाँ, केवल मेलों या बाजारों मे थोड़ी विक्री होती थी जिसके लिए समीपवर्ती गावों से कारीगर माल लाते थे। यातायात की समस्या भी उस समय गम्भीर नहीं थी। कारीगर को अधिक पूँजी की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी; क्योंकि उसके औजार सस्ते और कम मूल्यवान होते थे, फिर उसे कच्चा माल बड़ी मात्रा में भरकर नहीं रखना पड़ता था। जैसे ही ग्राहक की माँग आई, वह कच्चा माल लेकर उसकी वस्तु को तैयार कर देता था। कुटीर धंधे की अवस्था में अधिक पूँजी की आवश्यकता नहीं थी। बहुधा कारीगर उतनी पूँजी को स्वयं ही जुटा लेता था, अन्यथा गाँव मे ही उसको उतनी पूँजी मिल जाती थी। उत्पादन के अतिरिक्त उसे माल की विक्री तथा कच्चा माल लेने के लिए साख की विलकुल आवश्यकता नहीं पड़ती थी। अतएव आज की भाँति उत्पादकों को साख पर निर्भर नही रहना पड़ता था और न बैंकों का इतना उस समय महत्त्व ही था।

कुटीर धंधे में मजदूर समस्या उपस्थित नहीं थी

कुटीर धंधों की व्यवस्था में मजदूरों सम्बंधी समस्याएँ नहीं के बराबर थीं। अधिकतर तो कारीगर स्वयं तथा अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से ही कार्य करता था। वह बहुधा मजदूर नहीं रखता था। मजदूरों के शोषण, उनके वेतन, उनके रहने की समस्या उपस्थित ही नहीं होती थी। परन्तु यदि कारीगर उस धंधे की शिक्षा देने के लिए एक या दो मजदूर शिष्यों को रखता भी था, तो भी

मजदूरों की कोई समस्या नहीं उठती थी। बहुधा वह मजदूर शिष्य कारीगर के किसी मित्र या सम्बधी का लड़का होता था, अथवा वह उसी गाँव का रहनेवाला होता था, अतः कारीगर उसके साथ बुरा व्यवहार नहीं कर सकता था और न उसका शोषण ही कर सकता था। शिष्य मजदूर के लिए रहने की समस्या उठती ही नहीं थी, क्योंकि वह अपने घर में रहता था अथवा कारीगर के घर में उसके साथ रहता था। कारीगर उससे अत्यधिक काम भी नहीं ले सकता था, क्योंकि कारीगर स्वयं मजदूर शिष्य के साथ काम करता था। फिर काम के घंटे सूर्य की रोशनी द्वारा निर्धारित होते थे। उस समय बिजली नहीं थी कि जिसके परिणामस्वरूप रात्रि में भी कार्य किया जा सके। कारीगर बिखरे हुए भिन्न भिन्न गाँवों में रहते थे और शिष्य मजदूर भी बहुत बिखरे हुए थे। अतएव उस समय मजदूर-संगठन करने की न तो आवश्यकता थी और न सुविधा ही थी।

उत्पादन स्थानीय माँग के लिए होता था

अधिकतर स्थानीय माँग के लिए ही उत्पादन होता था अतएव बिक्री की समस्या जटिल नहीं थी। माल को बेचने, बाहर से माल को मँगाने की उतनी आवश्यकता नहीं पड़ती थी, अतएव बाजार अधिकतर स्थानीय ही होते थे। केवल कुछ प्रसिद्ध मेलों में दूर दूर से मूल्यवान सामान बिकने आता था। देश के अन्तर्गत भी व्यापार का अधिक विस्तार नहीं था। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तो केवल नाम मात्र का ही था। केवल मूल्यवान धातुओं, रेशमी तथा अन्य बहुमूल्य वस्त्रों तथा अन्य मूल्यवान कारीगरी की चीजों तक ही उस समय अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सीमित था। गाँव तक ही बाजार की सीमा थी और अधिकांश वस्तुएँ स्थानीय माँग के लिए ही उत्पन्न की जाती थीं।

उत्पादन में यंत्र और यांत्रिक शक्ति का उपयोग।

ऊपर हमने मध्य युग में उद्योग-धंधों का जो चित्र उपस्थित किया है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस व्यवस्था में उत्पादन थोड़ी मात्रा में होता था और उत्पादन क्रिया सरल थी। आज जो आर्थिक समस्याएँ समाज के सामने उपस्थित हैं, वे उस समय नहीं थीं। अब हम उन क्रान्तिकारी परिवर्त्तनों का उल्लेख करेंगे जो कि उत्पादन कार्य में यंत्र तथा यांत्रिक शक्ति के उपयोग से उत्पन्न हुए।

उत्पादन में यंत्र के उपयोग के सम्बन्ध में एक बात समझ लेने की है। यंत्र और औजार में एक बड़ा भेद है। औजार को मनुष्य अपनी शारीरिक शक्ति द्वारा संचालित करता है और वह सादा होता है। परन्तु यंत्र मनुष्य द्वारा संचालित नहीं होता, वरन् यांत्रिक शक्ति द्वारा संचालित होता है। मशीन और औजार मे एक मौलिक भेद यह उत्पन्न हो जाता है कि मनुष्य औजार के द्वारा मनमाने ढंग से कई प्रकार की क्रियाएँ कर सकता है; परन्तु यंत्र के द्वारा केवल एक सूक्ष्म क्रिया ही की जा सकती है। उदाहरण के लिए एक चाकू से किसी वस्तु को हम काट भी सकते हैं और छील भी सकते हैं, किन्तु काटनेवाली मशीन केवल वस्तु को काटेगी, छील नहीं सकती। एक मशीन जिसका कार्य किसी वस्तु में छेद करना है, वह उसमें केवल छेद करती रहेगी और दूसरा कार्य नहीं कर सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि यंत्र या मशीन किसी ऐसी सूक्ष्म क्रिया को ही कर सकते हैं जो कि केवल एक हरकत मात्र हो। जिस क्रिया में कई हरकतें होती हों, वह मशीन या यंत्र नहीं कर सकता। जब तक कि श्रम-विभाजन इतना सूक्ष्म न हो जावे कि वह छोटी छोटी सूक्ष्म उपक्रिया में बाँटा जा सके, तब तक उसको करने के लिए मशीन का आविष्कार नहीं किया जा सकता। जब कि सूक्ष्म श्रम-विभाजन के द्वारा प्रत्येक क्रिया को छोटी छोटी सूक्ष्म उपक्रिया में बाँट दिया जाता है, तब प्रत्येक उपक्रिया अत्यन्त सरल और आसान हो जाती है। वास्तव में वह इतनी सरल हो जाती है कि उसको करने के लिए एक मशीन का आविष्कार किया जा सकता है। मशीन की विशेषता यह है कि वह एक ही सूक्ष्म क्रिया कर सकती है। मनुष्य अपने हाथ को घुमा-फिराकर सैकड़ों क्रियाएँ कर सकता है। उदाहरण के लिए एक बोरिंग मशीन केवल छेद कर सकती है, वह लकड़ी पर रंदा नहीं कर सकती। जब श्रम-विभाजन सूक्ष्म हो जाता है, तब एक क्रिया अत्यन्त सरल और सामान्य सूक्ष्म क्रियाओं में बँट जाती है, उस समय उसको करने के लिए कोई भी कुशाग्र बुद्धि कारीगर मशीन का आविष्कार कर सकता है। इस प्रकार श्रमविभाजन के फलस्वरूप मशीनों का आविष्कार होता है और मशीनों के आविष्कार के फलस्वरूप श्रमविभाजन और

श्रम-विभाजन का जटिल होना और बड़ी मात्रा का उत्पादन।

अधिक सूक्ष्म हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि उत्पादन की आश्चर्यजनक गति से वृद्धि होती है और लागत व्यय बहुत कम हो जाता है।

श्रम-विभाजन तथा यंत्रों के उपयोग के फलस्वरूप बड़ी मात्रा का उत्पादन अनिवार्य हो जाता है। यह सम्भव नहीं है कि कोई उत्पादन में यंत्रों का भी उपयोग करे और छोटी मात्रा में उत्पादन करे। यंत्रों द्वारा छोटी मात्रा का उत्पादन कभी लाभदायक नहीं हो सकता। कल्पना कीजिए कि कोई एक यंत्र संचालित कर्घा (पावर लूम) दिन में १५० गज कपड़ा तैयार करता है और एक हाथकर्घा पाँच गज कपड़ा तैयार करता है। अब यदि एक जुलाहा केवल १५ गज का एक थान प्रतिदिन तैयार करना चाहता है और वह पावर लूम का उपयोग करता है, तो पावर लूम पर एक घंटे में पंद्रह गज कपड़ा तैयार हो जावेगा और शेष समय पावर लूम वेकार रहेगा। यंत्र अधिक मूल्यवान होता है, उसमे वहुत अधिक पूँजी फँसानी पड़ती है। उस पूँजी पर जो सूद और घिसावट का व्यय आता है, वह तभी निकल सकता है जब कि मशीन बराबर काम करे और अधिक मात्रा में उत्पादन हो। यही नहीं कि छोटी मात्रा के उत्पादन से यत्र का पूरा उपयोग नहीं हो सकता और उससे लागत व्यय बहुत अधिक बढ़ जावेगा; परन्तु एक दो मशीनों को भी नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि वहुत सी क्रियाएँ ऐसी होती है कि वे यंत्रों द्वारा तभी हो सकती हैं जव कि वस्तुएँ यथेष्ट मात्रा मे हों। उदाहरण के लिए प्रत्येक सूती वस्त्र के कारखाने के साथ ब्लीचिंग और डाइंग विभाग होता है, जहाँ कपड़े को फिनिश किया जाता है। परन्तु यदि कोई कारखाना दिन में दो-चार थान कपड़ा ही तैयार किया करे तो ब्लीचिंग और डाइंग विभाग को रखना असम्भव हो जावेगा। संचालन शक्ति (भाप) का भी उपयोग तभी हो सकता है जब कि यथेष्ट यंत्र चलाये जावे, नहीं तो वह वहुत खर्चीली प्रमाणित होगी। स्टीम इंजन से भाप उत्पन्न करके यंत्र तभी चलाये जा सकते हैं जब कि यथेष्ट यंत्र भाप द्वारा संचालित हों। यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि यंत्र का उपयोग तभी होता है, जव कि क्रियाएँ अत्यन्त सूक्ष्म और सरल हो जाती है और श्रम-विभाजन अपनी चरम सीमा

यंत्र के उपयोग का परिणाम बड़ी मात्रा का उत्पादन

पर पहुँच जाता है। उदाहरण के लिए किसी भी धंधे को ले लीजिए, जब वह सैकड़ों सूक्ष्म-उपक्रियायों में बँट जाता है तभी मशीन का उपयोग किया जा सकता है। केवल एक आलपीन बनाने में ही अस्सी से अधिक उपक्रियाएँ होती हैं। अब यदि उन अस्सी मशीनों के लिए केवल थोड़ी सी आलपीनों को बनाने का काम हो, तो अधिकांश समय वे मशीनें और उन पर काम करनेवाले आदमी बेकार रहेंगे। यदि उत्पादन में मशीनों का उपयोग करना हो, तो बड़ी मात्रा का उत्पादन करना आवश्यक हो जाता है। केवल मशीनों के पूर्ण उपयोग तथा भाप उत्पन्न करने के व्यय के कारण ही बड़ी मात्रा का उत्पादन आवश्यक नहीं हो जाता, वरन व्यवस्था तथा बिक्री का प्रबंध करने में जो व्यय होता है, उसकी दृष्टि से भी बड़ी मात्रा का उत्पादन आवश्यक हो जाता है। ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट हो गया कि यंत्रों तथा यंत्र संचालित शक्ति के उपयोग के परिणामस्वरूप बड़ी मात्रा का उत्पादन अनिवार्य हो जाता है और कुटीर धंधों का स्थान फैक्टरी पद्धति ले लेती है।

बड़ी मात्रा के उत्पादन तथा फैक्टरी पद्धति की स्थापना से समाज का सारा आर्थिक ढाँचा ही बदल गया; क्योंकि कुटीर धंधों के लिए जिन बातों की आवश्यकता थी, उससे बड़ी मात्रा के
उत्पादन में सर्वथा विपरीत बातों की आवश्यकता होने फैक्टरी पद्धति
लगी। बड़ी मात्रा के उत्पादन के लिए सबसे पहली
आवश्यकता पूँजी की है। कुटीर धंधों की अवस्था में प्रत्येक कारीगर स्वतंत्र रूप से अपना व्यवसाय कर सकता है; परन्तु फैक्टरी स्थापित करने के लिए अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। कारीगर किसी भी दशा में इतनी पूँजी एकत्रित नहीं कर सकता कि वह एक कारखाना स्थापित कर सके। औद्योगिक क्रान्ति के फल-स्वरूप कारीगर मजदूर की श्रेणी मे पहुँच गया और व्यापारी तथा सामन्त वर्ग मे से एक पूँजीवादी वर्ग का उदय हुआ जो कि आवश्यक पूँजी एकत्रित करके कारखाने स्थापित करता था और कारीगरों को मजदूर रखकर उत्पादन कार्य करने लगा। आरम्भ में सामन्त वर्ग तथा बड़े व्यापारियों ने ही इन कारखानों को स्थापित किया; परन्तु बाद को इन कारखानों के लाभ से क्रमशः वह प्रबल पूँजीपति वर्ग स्थापित हो गया, जिसने आर्थिक यंत्र पर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लिया। फैक्टरी प्रणाली के स्थापित होते ही

स्वतंत्र कारीगर वर्ग लुप्त हो गया, वह मजदूरों की श्रेणी में पहुँच गया और उसकी स्थिति दयनीय हो गई।

आज एक कारखाने का मजदूर यह कभी स्वप्न में भी नहीं सोच सकता कि वह कभी एक कारखाने का स्वामी बन सकता है।

मजदूर वर्ग का उदय

औद्योगिक कार्य में दो वर्गों का उदय हुआ—एक मजदूर वर्ग और दूसरा पूँजीपति वर्ग। इन दोनों वर्गों के परस्पर स्वार्थ भिन्न है, अतः उनमें संघर्ष उपस्थित हो जाता है। मजदूर अधिक मजदूरी, अधिक अवकाश, रहने की सुविधा, लाभ में हिस्सा और अच्छा व्यवहार चाहता है, तो पूँजीपति का उद्देश्य अधिक से अधिक लाभ कमाना होता है। परस्पर-विरोधी स्वार्थ होने के कारण मजदूर और पूँजीपतियों में संघर्ष होने की संभावनाएँ बढ़ गई हैं और इसका समाधान करना आवश्यक हो गया है।

फैक्टरी पद्धति के उदय के कारण एक समस्या और भी उपस्थित हुई, वह है औद्योगिक केन्द्रों में रहने की समस्या। कुटीर उद्योग धंधे

औद्योगिक केन्द्रों मे मकानों की समस्या

बिखरे हुए गाँवों में स्थापित थे। कारीगर और उनके शिष्य अपने घरों में रहकर ही कार्य करते थे; परन्तु जब भीमकाय कारखाने और पुतलीघर स्थापित हुए तो कारीगरों को अपने कुटीर धंधों को छोड़कर इन कारखानों में मजदूरी करने के लिए आना पड़ा। लाखों की संख्या में मजदूर एक स्थान पर एकत्रित हो गए। इसके कारण औद्योगिक केन्द्रों में मकानों की समस्या ने विकट रूप धारण कर लिया। औद्योगिक विकास की एक विशेषता यह भी रही है कि एक धंधे के कारखाने एक स्थान पर केन्द्रित हो गए। उदाहरण के लिए बम्बई और अहमदाबाद में सूती मिलें स्थापित हो गईं। यह धंधों के स्थानीयकरण (Localisation of Industries) अथवा प्रादेशिक श्रम-विभाजन (Territorial Division of Labour) के कारण हुआ। किन्तु जब एक ही स्थान पर बहुत बड़ी संख्या में कारखाने स्थापित हो गए और लाखों मजदूर उनमें काम करने लगे, तो रहने के मकानों की समस्या ने भयंकर रूप धारण कर लिया। आज बड़े औद्योगिक

केन्द्रों में जो रहने के लिए मकानों की समस्या ने भयंकर रूप धारण कर लिया है, वह औद्योगिक क्रान्ति का ही परिणाम है।

कार्य के घंटो को निश्चित करने की समस्या

फैक्टरियों में यंत्रों पर मजदूर कार्य करते हैं और यंत्र यांत्रिक शक्ति द्वारा संचालित होते हैं। यदि कार्य के घंटे निर्धारित न कर दिए जावें तो मिल-मालिक मजदूरों को अत्यधिक कार्य करने पर विवश कर सकते हैं। कारण यह है कि कुटीर धंधे मे मालिक कारीगर स्वय अन्य शिष्यों या मजदूरों के साथ कार्य करता था, किन्तु फैक्टरी के मालिक फैक्टरी से सैकड़ों मील दूर रहते हैं ; वे कभी मजदूरों के सम्पर्क में भी नहीं आते। मजदूरों से काम लेने का कार्य मिल-मालिकों के वेतनभोगी मैनेजर, इंजीनियर तथा विभागीय अध्यक्ष करते है। स्वभावत: वे अपनी कार्यदक्षता दिखलाने के लिए मजदूरों से अधिक से अधिक काम लेना चाहते है और उनको कम वेतन तथा कम सुविधाऍ देना पसंद करते हैं।

केवल यही वात नहीं है कि आधुनिक कारखानों में मिल-मालिक अधिक लम्वे समय तक काम ले सकते है, वरन वे यदि चाहें तो कार्य की गति को भी वहुत तेज कर सकते हैं जिससे कि मजदूर को वहुत जल्दी ही थकावट हो जा सकती है। कारण यह है कि जव कुटीर धंधे में कारीगर अपने औजारों से कार्य करता था तो कार्य की गति को वह स्वयं निर्धारित करता था ; किन्तु आज जव मजदूर यंत्रों पर कार्य करता है और वे यंत्र यांत्रिक शक्ति से संचालित होते है, तो मिल-मालिक वहुत कुछ सीमा तक कार्य की गति को निर्धारित कर सकता है।

आधुनिक कारखानों में यंत्रों द्वारा कार्य होने की दशा में मजदूरों को जोखिम भी अधिक वढ़ गई है। चाहे जितनी सावधानी वरती जावे फिर भी कार्य करते समय प्रतिवर्ष कारखानों में कुछ मजदूरों को गम्भीर चोट लग जाती है और कुछ को अपने प्राण गॅवाने पड़ते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मजदूरों से सम्वंधित वहुत सी समस्याएँ उठ खड़ी हुईं जिनको हल करना आवश्यक हो गया है। उदाहरण के लिए औद्योगिक केन्द्रों में

मजदूरों के लिए अच्छे हवादार मकान तैयार करने, फैक्टरियों में काम के घंटे निर्धारित करने, फैक्टरियाँ ऐसी हों जिससे कि मजदूरों को अधिक कष्ट न हो, तथा चोट इत्यादि लगने पर हर्जाने की व्यवस्था करना आवश्यक हो गया है। यही कारण है कि हम आये दिन देखते हैं कि सरकारें मजदूरों के हितों की रक्षा करने के लिए एक के बाद दूसरे कानून बनाती जा रही हैं।

मजदूर आन्दोलन की आवश्यकता

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप मालिक तथा मजदूर के पारस्परिक स्वार्थों में इतना मौलिक भेद हो गया कि मजदूरों के लिए अपने हितों की रक्षा करने के लिए अपने को संगठित करने की आवश्यकता हुई और आधुनिक मजदूर आन्दोलन और मजदूर संगठनों का प्रादुर्भाव हुआ।

संक्षेप में हम कह सकते है कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप पूँजीवादी व्यवस्था का जन्म हुआ। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि आरम्भ में बड़े बड़े कारखानों की स्थापना के लिए पूँजी सामन्त वर्ग तथा व्यापारी वर्ग ने दी; किन्तु इन कारखानों के लाभ से फिर तेजी से पूँजी एकत्रित होने लगी और एक पूँजीपति वर्ग का उदय हुआ। कारखानों के मालिकों ने अपने कारखानों के लाभ को नये नये कारखानों को स्थापित करने में लगाया। इस प्रकार उनका लाभ बराबर बढ़ता ही गया। वे लोग इस निरंतर बढ़ते हुए लाभ को नये कारखानों में लगाते गए। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक देश में कुछ थोड़े से व्यक्तियों का धंधों पर स्वामित्व स्थापित हो गया और समाज में भयंकर आर्थिक विषमता का उदय हो गया। आज बहुत से देशों में स्थिति यह है कि देश के समस्त धन का बहुत बड़ा भाग थोड़े से व्यक्तियों के पास है और शेष जनसंख्या निर्धनता का जीवन व्यतीत करती है। इन पूँजीपतियों का समाज में क्रमशः प्रभाव भी बहुत अधिक बढ़ गया। वे राजनैतिक दलों को आर्थिक सहायता देकर उन पर प्रभाव डालते है, पत्रों को अपने हाथ में रखकर जनमत पर भी प्रभाव डालते हैं। कतिपय पूँजीपतियों का लगातार आर्थिक प्रभाव बढ़ने के कारण तथा उनके पास अधिकाधिक पूँजी एकत्रित होने के कारण उन्होंने

पूँजीवादी व्यवस्था की स्थापना

धंधों पर एकाधिपत्य स्थापित करने का प्रयत्न किया और आज हम देखते हैं कि वहुधा धंधा में एकाधिपत्य (monopoly) या ट्रस्ट स्थापित हो चुके हैं। इस प्रकार जो भी थोड़ी बहुत प्रतिस्पर्द्धा धंधों में विद्यमान थी, वह भी समाप्त हो गई और इन धन-कुबेर व्यवसायियों की आर्थिक शक्ति वहुत वढ़ गई। आज अमेरिका, ब्रिटेन तथा अन्य औद्योगिक राष्ट्रों में हम देखते हैं कि लगभग प्रत्येक धंधे मे ट्रस्ट और एकाधिपत्य (monopoly) स्थापित हो चुके है।

खरीद-विक्री की व्यवस्था

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जब बड़ी मात्रा का उत्पादन होने लगा तो उसकी बिक्री की व्यवस्था तथा कारखानों के लिए कच्चे माल की खरीदारी की समस्या भी उपस्थित हुई। कुटीर धंधे में न तो कच्चे माल की खरीदारी की कोई समस्या थी और न विक्री की ही कोई समस्या थी। परन्तु वड़े वड़े कारखाने अनन्त राशि में कच्चे माल की खपत करते है और बहुत वड़ी मात्रा मे उत्पादन करते हैं। अतएव सवसे पहले संगठित वाजारों की आवश्यकता हुई। आज जो हम काटन ऐक्सचेज या अन्य संगठित वाजार देखते हैं तथा उत्पादकों और उपभोक्ताओं के बीच में एक मध्यस्थ व्यापारी वर्ग देखते है, वह वड़ी मात्रा के उत्पादन का ही परिणाम है। जब उत्पादन वड़ी मात्रा में होने लगा और प्रादेशिक श्रम-विभाजन के कारण भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न धंधे केन्द्रित हो गए, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भी वढ़ा।

गमनागमन के साधनों की आवश्यकता

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जब बहुत वड़ी राशि मे कच्चे पदार्थो को औद्योगिक केन्द्रों तक लाने तथा तैयार माल को बेचने की समस्या उपस्थित हुई, तो यह आवश्यक हो गया कि यातायात के साधनों की उन्नति हो। स्टीम इंजन के उपयोग से जो रेलों का तथा स्टीमशिप का प्रादुर्भाव हुआ, उससे ही औद्योगिक क्रान्ति तथा वड़ी मात्रा का उत्पादन सफल हुआ। यदि यातायात के साधनों की यंत्रों के आविष्कार के साथ-साथ उन्नति न होती, तो औद्योगिक क्रान्ति सम्भव ही नहीं होती।

साख तथा बैंकिंग की आवश्यकता

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि बड़ी मात्रा के उत्पादन के फलस्वरूप अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। परन्तु बढ़े हुए व्यापार तथा बड़े कारखानों के लिए चालू आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए थोड़े समय के लिए साख की बहुत अधिक आवश्यकता होती है। फलस्वरूप साख की आवश्यकता बहुत अधिक बढ़ गई। आज तो साख का इतना अधिक महत्त्व है कि उसके बिना व्यापार और व्यवसाय का चलना असम्भव है। यही कारण है कि औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त बैंकों का तेजी से विस्तार हुआ है।

व्यवस्था की समस्या

कुटीर धंधों में व्यवस्था की कोई विशेष समस्या नहीं थी। कारीगर उत्पादन तथा बिक्री इत्यादि की स्वयं व्यवस्था कर लेता था; परन्तु जब बड़ी मात्रा का उत्पादन आरम्भ हुआ और बड़े बड़े कारखाने स्थापित होने लगे, तो पूँजी की इतनी अधिक आवश्यकता हुई और धंधे की जोखिम इतनी अधिक बढ़ गई कि एक व्यक्ति के लिए उतनी पूँजी एकत्रित करना तथा उस जोखिम को उठाना सम्भव नहीं रहा। अतएव परिमित दायित्ववाली मिश्रित पूँजी की कंपनियाँ (Joint Stock Companies) की स्थापना हुई। आज यही व्यवस्था औद्योगिक जगत् में सर्व प्रचलित है।

कहने का तात्पर्य यह है कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप समाज के आर्थिक ढाँचे में एक महान् क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो गया। प्राचीन सरल और सीधी आर्थिक व्यवस्था के स्थान पर एक अत्यन्त पेचीदा और जटिल आर्थिक व्यवस्था स्थापित हो गई। इसमें कोई संदेह नहीं कि धनोत्पत्ति बहुत अधिक बढ़ गई और रहन-सहन का दर्जा बहुत ऊँचा हो गया।

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप प्रादेशिक श्रम-विभाजन का उदय हुआ और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बहुत अधिक बढ़ गया। उदाहरण के लिए लंकाशायर तथा मैंचेस्टर शायर की सूती मिलें अनन्त राशि में सूती कपड़ा बनाकर गरम देशों को भेजने लगीं। इसी प्रकार अमेरिका

और ब्रिटेन के लोहे और स्टील के कारखाने अधिकांश विदेशी माँग को पूरा करते हैं। यदि किसी कारणवश विदेशों में इन वस्तुओं की माँग कम हो जावे, तो इन देशों मे बेकारी फैल जाती है।

बेकारी की समस्या

जब भारत ब्रिटेन से बहुत अधिक राशि में सूती वस्त्र मँगाता था और भारत में फसल खराब होने से किसान कम कपड़ा खरीदता था और विदेशी वस्तु-बहिष्कार के कारण विदेशी वस्त्र की माँग कम हो जाती थी, तो लंकाशायर और मैंचेस्टर शायर में भयंकर बेकारी फैल जाती थी। इस बेकारी पर न तो मजदूर का ही वस है और न मिल-मालिक का। समय-समय पर इस प्रकार बाहरी कारणों से बेकारी फैल जाना आधुनिक फैक्टरी पद्धति का अनिवार्य परिणाम है। औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व स्थानीय माँग के अनुरूप ही कारीगर उत्पादन करते थे, इस कारण बाहरी कारणों से बेकारी फैलने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। परन्तु औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप यह आये दिन की एक गम्भीर समस्या बन गई है। प्रत्येक औद्योगिक राष्ट्र को इस समस्या को हल करने के लिए आज प्रयत्नशील होना पड़ता है। आज प्रत्येक देश की सरकार अपनी औद्योगिक, व्यापारिक तथा मुद्रा सम्बधी नीति इस दृष्टि से निर्धारित करती है कि जिससे देश को बेकारी से बचाया जा सके। यही नहीं, प्रत्येक औद्योगिक राष्ट्र में बेकारी का बीमा इत्यादि सुविधाएँ उपलब्ध की गई हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१—औद्योगिक क्रान्ति से आपका क्या तात्पर्य है, विस्तारपूर्वक लिखिए।

२—"औद्योगिक क्रान्ति यान्त्रिक शक्ति और यंत्रों के आविष्कार का परिणाम है" इस वक्तव्य की व्याख्या कीजिए।

३—यंत्रों तथा यांत्रिक शक्ति के उपयोग से बड़ी मात्रा के उत्पादन की आवश्यकता क्यों पड़ी, समझाइए।

४—औद्योगिक क्रान्ति से समाज के ढाँचे में क्या परिवर्तन हुआ?

५—वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था में औद्योगिक बेकारी का उदय होना क्यों अवश्यम्भावी है?

६—फैक्टरी व्यवस्था का मजदूरों की स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा?

विशेष अध्ययन के लिए

1. Industrial and Commercial Revolution by L. C. A. Knowles.
2. Ogg and Sharp Economic Development of Modern Europe.

——

अध्याय ८

व्यापारिक क्रान्ति

मानव जाति का आर्थिक विकास तीन स्थितियों में से होकर निकला है। आरम्भ में प्रत्येक व्यक्ति स्वयं आर्थिक स्वावलम्बन का प्रयत्न करता था। यह स्थिति अत्यन्त प्राचीन काल में उपस्थित थी। तदुपरान्त स्थानीय आर्थिक स्वावलम्बन का युग आया जो मध्यकाल तक रहा। स्थानीय आर्थिक स्वावलम्बन की दशा में समीपवर्ती गाँवों तथा नगरों के समीपवर्ती प्रदेश तक ही व्यापार परिमित था। कारण यह था कि यातायात के साधन उस समय उन्नत नहीं थे। तदुपरान्त व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होकर समस्त देश हो गया और यातायात के साधनों की उन्नति होने के फलस्वरूप आज सारी पृथ्वी एक आर्थिक इकाई बन गई है और प्रत्येक देश एक दूसरे से व्यापार करता है। यह व्यापारिक क्रान्ति यान्त्रिक यातायात के साधनों की देन है।

आरम्भ में मनुष्य पशुओं की पीठ पर लादकर या नावों द्वारा माल एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाता था। उस स्थिति में बाजार का क्षेत्र बहुत विस्तृत नहीं हो सकता था, केवल समीपवर्ती स्थानों मे व्यापारिक आदान-प्रदान होता था। हाँ, जो स्थान नदियों के किनारे थे, उनका व्यापारिक क्षेत्र कुछ अधिक विस्तृत होता था। यों हवा के द्वारा चलनेवाले समुद्री जहाज भी मध्यकाल मे चलते थे और उनके द्वारा एक देश का दूसरे देश से व्यापार होता था। परन्तु उस समय अन्तरदेशीय व्यापार मे इतनी अधिक जोखिम थी और इतना अधिक समय लगता था कि केवल अत्यन्त बहुमूल्य पदार्थों का ही व्यापार सम्भव था।

यदि व्यापार इतने संकुचित क्षेत्र में ही सम्भव हो सकता और यातायात का व्यय पूर्वानुसार ही अधिक रहता, तो औद्योगिक क्रान्ति विफल हो जाती और बड़ी मात्रा का उत्पादन असम्भव हो जाता। किन्तु जैसे जैसे उत्पादन के क्षेत्र में मनुष्य प्रगति करता गया, वैसे ही वैसे

उसने गमनागमन तथा संदेशवाहक साधनों को भी विकसित किया। व्यापारिक क्रान्ति यांत्रिक यातायात तथा संदेशवाहक साधनों के द्वारा ही सम्भव हो सकी।

क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति सर्वप्रथम ब्रिटेन में हुई अतएव यातायात के साधनों में क्रान्ति की आवश्यकता भी सर्वप्रथम ब्रिटेन मे ही उपस्थित हुई। इससे पूर्व ब्रिटेन मे सड़कों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। उस समय ब्रिटेन में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना अत्यन्त कठिन था। पहियादार गाड़ियों को चलने में कठिनाई होती थी। सड़कों मे गड्ढे होते थे और वर्षा के कारण दलदल बन जाते थे।

औद्योगिक क्रान्ति के आसपास ही पार्लियामेंट ने सड़कों को सुधारने तथा उनकी मरम्मत इत्यादि करने के लिए ४०० ऐक्ट बनाकर व्यक्तियों को सड़कों का ठेका दे दिया। ये ठेकेदार सड़कों को बनाने और उनकी मरम्मत करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति तथा सवारी से, जो उस सड़क का उपयोग करती थी, कर वसूल करते थे। परन्तु जब तक सड़क बनाने की कला का विकास न होता, तब तक सड़कों की उन्नति नहीं हो सकती थी। उसी समय कुछ सड़कों के निर्माताओं का उदय हुआ जिन्होंने सड़कों के बनाने में विशेष उन्नति की। इनमें मेटकाफ, टेलफोर्ड, ब्रिंडले, स्मटिन और रेनी इत्यादि मुख्य थे। इन्होंने सड़कों को बनाने की कला और विज्ञान का आविष्कार किया। बाद को मैकडामन ने सड़कों के ऊपरी धरातल को अधिक समतल और अच्छा बनाने की कला मे विशेष सुधार किए। इन्हीं इंजीनियरों ने नौका संचालन के लिए नहरों का भी निर्माण किया। इस प्रकार ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति की प्रारम्भिक दशा मे सड़कों और नहरों की विशेष उन्नति हुई और तभी औद्योगिक क्रान्ति सफल हो सकी।

परन्तु केवल सड़कों और नहरों की उन्नति से ही औद्योगिक क्रान्ति पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकती थी। सड़को और नहरों की उन्नति से बड़े उद्योग-धंधों का विकास भर हो सका; परन्तु बड़ी मात्रा के उत्पादन के लिए रेलवे तथा भाप से चलनेवाले जहाजों की आवश्यकता थी। उनके बिना बड़ी मात्रा का उत्पादन बहुत अधिक नही बढ़ाया जा सकता।

रेलवे तथा भाप द्वारा चालित समुद्री जहाजों के आविष्कार का श्रेय भी ब्रिटेन को ही था। रेलवे तथा भाप द्वारा चालित समुद्री जहाजों के आविष्कार से आर्थिक जगत् मे एक नई शक्ति उत्पन्न हो गई। रेलवे तथा समुद्री जहाजों के आविष्कार के फलस्वरूप भारी माल को कम व्यय में बहुत दूर तक ले जाना सम्भव हो गया। यही नहीं, यातायात में तेजी, सुरक्षा, निश्चिन्तता, नियमितता तथा सस्तापन आ गया। यान्त्रिक यातायात के फलस्वरूप पर्वतों की रुकावट भी दूर हो गई और उन बड़े प्रदेशों में जहाँ जल मार्ग नहीं थे, गमनागमन आसान हो गया। यही नहीं, बाद में वायुयानों के आविष्कार से आकाश में गमनागमन के साधनों की सुविधा हो गई और वायुमार्गों द्वारा दूरी का प्रश्न हल हो गया।

इसका परिणाम क्रान्तिकारी हुआ। वस्तुओं और मनुष्यों की गतिशीलता बहुत अधिक बढ़ गई। व्यापार का क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया, और बड़ी मात्रा के उद्योग-धंधों का तेजी से विस्तार हुआ। यांत्रिक यातायात के फलस्वरूप केवल व्यापारिक क्रान्ति ही हुई हो, यही बात नहीं थी, वरन राजनैतिक दृष्टि से बड़े बड़े राष्ट्रों और साम्राज्यों का विकास भी यान्त्रिक यातायात के फलस्वरूप ही हुआ। उदाहरण के लिए संयुक्तराज्य अमेरिका, रूस, जर्मनी जैसे प्रबल राष्ट्रों का उदय केवल रेलवे के कारण ही सम्भव हुआ और ब्रिटेन का साम्राज्य बहुत कुछ रेल तथा समुद्री जहाँजों की उन्नति से ही सम्भव हो सका।

वस्तुओं की इस नवीन गतिशीलता के कारण व्यापार का क्षेत्र, व्यापारिक संगठन सभी में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गए। उत्पादन मे विशेषीकरण के फलस्वरूप उद्योग धंधों का केन्द्रीयकरण अथवा स्थानीयकरण होने लगा। जिस देश में और जिस स्थान पर किसी धंधे विशेष के लिए विशेष सुविधाएँ थीं, वही धंधा उस स्थान पर केन्द्रित हो गया। प्रत्येक औद्योगिक केन्द्र और प्रत्येक देश में कुछ धंधों विशेष की स्थापना हुई और इस प्रकार व्यापार का क्षेत्र व्यापक हो गया। उदाहरण के लिए बम्बई की सूती वस्तु की मिलें केवल भारत के भिन्न-भिन्न राज्यों को ही वस्त्र नहीं देतीं, वरन अफ्रीका तथा पूर्वीय द्वीपों में भी उनका कपड़ा जाता है। अतएव देश में बड़ी मात्रा में उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं के वितरण के लिए तथा विदेशों में माल भेजने के लिए नये प्रकार के

व्यापारिक संगठन की आवश्यकता प्रतीत हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्र स्थापित हुए और थोक व्यापारी तथा फुटकर व्यापारी देश के आन्तरिक व्यापार के लिए तथा आयात और निर्यात व्यापार करनेवाले व्यापारी विदेशी व्यापार के लिए आवश्यक होगए।

बड़ी मात्रा के उत्पादन के फलस्वरूप बड़ी मात्रा की खरीद बिक्री की भी आवश्यकता पड़ने लगी। उदाहरण के लिए जब गृह-उद्योगों के द्वारा छोटी मात्रा का उत्पादन होता था, तो कच्चा माल थोड़ी मात्रा मे कारीगर खरीदता था तथा स्थानीय माँग के उपयुक्त पक्का माल तैयार करता था। किन्तु अब एक औद्योगिक केन्द्र में सैकड़ों कारखाने एक ही वस्तु तैयार करते है, उनको अनन्त राशि में कच्चा माल चाहिए और वे अनन्त राशि में पक्का माल तैयार करते हैं। उसके लिए संगठित बाजारों की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि आज प्रत्येक वस्तु का हमें संगठित बाजार देखने को मिलता है। उदाहरण के लिए सोने-चाँदी का बाजार, कपास का बाजार, जूट का बाजार, लोहे का बाजार, शेयर बाजार आदि। इन बाजारों मे इन वस्तुओं को खरीदने और बेचनेवाले इन वस्तुओं की खरीद बिक्री भी करते है और वहाँ सट्टा भी होता है।

परन्तु बड़ी मात्रा के उत्पादन और बड़ी मात्रा के व्यापार के लिए उतनी ही बड़ी मात्रा में अर्थ की भी आवश्यकता होती है। यही कारण है कि अधिक पूँजी एकत्रित करने तथा उस बड़ी जोखिम को बहुत से व्यक्तियों में बाँटने तथा उसे सीमित करने के उद्देश्य से परिमित दायित्व (Limited Liability) सिद्धान्त का आविष्कार हुआ और मिश्रित पूँजीवाली कम्पनी की स्थापना हुई। मिश्रित पूँजीवाली कम्पनी-व्यवस्था में जोखिम सीमित हो जाती है और सीमित जोखिम भी बहुत से लोगों में बँट जाती है। साथ ही अधिक पूँजी भी इकट्ठी हो जाती है। यही कारण है कि बड़ी मात्रा के उत्पादन तथा व्यापार के फलस्वरूप परिमित दायित्ववाली मिश्रित पूँजी की कम्पनी-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ।

परन्तु केवल इस व्यवस्था से ही पूँजी की समस्या का हल नहीं हो जाता। बड़ी मात्रा के उत्पादन में और बड़ी मात्रा के व्यापार मे

बहुत बड़ी राशि में साख की आवश्यकता होती है, अतएव औद्योगिक क्रान्ति के बाद आधुनिक ढंग के बैंकों की स्थापना आवश्यक हो गई।

साख की आवश्यकता इस कारण पड़ती है, क्योंकि जो व्यापारी तथा व्यवसायी कारबार करते हैं, उनके पास यथेष्ट पूँजी नहीं होती। यदि किसी दूकान में दूकानदार ने दस हजार निज की पूँजी लगाई है, तो उसकी दूकान में ३० या ४० हजार का माल होता है। इसी प्रकार एक व्यवसायी जितनी पूँजी एक कारखाने को खड़ा करने में लगाता है, उससे कहीं अधिक साख बैंकों से लेकर वह कच्चा माल खरीदता है और मजदूरों की मजदूरी चुकाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि कृषि, औद्योगिक तथा व्यापारिक क्रान्ति के उपरान्त किसानों, व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को बहुत बड़ी राशि में साख की आवश्यकता होती है जिसके लिए बैंकों की आवश्यकता हुई।

पूर्व समय में जब खेती, गृह-उद्योग-धंधे और व्यापार स्थानीय और, छोटी मात्रा मे होते थे, तो उनकी साख की आवश्यकता भी बहुत कम थी, और यदि पड़ती भी थी तो वे स्थानीय व्यक्तियों से, जो उनको और उनके कारबार से परिचित होते थे, ऋण ले लेते थे। परन्तु आज यह सम्भव नहीं है।

साख के लिए आवश्यकता इस बात की है कि जो ऋण लेता है उसमें उधार देनेवाले का विश्वास हो। लेकिन यह विश्वास ऋण-लेने-वाले की ईमानदारी, ऋण को चुकाने की योग्यता तथा जो जमानत वह देता है, उसके स्वरूप पर निर्भर है। किन्तु आज यह कार्य इतना पेचीदा है कि कोई व्यक्ति इसको नहीं कर सकता। फिर एक व्यक्ति जितना उधार दे सकता है वह इतना कम होता है कि आधुनिक व्यापार अथवा उद्योग धंधे के लिए उसकी कोई उपयोगिता नहीं होती। यदि देश की पूँजी को इकट्ठा करने तथा उधार लेनेवालों की साख की जाँच-पड़ताल करने के लिए कोई उचित व्यवस्था न की जावे, तो इसका परिणाम यह होगा कि देश की बहुत सी पूँजी बेकार रहेगी। बैंक इस कार्य को करते हैं। एक ओर वे उन लोगों की बचत को डिपाजिट के रूप में आकर्षित करते हैं, जो अपनी आय का एक अंश बचाते हैं और दूसरी ओर उन व्यापारियों तथा व्यवसायियों को साख देते हैं, जो उस साख का उत्पादन कार्य में उपयोग करते है।

आधुनिक बैंक केवल डिपाजिट लेने और साख देने का ही कार्य नहीं करते है, वे हुण्डियों और बिलों को भुनाते हैं और इस प्रकार व्यापार को सहायता देते है। विदेशी मुद्रा को खरीदते और बेचते हैं, जिससे कि विदेशी व्यापार सम्भव हो सकता है। बैंक एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजने का कार्य बहुत थोड़े कमीशन पर करते है। वे यात्रियों के लिए साख पत्र- (Letters of Credit) देते हैं।

बैंक के कार्य

इन कार्यों के अतिरिक्त बैंक अपने ग्राहकों के लिए बहुत से कार्य करते है। उदाहरण के लिए उनके जेवर तथा अन्य बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखना, ग्राहकों के सरकारी ऋण खरीदना, या कंपनियों के हिस्से खरीदना, ग्राहकों के चैकों, बिलों या हुंडियों का रुपया वसूल करना इत्यादि। इनके अतिरिक्त आधुनिक बैंक अन्य बहुत से कार्य करते हैं। संक्षेप में हम कह सकते है कि आज बैकों के बिना व्यापार सम्भव नहीं है।

परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बैंक साख देने का करते हैं। बैक केवल उतना ही रुपया ऋण स्वरूप नहीं देते, जितना कि उनको हिस्सा पूँजी या जमा (डिपाजिट) से प्राप्त होता है, वरन वे उससे दस गुना तक ऋण दे देते है। इसीको बैंकों द्वारा साख का निर्माण करना कहते हैं। इसका कारण यह है कि बैंकों को अनुभव से यह ज्ञात है कि जो लोग ऋण लेते हैं, वे भी उसको बैंक में जमा कर देते हैं, वे तो केवल यह अधिकार चाहते हैं कि वे जब चाहे उतना रुपया बैंक से ले लें। परन्तु वे एक साथ सब रुपया निकालते नहीं हैं। अनुभव से बैकों को यह ज्ञात हुआ है कि दस रुपया नक़द रखकर सौ रुपए का ऋण दिया जा सकता है। इस प्रकार बैंक साख का विस्तार करते हैं।

जहाँ बैकों से व्यापार में बहुत सुविधा हुई है और साख का बहुत विस्तार भी हुआ है, वहाँ यह भी जोखिम उत्पन्न हो गई है कि बैंकों की असावधानी से तथा अत्यधिक साख का निर्माण कर देने से वे कहीं डूब न जावें और उसके फलस्वरूप व्यापार को धक्का न लगे। अतएव इस बात की आवश्यकता अनुभव हुई कि उन पर नियंत्रण रक्खा जावे और कितनी साख का निर्माण किया जावे, इस पर अंकुश रक्खा जावे। इस कार्य को

प्रत्येक देश का केन्द्रीय बैंक करता है। भारत में रिजर्व बैंक केन्द्रीय बैंक का काम करता है।

प्रत्येक देश में एक केन्द्रीय बैंक होता है, जो मुद्रा और साख का नियंत्रण करता है। केन्द्रीय बैंक को ही सरकार कागजी मुद्रा निकालने का एकाधिकार देती है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक केन्द्रीय बैंक का अनायास ही मुद्रा पर नियंत्रण स्थापित हो जाता है। साख का निर्माण बैंक करते हैं, अतएव बैंकों पर नियंत्रण स्थापित करना भी आवश्यक हो जाता है।

केन्द्रीय बैंक साख को भी नियंत्रित करता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक राज्य सरकार तथा सभी अन्य बैंकों का बैंकर होता है। यदि राज्य या अन्य बैंकों को अल्प समय के लिए ऋण की आवश्यकता होती है तो वे केन्द्रीय बैंक से ही लेते हैं। केन्द्रीय बैंक सरकारी खजाने का भी काम करते हैं और सरकार के ऋण की व्यवस्था करते हैं। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय बैंक अपने देश की मुद्रा तथा विदेशों की मुद्राओं की दर (विदेशी विनिमय दर) को नियंत्रित करते हैं।

औद्योगिक क्रान्ति तथा व्यापारिक क्रान्ति के फलस्वरूप बड़ी मात्रा का उत्पादन और बड़ी मात्रा का व्यापार आरम्भ हो गया। परन्तु साथ ही उद्योग धंधों और व्यापार की जोखिम भी उतनी ही अधिक बढ़ गई। आज करोड़ों रुपयों की लागत का कारखाना तनिक सी असावधानी से जलकर राख हो सकता है। विदेशों को जानेवाला जहाज डूब सकता है, तथा माल से भरे गोदाम नष्ट बीमे की व्यवस्था हो सकते हैं। अतएव व्यापार तथा उद्योग-धंधों के विस्तार की दृष्टि से इस जोखिम को उठानेवाली कोई संस्था होना आवश्यक थी। उद्योगपति या व्यापारी इस जोखिम को नहीं उठा सकते। अतएव बीमा की व्यवस्था हुई। आज तो बीमा व्यवसाय इतना विकसित हो गया है कि प्रत्येक जोखिम का बीमा किया जाता है। उदाहरण के लिए जीवन बीमा, अग्नि, दुर्घटना, समुद्री बीमा, मोटर बीमा इत्यादि। यहाँ तक कि फसलों का बीमा तथा अपने नौकरों की ईमानदारी का भी बीमा कराया जा सकता है।

यों तो थोड़ा बहुत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार औद्योगिक क्रान्ति तथा व्यापारिक क्रान्ति के पूर्व भी होता था। उस समय भारत तथा चीन

औद्योगिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्र थे। इन दोनों देशों का माल कारवाँ के द्वारा मध्य एशिया, ईरान, ईराक तथा एशिया माइनर होता हुआ यूरोप की राजधानियों में पहुँचता था। उस समय बहुमूल्य

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

कारीगरी की वस्तुओं में ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता था। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जब शक्ति संचालित यंत्रों से बड़े बड़े कारखाने स्थापित हुए और बड़ी मात्रा में उत्पादन आरम्भ हुआ और भाप से चलनेवाली रेलों और समुद्री जहाजों ने समस्त पृथ्वी को एक विस्तृत बाजार बना दिया, तो प्रत्येक देश में यह प्रवृत्ति बढ़ी कि वह अधिक से अधिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग ले। रेलों और भाप से चलनेवाले समुद्रीय जहाजों से बहुत कम व्यय से भारी से भारी माल एक देश से दूसरे देश को बहुत थोड़े समय में भेजा जा सकता था। बीमे और बैंकों की सुविधा ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को और भी बढ़ाया। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में संदेशवाहक साधनों की उन्नति ने भी विशेष सहयोग दिया। तार, टेलीफोन, केबिल, बेतार का तार (वाइरलेस), रेडियो, टेलीविजन, पोस्ट आफिस की सुविधा इत्यादि के कारण आज पृथ्वी का प्रत्येक देश एक दूसरे के बहुत समीप आ गया है और पृथ्वी की दूरी कम हो गई है। हवाई जहाज की सहायता से आज एक देश से दूसरे देश को पहुँचना बहुत ही आसान हो गया है।

किन्तु जहाँ औद्योगिक क्रान्ति और व्यापारिक क्रान्ति के फलस्वरूप तथा गमनागमन तथा संदेशवाहक साधनों की उन्नति के फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का बहुत विस्तार हुआ, वहाँ राष्ट्रीय स्वावलम्बन की भावना और विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से स्वदेशी धंधों की रक्षा करने की नीति ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विकास में अड़चनें भी डालीं। आज प्रत्येक देश अपने धंधों को संरक्षण प्रदान करने, उनकी विदेशी माल की प्रतिस्पर्द्धा से रक्षा करने का प्रयत्न करता है और उनको प्रोत्साहन देता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को भिन्न भिन्न देशों की एकांगी नीति के कारण बहुत अधिक धक्का न लग जावे, साथ ही प्रत्येक देश के हितों की रक्षा हो सके, उसके लिए भिन्न भिन्न देशों में व्यापारिक समझौते किए जाते हैं तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन खड़ा किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भिन्न भिन्न देशों की मुद्रा के विनिमय दरों में

जल्दी जल्दी परिवर्त्तन होने से भी अड़चन उपस्थित होती थी। किन्तु अब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोप की स्थापना हो जाने से यह कठिनाई दूर हो गई है।

निर्धन तथा पिछड़े राष्ट्रों की औद्योगिक उन्नति के लिए पूँजी की व्यवस्था करने के उद्देश्य से द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय बैंक की स्थापना हुई है, जिससे प्रत्येक देश अपने औद्योगिक विकास के लिए ऋण प्राप्त कर सकता है। भारतवर्ष ने भी दामोदर घाटी योजना, रेलों के विस्तार, कृषि यंत्रों की खरीद तथा लोहे और स्टील के कारखानों के लिए अंतर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण लिया है।

अभ्यास के प्रश्न

१—औद्योगिक क्रान्ति के लिए यातायात में उन्नति होना क्यो आवश्यक था, समझाकर लिखिए।

२—व्यापारिक क्रान्ति और यातायात में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का आपसी सम्बन्ध बतलाइए।

३—औद्योगिक तथा व्यापारिक क्रान्ति के फलस्वरूप परिमित दायित्ववाली कम्पनियाँ क्यो आवश्यक हो गईं?

४—व्यापारिक बैंकों के कार्यों की विवेचना कीजिए।

५—केन्द्रीय बैंक के कार्यों का उल्लेख कीजिए।

६—भारत में रिजर्व बैंक क्या क्या करता है, लिखिए।

७—आधुनिक व्यवसाय के लिए बीमा की क्यो आवश्यकता पड़ती है?

विशेष अध्ययन के लिए

1. Industrial and Commercial Revolution by L. C. A. Knowles.
2. Economic History by Ashlay.
3. Economic Development of Europe by Clive Day.

अध्याय ६

मजदूर-संगठन

कुटीर धंधों की व्यवस्था में जब कारीगर अपने घरों में सामान तैयार करते थे, तब आधुनिक ढंग के मजदूर संघों का सर्वथा अभाव था। सच तो यह है कि उस समय मजदूर संघों की आवश्यकता ही नहीं थी। कारण यह था कि कारीगर स्वयं कोई पूँजीपति नहीं था। वह छोटी मात्रा में उत्पादन कार्य करता था। अधिकतर वह स्वयं अपने श्रम तथा अपने परिवारवालों की सहायता से सामान तैयार करता था। पहले तो वह मजदूर रखता ही नहीं था और यदि कोई युवक उस धंधे को सीखने के उद्देश्य से उसके यहाँ काम भी करता था, तो कारीगर उसका शोषण करने की कल्पना भी नहीं कर सकता था। कारण यह था कि मजदूर शिष्य उसी के गाँव का होता था और सम्भवत: उसके मित्र तथा पड़ोसी का पुत्र होता था। सामाजिक प्रभाव के कारण मालिक अपने मजदूर शिष्य के साथ दुर्व्यवहार नहीं कर सकता था। इसके अतिरिक्त कारीगर स्वयं मजदूर शिष्यों के साथ काम करता था, अतएव वह मजदूर के जीवन से, तथा उसकी कठिनाइयों से अनभिज्ञ नहीं होता था। उसका दृष्टिकोण सहानुभूति का होता था। केवल इन्हीं कारणों से कारीगर मजदूर शिष्यों के साथ अच्छा व्यवहार नहीं करता था, वरन् उसका स्वार्थ भी उसमें निहित था। जहाँ कारीगर मजदूर शिष्य को नौकरी से हटाकर उसे बेकार कर सकता था, वहाँ मजदूर शिष्य उसके कठोर व्यवहार के कारण यदि उसका काम छोड़ देता, तो मालिक का व्यवसाय ठप्प हो सकता था। दूसरे शब्दों में मजदूर भी मालिक के लिए आवश्यक थे। उन दिनों मालिक मजदूरों से बहुत लम्बे समय तक काम ले सके, यह सम्भव नहीं था; क्योंकि रात्रि को कार्य नहीं हो सकता था। कार्य के घंटे केवल दिन में ही निर्धारित होते थे। सूर्य का यथेष्ट प्रकाश जब तक रहे तभी तक यह कार्य हो सकता था। उस समय में से भोजन और विश्राम का समय निकालकर जो समय बचता

था उसी में कार्य होता था। इस प्रकार प्रकृति ने कार्य के उचित घंटों को स्वयं निर्धारित कर दिया था। मालिक कारीगर मजदूर शिष्यों से अधिक घंटे काम लेना चाहे तो भी नहीं ले सकता था। मजदूरों को एक सुविधा और भी थी कि सारा कार्य हाथों से ही होता था। मजदूर कार्य की गति को स्वयं निर्धारित कर सकते थे। कार्य की गति को निर्धारित करना मालिक कारीगर के हाथ मे नही था।

उन दिनों मजदूर की स्थिति दयनीय नहीं थी, उसका शोषण इतना सरल नहीं था। मजदूर शिष्य को भी थोड़े दिनों ही मजदूरी करनी पड़ती थी। काम सीख लेने के उपरान्त मजदूर शिष्य स्वयं कारीगर बन जाता था, क्योंकि धंधे में अधिक पूँजी की आवश्यकता नहीं होती थी। फिर धंधे उस समय आज की भाँति केन्द्रित नहीं थे, क्योंकि कारीगर भिन्न भिन्न स्थानों पर बिखरे रहते थे। उस समय न तो मालिक और मजदूरों में संघर्ष ही उपस्थित होता था और न मजदूरों के संगठन की ही आवश्यकता थी।

किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के उपरान्त जब बड़ी मात्रा में उत्पादन कार्य होने लगा, बड़े बड़े कारखाने स्थापित हुए, तो स्थिति बदल गई। कारीगर को अपना घर छोड़कर कारखानों में काम करने के लिए जाना पड़ा, शक्ति संचालित यंत्रों पर कार्य करने के कारण कार्य की गति का निर्धारित करना उसके हाथ मे नहीं रहा, वरन मिल मालिक के हाथ मे चला गया। बिजली के प्रकाश मे कारखानों मे रात्रि को भी काम करना सम्भव हो गया। फिर मालिक हजारों मजदूरो को नौकर रखता है, उसके लिए एक या दो मजदूरों का कोई महत्त्व नही रहता। यदि एक या दो मजदूर मालिक के बुरे व्यवहार से अथवा कम वेतन के कारण नौकरी छोड़ दें तो मालिक का काम नहीं रुक सकता। अतएव आज की व्यवस्था मे मिल मालिक के हाथ मे शोषण की अनन्त शक्ति आ गई है।

जहाँ फैक्टरी पद्धति के प्रादुर्भाव से मजदूरो की तुलना में मिल मालिक बहुत शक्तिवान हो गया, वहाँ उसी पद्धति मे भावी मजदूर आन्दोलन और मजदूर संगठन के बीज मौजूद थे। जब प्रातः काल कारखाने का भोंपू बोलता है और दूर दूर से मजदूर झुंड के झुंड एक साथ सब दिशाओं से आकर कारखाने के फाटक पर इकट्ठे होते है, उसी समय वे आपस मे कारखाने के बारे में ही बात करते

हैं। उनके क्या दुख दर्द हैं, उनके लिए किन सुविधाओं की आवश्यकता है, इत्यादि प्रश्नों पर वे आपस में बातचीत करते हैं। दिन भर कारखाने में साथ साथ काम करके सांयकाल कारखाने की छुट्टी होने पर थके हुए मजदूर धीरे धीरे अपने घरों की ओर हजारों की संख्या में लौटते हैं, तो स्वभावत: वे अपनी स्थिति, कारखानों में होने-वाले दुर्व्यवहार, कम वेतन, मालिकों के शोषण के सम्बन्ध में बातचीत करते हैं। यहीं से आधुनिक मजदूर आन्दोलन और संगठन का जन्म हुआ है।

आरम्भ में मजदूर आन्दोलन ब्रिटेन में हुआ, क्योंकि सर्वप्रथम औद्योगिक क्रान्ति उसी देश में हुई थी और वहीं फैक्टरियाँ स्थापित हुई थीं। किन्तु उस समय पूँजीपति बहुत प्रभावशाली थे, अतएव राज्य ने कानून बनाकर मजदूर संघों को गैरकानूनी घोषित कर दिया। उनके विरुद्ध षडयंत्र का दोष लगाया गया और उनके नेताओं को कठोर दंड दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मजदूरों ने गुप्त संगठन खड़े किए। नेता लोग गुप्त रहते, साधारण मजदूर उनको जानता भी नहीं था; किन्तु उनकी आज्ञा का पालन होता था। प्रत्येक सदस्य को सदस्य बनते समय शपथ लेनी पड़ती थी। इस प्रकार जहाँ जहाँ आरम्भ में मजदूर आन्दो-लन के विरुद्ध कानून बनाये गए, वहाँ वहाँ उसी प्रकार के गुप्त संगठन खड़े हो गए। जर्मनी में गुप्त रूप से दो क्रान्तिकारी संगठन स्थापित हुए। एक कानून विरोधियों का संघ तथा दूसरा कम्युनिस्ट संघ। इसी संघ ने प्रसिद्ध कम्युनिस्ट मैनीफैस्टो (घोषणा पत्र) प्रकाशित किया। क्रमशः मजदूरों के संगठन के विरुद्ध जो कानून बने, वे तोड़ दिए गए और क्रमश: मजदूरों को संगठन करने की सुविधा मिल गई। इस समय तक कार्ल-मार्क्स के विचारों के कारण मजदूर आन्दोलन मे बहुत उग्रता आ चुकी थी। क्रमश: मजदूर आन्दोलन सबल होने लगा और वह राजनैतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हो गया। आज तो सभी देशों में मजदूर प्रतिनिधि पार्लियामेंट मे अपना प्रभाव डालते हैं और बहुत से देशों मे राज्य का शासन सूत्र उनके हाथ में है।

क्रमशः सरकारों ने मजदूरों के संगठित होने तथा हड़ताल करने के अधिकार को स्वीकार कर लिया और इस संबंध में कानून बन गए।

मजदूर संगठन का ढाँचा

मजदूर संगठन दो प्रकार के होते हैं : एक क्रैफ्ट या क्रिया के अनुसार, दूसरे धंधे केअनुसार। आरम्भ में क्रिया के अनुसार मजदूर संगठनों की स्थापना हुई थी। उदाहरण के लिए यदि वस्तु तैयार करने के धंधे में बुनकरों की एक यूनियन हो, कत्तियों की दूसरी यूनियन हो, तो उसको हम क्रिया के अनुसार यूनियन कहेंगे। क्रिया के अनुसार जो यूनियन बनाई जाती हैं, उनकी विशेषता यह होती है कि जो भी मजदूर एक क्रिया को करते हैं, वे फिर चाहे जिस धंधे में लगे हों और चाहे जिस मालिक के यहाँ काम करते हों, एक यूनियन में संगठित किए जाते हैं। उदाहरण के लिए भारत में अहमदाबाद का मजदूर संघ क्रैफ्ट या क्रिया यूनियनों का संघ है।

दूसरे प्रकार की यूनियन धंधों के आधार पर संगठित यूनियन होती हैं। इस यूनियन की विशेषता यह होती है कि जो भी मजदूर उस धंधे विशेष में काम करता है, उस यूनियन का सदस्य हो सकता है। उदाहरण के लिए रेलवे मैन यूनियन, वस्त्र व्यवसाय यूनियन इसी प्रकार की यूनियन हैं।

यूनियन संगठित करने का एक तीसरा सिद्धान्त भी हो सकता है। अर्थात् एक ही मालिक की अधीनता में जो लोग काम करते है, उनकी यूनियन संगठित की जावे। उदाहरण के लिए एक म्युनिस्पैलिटी के सभी विभागों के कर्मचारी एक यूनियन संगठित करें। इस प्रकार की यूनियन बहुत कम देखने में आती हैं।

यूनियनों का संघ

प्रत्येक धंधे मे जो भिन्न भिन्न औद्योगिक केन्द्रों की यूनियन है, वे एक राष्ट्रीय संघ बना लेती है। उदाहरण के लिए बम्बई, अहमदाबाद, शोलापुर, कानपुर इत्यादि की यूनियनों ने मिलकर, अखिल-भारतीय टैक्सटाइल लेबर फेडरेशन बना ली है।

किन्तु भिन्न भिन्न धंधों के राष्ट्रीय संघों की स्थापना से ही समस्या हल नहीं हो जावेगी। मजदूरों की बहुत सी समस्याएँ और प्रश्न ऐसे होते हैं जो कि सभी धंधों में काम करनेवाले मजदूरों के लिए एक समान महत्त्वपूर्ण होते हैं। इसके अतिरिक्त मजदूरों के राजनैतिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए तथा उनके हितों की रक्षा करने के लिए एक मंच आवश्यक होता

है। प्रत्येक देश में मजदूरों की ट्रेड यूनियन काग्रेस होती है जिससे सभी मजदूर संघ और ट्रेड-यूनियन सम्बंधित होते हैं।

मजदूर संघों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य श्रमजीवियों की सर्वांगीण उन्नति है। उस उद्योग की प्राप्ति के लिए मजदूर संघ बहुत से उपाय काम में लाते हैं, उनके कार्यों की तालिका बहुत लम्बी है।

मजदूर संघो का कार्य

किन्तु वे सब कार्य तीन श्रेणियों मे बाँटे जा सकते हैं (१) रचनात्मक कार्यक्रम, (२) पूँजीपतियों से अधिक से अधिक सुख सुविधाएँ प्राप्त करना और उनसे निरन्तर संघर्ष करना, (३) राजनैतिक कार्यक्रम जिसका उद्देश्य मजदूरों का शासन यंत्र पर आधिपत्य स्थापित करके समाजवादी व्यवस्था स्थापित करना होता है।

(१) रचनात्मक कार्यक्रम के अन्तर्गत मजदूरों की सुख-सुविधा के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरञ्जन, बेकारी, तथा बीमारी में आर्थिक सहायता, रहने की सुविधा, सहकारी उपभोक्ता स्टोर तथा नौकरी दिलाने के लिए ब्यूरो स्थापित करना सभी कार्य ट्रेड-यूनियन करती हैं।

(२) पूँजीपतियों से बातचीत करके मजदूरों के लिए उचित वेतन, अच्छा व्यवहार, कारखाने मे अन्य सुविधाएँ प्राप्त करना और आवश्यकता पड़ने पर अपनी माँगों को स्वीकार कराने के लिए संघर्ष करना।

(३) राजनैतिक कार्यक्रम के अन्तर्गत अपने प्रतिनिधियों को व्यवस्थापिका सभाओं में भेजकर, मजदूरों के हितों को कानून बनाकर सुरक्षित करना तो मजदूर आन्दोलन का तात्कालिक उद्देश्य होता है। परन्तु अपने उद्देश्यों का प्रचार करके तथा शासन की बागडोर अपने हाथ में लेकर देश मे समाजवादी व्यवस्था करना उसका अन्तिम लक्ष्य होता है।

भारतीय मजदूर संगठन

यों तो भारतवर्ष में १८६० के पूर्व ही मजदूर आन्दोलन का श्रीगणेश हो चुका था और मजदूरों के परम हितैषी श्री बंगाली तथा मजदूरों के प्रथम नेता श्री लोखाडे ने मजदूरों के लिए कार्य करना आरम्भ कर दिया था; किन्तु वस्तुतः प्रथम महायुद्ध तक भारत मे कोई मजदूर आन्दोलन नहीं था। तब तक मजदूरों की मिल-मालिकों की ओर भावना "माँ-बाप" की थी।

किन्तु योरोपीय महायुद्ध (१६१४-१८) ने इस भावना में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन ला दिया। महायुद्ध के फलस्वरूप महँगाई बहुत बढ़

गई। वस्तुओं के मूल्य आकाश छूने लगे। मिल-मालिकों को कल्पनातीत लाभ होने लगा; किन्तु मजदूरी अधिक नहीं बढ़ी, इस कारण मजदूर वर्ग क्षुब्ध हो उठा। उधर राष्ट्रपिता महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग आन्दोलन आरम्भ हुआ जिसने प्रथम बार सर्वसाधारण में नवीन चेतना को जन्म दिया। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीय मजदूरों के साथ जैसा बुरा व्यवहार किया जा रहा था, उससे भारतवासी बहुत रुष्ट थे। इन सबके कारण भारत का मजदूर वर्ग उग्र होता जा रहा था। उधर रूस की बोल्शैविक क्रान्ति ने संसार भर के मजदूरों में नवीन उत्साह का संचार कर दिया। युद्ध के समाप्त होने पर जो सैनिक हटाए गए, वे कारखानों इत्यादि में काम करने गए। वहाँ की दशा और पश्चिमीय देशों की तुलना करने पर उन्हें आकाश-पाताल का अन्तर दिखलाई दिया। वे अपने साथ जो विदेशों से नया ज्ञान और नये विचार लाये थे, उन्होंने अन्य साथी मजदूरों में भर दिए।

इसके अतिरिक्त भारत के राजनैतिक नेताओं का ध्यान मजदूरों की ओर भी गया और उन्हें शिक्षित वर्ग का नेतृत्व प्राप्त हो गया। इसी समय भारत में कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन हुआ, उससे भारतीय मजदूर आन्दोलन को और भी अधिक बल मिला।

इन सब कारणों से भारत के मजदूरों में अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न हुई और १६१८ के उपरान्त मजदूरों का तेजी से संगठन हुआ, साथ ही मजदूरों और मिल-मालिकों का तेजी से संघर्ष बढ़ता गया।

जब कि भारत में औद्योगिक ट्रेड यूनियनें स्थापित हो रही थीं, उसी समय उनमें एक केन्द्रीय संगठन में सम्बद्ध होने की प्रवृत्ति आरम्भ हो गई। इसका कारण यह था कि सभी यूनियनों का नेतृत्व करनेवाले एक ही व्यक्ति थे। क्रमशः मजदूर सभाओं के संघ स्थापित हो गए और आन्दोलन प्रबल होता गया। १६२० में मजदूर-आन्दोलन का रूप अखिल भारतीय हो गया और उसी वर्ष बम्बई में स्वर्गीय लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में प्रथम अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। इसी वर्ष से भारतीय श्रमजीवियों के प्रतिनिधि अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सम्मेलन (जेनेवा) में सम्मिलित होने लगे। १६२४ तक भारत में सभी प्रमुख

धंधों में मजदूर संगठित हो गए, उनके अखिल भारतीय संघ स्थापित हो गए और वे सभी अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से सम्बद्ध हो गए।

१६२४ के उपरान्त भारत में मजदूर आन्दोलन के अन्तर्गत कम्युनिस्टों का प्रभाव बढ़ने लगा। उसका परिणाम यह हुआ कि भारतीय मजदूरों में तीव्र वर्ग-चैतन्य उदय हुआ और मजदूर आन्दोलन में उग्रता आ गई। क्रमशः लम्बी हड़तालें होने लगीं। सरकार की ओर से दमन होने लगा और मजदूरों में कटुता उत्पन्न हुई; किन्तु कम्युनिस्टों का मजदूरों पर प्रभाव बढ़ता गया। कम्युनिस्टों के प्रभाव का परिणाम यह हुआ कि अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस में दक्षिण पक्ष और वाम पक्ष में संघर्ष उठ खड़ा हुआ। १६२६ में यह संघर्ष इतना अधिक बढ़ा कि नागपुर अधिवेशन मे मजदूर आन्दोलन में दरार पड़ गई और दक्षिण पक्षीय मजदूर कार्यकर्त्ता अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस से पृथक् हो गए। इस मतभेद का परिणाम यह हुआ कि मजदूर आन्दोलन निर्बल हो गया।

इस समय तक कांग्रेस के अन्तर्गत समाजवादी दल की स्थापना हो चुकी थी। समाजवादी नेता मजदूर आन्दोलन में अधिक रुचि लेते थे। उन्होंने मजदूर संगठन में फिर एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया और उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप १६३८ में नागपुर के अधिवेशन में फिर एकता स्थापित हो गई।

मजदूर आन्दोलन में एकता स्थापित होने पाई थी कि १६३६ में द्वितीय विश्वव्यापी युद्ध छिड़ गया और कांग्रेस के नेतृत्व में फिर राष्ट्रीय आन्दोलन छिड़ा। आरम्भ में तो कम्युनिस्ट दल इस युद्ध को साम्राज्य-वादी युद्ध कहकर उसका विरोध करता था; किन्तु जैसे ही जर्मनी ने रूस पर आक्रमण किया, वे उसे जनता का युद्ध कहकर उसका समर्थन करने लगे। इसी समय एम. एन. राय ने भी ब्रिटिश सरकार से सहायता पाकर इंडियन लेबर फेडरेशन नामक संस्था स्थापित की जिसका उद्देश्य युद्ध का समर्थन करना था। मजदूर आन्दोलन में फिर फूट पड़ गई। कांग्रेस के अन्तर्गत समाजवादी कार्यकर्त्ताओं के प्रभाव में जो ट्रेड-यूनियन थीं, वे युद्ध का विरोध करती थीं; कम्युनिस्ट और रायवादियों के प्रभाव में जो मजदूर सभाएँ थीं, वे युद्ध का समर्थन करती थीं। युद्ध समाप्त होने

के उपरान्त स्वतंत्रता मिलने पर समाजवादी दल कांग्रेस से पृथक् हो गया। कांग्रेस को भी यह आवश्यकता हुई कि वह भी मजदूरों पर अपना प्रभाव जमावे। अतः कांग्रेस के नेतृत्व में राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस नामक अखिल भारतीय मजदूर संगठन को जन्म दिया गया। समाजवादियों ने 'हिन्द मजदूर पंचायत' नामक पृथक् मजदूर संगठन खड़ा किया। ट्रेड यूनियन कांग्रेस कम्युनिस्टों के प्रभाव में है। आज भारतीय मजदूर आन्दोलन इन तीन राजनैतिक दलों के प्रभाव में बँटा हुआ है।

भारतीय मजदूर आन्दोलन अभी भी बहुत सबल नहीं है। मजदूरों का अशिक्षित होना, औद्योगिक केन्द्रों में भिन्न भाषा-भाषी मजदूरों का होना, मजदूरों की निर्धनता, औद्योगिक केन्द्रों का बिखरा होना, मजदूरों का स्थायी रूप से औद्योगिक केन्द्रों में न रहना तथा विशेषकर मजदूर आन्दोलन का नेतृत्व योग्य तथा ईमानदार नेताओं के हाथों में न होना इस निर्बलता के मुख्य कारण हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन (आई. एल. ओ.)

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की स्थापना वार्साई संधि के अनुसार हुई थी। इसका मुख्य उद्देश्य संसार में सामाजिक न्याय की स्थापना करना और श्रमजीवियों की आर्थिक उन्नति करना है, जिससे समाज में आर्थिक और सामाजिक स्थिरता स्थापित हो सके। यह अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के प्रयत्नों का ही फल है कि संसार के भिन्न-भिन्न देशों में मजदूर हितकर कानून बनाए गए और उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ। भारत में जो मजदूरों सम्बन्धी कानून बने, वे बहुत कुछ अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की प्रेरणा से ही बने थे। अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के संबंध में संयुक्तराष्ट्र संघ के अध्याय में विस्तारपूर्वक लिखा गया है।

अभ्यास के प्रश्न

१—जब उत्पादन छोटी मात्रा में कुटीर उद्योगों के द्वारा होता था, तब मजदूर संघों की आवश्यकता क्यों नहीं थी, समझाकर लिखें।

२—फैक्टरी व्यवस्था में मजदूरों के संगठन की आवश्यकता क्यों पड़ गई ?

३—मजदूर संगठन का प्रारम्भ किस प्रकार हुआ, विस्तारपूर्वक लिखिए।

४—ट्रेड यूनियन (मजदूर सभा) के मुख्य कार्य क्या हैं, विस्तारपूर्वक लिखिए।

५—भारत में मजदूर संगठन के विकास के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त नोट लिखिए।
६—भारत में मजदूर आन्दोलन की निर्बलता के कारण बतलाइए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. भारतीय मजदूर—शंकरसहाय सक्सेना
2. Trade Unionism in India by Punekar.
3. Indian Working Class by Dr. R. K. Mukerji.
4. Economics of Labour and Industrial Relations by Bloom and Northrup.
5. Economics of Labour by Lester

भाग २

आधुनिक समाज का नवनिर्माण

[१—राजनीतिक]

अध्याय १०

यूरोप का पुनर्निर्माण

नेपोलियन की पराजय और उसके कारण

फ्रांस की राज्यक्रान्ति का उफान बहुत दिनों तक न टिक सका। क्रान्ति की लपटें झुलस गईं और बुझती हुई दिखाई दीं। शान्ति और व्यवस्था के लिए फ्रांस की जनता बेचैन हो उठी, और इस सबका परिणाम यह निकला कि नेपोलियन के हाथों में फ्रांस की समस्त राज्य-सत्ता केन्द्रित हो गई। नेपोलियन की महत्त्वाकांक्षाएँ फ्रांस की सीमाओं से संतुष्ट नहीं रह सकीं। उसने क्रान्ति की सेनाओं की सहायता से, अपने पड़ोसी देशों को पराजित करके अपनी गिनती इतिहास के प्रमुख विश्वविजेताओं में किए जाने का गौरव प्राप्त किया। यूरोप के अधिकांश देश उसके प्रभुत्व में आ गए, पर इंग्लैण्ड को हराने और उसके विश्वव्यापी साम्राज्य को नष्ट कर देने के उसके स्वप्न पूरे न हो सके और इतिहास के इस अमर विजेता को अपने जीवन के अन्तिम छः वर्ष एक कठोर अंग्रेज जेलर की निगरानी में कैदी की हैसियत से बिताने पड़े। लगभग पन्द्रह वर्षों तक समस्त यूरोप पर नेपोलियन का एकछत्र प्राधान्य रहा, पर वह सारी व्यवस्था उसके पतन के बाद चकनाचूर हो गई। उस व्यवस्था में कितनी ही कमजोरियाँ थीं। एक व्यक्ति पर, उस सारी व्यवस्था का आधार था। उस व्यक्ति के सामने शक्ति की अपनी मर्यादाएँ भी थीं। सारी व्यवस्था सैनिक आधार पर कायम थी और पाशविक बल समस्त समस्याओं को सुलझाने में सदा ही असमर्थ रहा है। नेपोलियन के आक्रमणों ने दूसरे देशों में राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन दिया और उस भावना के उग्र और संगठित रूप के सामने नेपोलियन की शक्ति भी टिक न सकी। पर नेपोलियन की पराजय का सबसे बड़ा कारण यह था कि युद्ध के साधनों की जिस श्रेष्ठता के कारण उसने अपनी विपक्षी सेनाओं पर विजय प्राप्त की थी, बाद के वर्षों में उस

श्रेष्ठता का वह दावा नहीं कर सकता था, क्योंकि अन्य देशों की सेनाओं ने भी उस कौशल को प्राप्त कर लिया था।

नैपोलियन की पराजय के और भी कारण गिनाए जा सकते हैं, किन्तु इसमें भी संदेह नहीं कि केवल फ्रांस के इतिहास में ही नहीं यूरोप के इतिहास में, बल्कि यह कहना चाहिए कि विश्व के इतिहास में, उसका बहुत बड़ा स्थान है। फ्रांस में जिस नई व्यवस्था की उसने स्थापना की, वह किसी भी अन्य देश की तुलना में अधिक प्रगतिशील थी। हॉलैण्ड ने सोलहवीं शताब्दी में लड़कर अपनी राजनीतिक स्वाधीनता को प्राप्त किया था। इंगलैंड ने सत्रहवीं शताब्दी में एक लंबे संघर्ष के बाद राजा की शक्ति को कम करने में सफलता प्राप्त की थी। फ्रांस इन सभी देशों से कई कदम आगे बढ़ गया था। उसकी क्रान्ति केवल राष्ट्रीय और राजनैतिक नहीं थी। उसने एक नई सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था को भी जन्म दिया था। फ्रांस की नई व्यवस्था अठारहवीं शताब्दी के प्रगतिशील विचारों के सर्वथा अनुकूल थी। फ्रांस में एक केन्द्रीय शासन की स्थापना कर ली गई थी जिसका आधार लोकराज्य के सिद्धान्त पर था। उसकी अपनी राष्ट्रीय सेनाएँ थीं। उसकी लोक-सभा में नागरिकों का प्रतिनिधित्व होता था (हॉलैंड के समान) विशिष्ट वर्गों का नहीं। फ्रांस का नया समाज व्यक्तिवाद के आधार पर संगठित किया गया था। कोई विशेष अधिकार किसी के पास नहीं थे। कानून की दृष्टि में सब बराबर थे। सभी धर्मों को समानता की दृष्टि से देखा जाता था। इन सिद्धान्तों का जन्म फ्रांस की राज्य-क्रान्ति में हुआ था, पर उन्हें यूरोप भर में फैला देने का श्रेय नैपोलियन को था। यह वह समय था, जब यूरोप के लगभग सभी देश नैपोलियन के प्रभाव में थे, और नैपोलियन का राजनीतिक प्रभाव जब अन्य देशों से सिमटने लगा, तब उसके विरोधियों ने भी उस सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था को अपनाने की पूरी कोशिश की, जिसे फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने जन्म दिया था और नैपोलियन ने जिसका पोषण और प्रसार किया था।

इतिहास में नैपोलियन का स्थान

यदि यह पूछा जाए कि यूरोप को नैपोलियन की सबसे बड़ी देन क्या थी, तो हमें कहना पड़ेगा कि वह राष्ट्रीयता की भावना का सबसे बड़ा

पैगम्बर था। राष्ट्रीयता की यह भावना फ्रांस में तो अपनी चरम सीमा पर पहुँची ही, उन सभी देशों में उसने एक कट्टर धार्मिकता का रूप ले लिया, जो नेपोलियन की सेनाओं और उसके शासन के संपर्क में आए। इस भावना ने शासन के पुराने स्वरूप को बदल दिया और एक नए ढंग के शासन की नीव डाली। जर्मनी और इटली, जो असंख्य टुकड़ों में बँटे हुए थे, राष्ट्रीयता की संजीवनी का आस्वादन कर, सबल और शक्तिशाली राष्ट्रों की गिनती में आ गए। इंग्लैण्ड, स्पेन, आस्ट्रिया और रूस में भी राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो गई। राष्ट्रीयता की भावना के फैलने का एकमात्र कारण फ्रान्स की राज्यक्रान्ति ही नहीं था, यद्यपि यह सच है कि फ्रांस का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव लगभग सभी देशों पर पड़ा और कुछ देशों में तो राष्ट्रीयता की भावना फ्रांस की सेनाओं के द्वारा किए जानेवाले अत्याचारों और नैपोलियन के शासन की स्वेच्छाचारिता के परिणामस्वरूप ही फैली। सभी देशों में नए राजनीतिक विचार अपनाए जा रहे थे। जर्मनी में हर्डर (Herder, 1744-1803), फिख्ते (Fichte, 1762-1814) और हम्बोल्ट (Humboldt 1769-1859) का राष्ट्रीयता की भावना को फैलाने में प्रमुख हाथ था। हर्डर ने तो, मोन्टेस्क और रूसो के समान, फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पहले से ही अपने विचारों का प्रचार करना आरंभ कर दिया था। फिख्ते और हम्बोल्ट को फ्रांस की क्रान्ति और उसके वामपक्षीय नेताओं से प्रेरणा मिली। स्टीन फ्रांस की राष्ट्रीयता का बड़ा प्रशंसक था, परंतु जर्मनी की जनता में राष्ट्रीयता की भावना का वास्तविक प्रसार तब हुआ जब नैपोलियन ने उसके शासन में अनधिकृत हस्तक्षेप करना आरंभ किया और उसकी सेनाओं ने उनके प्रदेशों को बड़ी बेरहमी से अपने पैरों तले रौंदा।

राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार: जर्मनी

स्पेन और इटली में भी राष्ट्रीयता के फैलने का यही कारण था। स्पेन के लोगों की तो यह स्पष्ट माँग थी कि एक राष्ट्र होने के नाते अपने भाग्य के निर्णय का अधिकार स्वयं उनका था। इटली में एकता की यह भावना उतनी स्पष्ट नहीं थी; परंतु वहाँ भी राष्ट्र-प्रेम फैलता जा रहा था। इटली के प्रसिद्ध नाटककार अल्फीरी (Alfieri) ने अपनी एक पुस्तक में इस बात की घोषणा की कि कला, सभ्यता और नीति सभी में इटली

के लोग फ्रांस की अपेक्षा कहीं बढ़े चढ़े थे। एक दूसरे साहित्यकार फास्कोलो (Foscolo) ने अपनी कविताओं द्वारा इटली में राष्ट्रीय भावनाओं के विकास में बड़ी सहायता पहुँचाई।

स्पेन, इटली और पोलैण्ड

अलफीरी और फास्कोलो ने राज्य प्रेम की जिस भावना को इटली की जनता के हृदय में अंकुरित किया था, कार्बोनारी (Carbonari) नाम की गुप्त संस्था ने उसे दूर दूर तक फैला दिया। इस संस्था में फौजी अफसर और सरकारी कर्मचारी, जमींदार और किसान, शिक्षक और पादरी सभी शामिल थे, और इसका उद्देश्य इटली को विदेशी शासन से मुक्त करना था। छोटे छोटे देशों में भी राष्ट्रीयता की भावना फैलती जा रही थी। पोलैण्ड में १७६१ में एक क्रान्ति हुई और वहाँ एक ऐसे लोकतांत्रिक संविधान की स्थापना की गई, जो क्रान्तिकारी फ्रांस के संविधान से मिलता जुलता था। राजा की शक्ति कम कर दी गई, सामन्तों के विशेष अधिकारों को समाप्त कर दिया गया, जाति भेद मिटा दिए गए, कृषकों की स्थिति को सुधारा गया और धार्मिक सहिष्णुता की स्थापना की गई। पोलैण्ड का यह प्रयोग अधिक समय तक न चल सका। रूस, प्रशा और आस्ट्रिया की साम्राज्यवादी तृष्णा ने राष्ट्रीयता और जनतंत्र के इस नन्हें से पौधे को बहुत जल्दी झुलस डाला। पर उसके नेता अपने देश को एक बार फिर संगठित करने के अपने प्रयत्नों में अविश्रान्त रूप से लगे रहे।

दूर उत्तर में फिनलैण्ड और स्वेडन में, जार की सहायता से एक अर्द्ध-जनतांत्रिक शासन की स्थापना की गई। एस्टोनिया और लिवोनिया जैसे छोटे छोटे देशों में किसानों की स्थिति में सुधार हुआ। नार्वे में राष्ट्रीयता की लहर फैल गई। १८०७ में वहाँ एक राष्ट्रीय शासन की स्थापना हुई और १८११ में एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की। १८१४ में नार्वे को जब स्वेडन के साथ मिला दिया गया तब उस छोटे से देश के नेताओं ने खुलेआम राष्ट्रीय आत्म-निर्णय के सिद्धान्त की घोषणा की और नॉर्वे की आजादी का एलान किया।

उत्तरी और दक्षिण-पूर्वी यूरोप के छोटे देश

दक्षिण-पूर्वी यूरोप में तुर्की के साम्राज्य में, जहाँ बहुत सी ईसाई जातियाँ सुल्तानों की एक अनवरत श्रृंखला के अनियंत्रित अत्याचारों का शिकार हो रही थीं, राष्ट्रीयता की भावना फैल गई। यूनानी और यूगोस्लाव, क्रीट और

सर्व, सभी में इस भावना ने एक नई जागृति और नई चेतना को जन्म दिया। यूनान में राष्ट्रीयता के प्रचारकों में कोरेस (Korais) और रीगास (Rhigas) का स्थान बहुत ऊँचा है। यूनान के नए साहित्य के निर्माण में इन दोनों का ही हाथ रहा है और इस नए साहित्य के द्वारा उन्होंने यूनान में राष्ट्रीयता की भावना को फैलाया। सर्व जाति के लोगों में कलाजार्ज (Kala George) ने वही काम किया। उसने किसानों की एक सेना खड़ी की जिसकी सहायता से उसने न केवल वेलग्रेड से तुर्की की प्रभुता का अन्त किया, वल्कि एक सर्व-लोक सभा की स्थापना करके सर्विया में एक जनत्रांतिक शासन की नींव डाली। यह कहा जा सकता है कि सुदूर पश्चिम में इंग्लैण्ड और सुदूर पूर्व में रूस को छोड़कर यूरोप के सभी देश, फ्रांस की राज्य-क्रान्ति से प्रेरणा लेकर और नेपोलियन के शासन की प्रतिक्रिया के रूप में प्रगतिशीलता के पथ पर चल पड़े थे। केवल इंग्लैण्ड में ही राजनीतिक और सामाजिक सुधार के प्रति अविश्वास की भावना थी। समाज और शासन का नेतृत्व संभ्रान्त वर्गों के हाथ में था, यद्यपि उसके पड़ोस में भी आयर्लैण्ड के लोग विद्रोह के पथ पर चल पड़े थे, परंतु इंग्लैण्ड में भी राष्ट्रीयता की भावना तो दृढ़तर ही होती जा रही थी।

नैपोलियन की पराजय के वाद, १८१४-१५ में, वियना में एक अन्त-र्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ जिसका उद्देश्य यूरोप के भविष्य की रूप-रेखा खींचना था। यह सम्मेलन, जो आस्ट्रिया के प्रधान-मंत्री मेटरलिंक (Metterlink) की अध्यक्षता में हुआ, प्रतिक्रियावादी तत्त्वों की विजय का एक प्रतीक था। सभी स्थानों के देशभक्त अब
अपने उन राजाओं के प्रति, जिन्होंने नेपोलियन प्रतिक्रियावादी
का विरोध किया था, राजभक्ति की भावना रखते शक्तियों का पुनः
थे। ईसाई-धर्म में भी लोगों का विश्वास फिर से गठन
जागा था और पोप की प्रतिष्ठा गिरती-सी दिखाई
देने लगी थी। उस हिंसा और रक्तपात से जिसका तांडव नेपोलियन के युगों में यूरोप में देखा गया था, जनता तंग आ गई थी। अकाल, व्याधियाँ और अपराध चारों ओर फैल रहे थे। मेटरलिंक का यह अनुमान ठीक ही था कि यूरोप की जनता स्वतंत्रता नहीं, शान्ति चाहती थी। एक वार फिर मेटरलिंक और उसके साथियों ने

यूरोप में एकछत्र शासन स्थापित करने के लिए भरसक प्रयत्न किया और एक लंबे अर्से तक यूरोप में एक कृत्रिम शान्ति स्थापित करने में उन्हें सफलता भी मिली। राष्ट्रीयता और जनतंत्र, नए यूरोप के इन दोनों सिद्धान्तों को कुचलने का उन्होंने संपूर्ण प्रयत्न किया। वियना की कांग्रेस के निश्चयों में इन दोनों ही सिद्धान्तों की खुली अवहेलना स्पष्ट दिखाई दे रही थी। राष्ट्रीयता की भावना के विरुद्ध बेल्जियम को हॉलैण्ड में मिला दिया गया, नार्वे स्वेडन को सौंप दिया गया, फिनलैण्ड रूस में शामिल कर दिया गया। इटली का एक बड़ा भाग आस्ट्रिया के अन्तर्गत आ गया। इसी प्रकार के अन्य कई परिवर्त्तन हुए। जनतंत्र की भावना को कुचलने के लिए, ऐसा जान पड़ता था, मेटरलिक ने बीड़ा ही उठा लिया था। जार द्वारा प्रेरित 'पवित्र संघ' (Holy Alliance) और इंग्लैण्ड, रूस, आस्ट्रिया और प्रशा का 'चतुर्देशीय संगठन (One-druple Alliance) इस उद्देश्य की पूर्त्ति के साधन-मात्र थे। यूरोप में जहाँ कहीं भी राष्ट्रीयता और जनतंत्र के आन्दोलन खड़े हुए, मेटरलिक ने इन संगठनों के द्वारा उन्हें बड़ी बेरहमी से कुचला। प्रतिक्रियावादिता ने एक धार्मिक कट्टरपन का रूप ले लिया और मेटरलिक उसका पोप बना।

जहाँ कहीं कोई प्रगतिशील आन्दोलन खड़ा होता था, मेटरलिक और जार दोनों मिलकर उसके विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय सेनाएँ भेजते थे। मेटरलिक

का पहला उद्देश्य तो आस्ट्रिया के साम्राज्य से

प्रगतिशील तत्त्वो राष्ट्रीयता और जनतंत्र की भावना को कुचल डालना

कोकुचलने के प्रयत्न था। राष्ट्रवाद का समर्थन करनेवाले नेताओं को उसने

सख्त सजाएँ दीं और आस्ट्रिया के उन सभी प्रदेशों

में जहाँ उनके विचारों का प्रभाव था, विजातीय सेनाओं की सहायता से जनता को नियंत्रित रखा। समाचारपत्रों पर अंकुश लगा दिया गया। पाठ्यक्रम में परिवर्त्तन किए गए। साहित्य-निर्माण की स्वतंत्रता नष्ट कर दी गई और इस बात का प्रयत्न किया गया कि बाहर से भी नए विचार आस्ट्रिया में प्रवेश न कर सकें। जर्मन-संघ का अध्यक्ष होने के नाते मेटरलिक ने जर्मन राज्यों में भी प्रगतिशील विचारों को कुचला। जगह जगह प्रतिक्रियावादी राज्यों की स्थापना की गई। प्रगतिशील विचारों को समूल नष्ट कर देना असंभव था। नगरों और विशेषकर विश्वविद्यालयों में उनका काफी प्रभाव था। मेटरलिक ने विश्वविद्यालयों के शिक्षकों

और विद्यार्थियों के निरीक्षण के लिए विशेष कानून बनाए और समाचार-पत्रों का दमन किया। इटली में भी मेटरलिंक ने इसी नीति को अपनाया। इटली में भी उदार विचारों का प्रभाव बढ़ रहा था। शिक्षक, मध्यम-वर्ग, नौकर पेशा और व्यापारी सभी वैधानिक सुधारों और राष्ट्रीय स्वाधीनता का भोग करने लगे थे। गुप्त सभाओं का संगठन किया जा रहा था। १८२० में नेपल्स (Naples) में एक विद्रोह भी हुआ जिसे आस्ट्रिया की सेनाओं ने कुचल दिया। १८२१ का पीडमौण्ट (Piedmont) का विद्रोह भी इसी प्रकार दबा दिया गया।

प्रतिक्रियावादिता का यह प्रभुत्व आस्ट्रिया, जर्मनी और इटली की सीमाओं में ही केन्द्रित नहीं रहा, जहाँ मेटरलिंक का अनियंत्रित शासन था, अन्य देशों पर भी उसका प्रभाव था। रूस का जार एलेक्जैण्डर, जो कुछ वर्षों तक प्रगतिशील विचारों के प्रभाव में रहा था, अब मेटरलिंक का शिष्य बन गया था। उन थोड़े से वर्षों में रूस और उसके आस-पास के प्रदेशों में जो नाम-मात्र के वैधानिक सुधार किए गए थे, वे सब खत्म कर दिए गए, और जार ने अपनी सारी शक्ति अपनी सेना को बढ़ाने और उसकी सहायता से किसान अन्दोलनों को दबाने में लगा दी। ब्रिटेन में इन दिनों शासन की सारी सत्ता अनुदार दल के हाथों में थी। फ्रान्स के साथ एक लंबे संघर्ष के परिणामस्वरूप इंग्लैण्ड में प्रतिक्रियावादी तत्त्व और भी अधिक सशक्त हो गए थे। ब्रिटेन में नए विचारों के प्रचारक भी अपने काम में लगे हुए थे। गॉडविन, टॉमसपेन और बैन्थम आदि उनमें प्रमुख थे, परंतु उन्हे खतरनाक व्यक्ति माना जाता था और उनके विचारों को फैलने नहीं दिया गया। ब्रिटेन में इन दिनों कई ऐसे कानून बनाए गए जिनसे व्यक्ति की स्वतंत्रता पर नियंत्रण लगा दिया गया। फ्रान्स अनुदार और उदार विचार-धाराओं के बीच संघर्ष का मुख्य केन्द्र था। १८ वें लुई ने बीच का रास्ता निकालने का प्रयत्न किया, परंतु धीरे-धीरे प्रतिक्रियावादी दल सशक्त होता गया। स्पेन में भी प्रतिक्रियावादिता अपने पूरे जोर पर थी। वहाँ की जनता ने विद्रोह भी किया, पर फ्रांस की सेनाओं द्वारा उसे कुचल दिया गया। पुर्त्तगाल में भी राष्ट्रीय तत्त्व इसी प्रकार दबा दिए गए।

परंतु इसका यह अर्थ नहीं था कि उदार विचार सभी देशों में सभी समय के लिए दबाए जा सके। व्यक्तिगत स्वतंत्रता, सामाजिक समानता

और राष्ट्रीयता के विचारों को सदा के लिए नहीं दबाया जा सकता था। दक्षिणी-यूरोप में इटली, स्पेन और पुर्त्तगाल के राष्ट्रीय आन्दोलनों को दबाया जा सका; परंतु दक्षिणी-पूर्वी यूरोप के यूगोस्लाव और यूनानी आन्दोलनों को कुचलना आसान न था। उधर, इंग्लैण्ड घरेलू नीति में कट्टर-पंथी होते हुए भी विदेशी नीति में उदार तत्त्वों के समर्थन में विश्वास रखता था। यूनान में जब तुर्की साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह का झंडा ऊँचा किया गया, तो सारे यूरोप में उसके प्रति सहानुभूति की लहर दौड़ती दिखाई दी। पुरानी सभ्यताओं के प्रशंसक और नए विचारों के पुजारी, स्वतंत्रता और जनतंत्र के हामी और ईसाई धर्म के हिमायती, कवि और चित्रकार सभी यूनान की स्वाधीनता के समर्थक थे। इस आन्दोलन का परिणाम यह निकला कि १८३२ में यूनान को स्वाधीनता मिल गई। इस सफलता से सभी देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों को प्रोत्साहन मिला। फ्रांस में १०वें चार्ल्स की प्रतिक्रियावादी नीति के विरुद्ध एक क्रान्ति हुई, जिससे १७८९ की क्रान्ति की घटनाओं की पुनरावृत्ति होती दिखाई दी। १०वें चार्ल्स को गद्दी से हटा दिया गया और उसके स्थान पर लुई फिलिप को, जिसने पहली क्रान्ति में भाग लिया था, गद्दी पर बिठाया गया। क्रान्ति का तिरंगा झंडा फिर पेरिस के राजप्रासाद पर लहराया।

राष्ट्रवाद और जनतंत्र का पुनरुत्थान

विद्रोह की लपटें बहुत शीघ्र यूरोप के अन्य देशों में भी फैलती हुई दिखाई दीं। बेल्जियम ने हॉलैण्ड के विरुद्ध अपनी स्वाधीनता की घोषणा की। पोलैण्ड व कुछ अन्य जर्मन राज्यों में उपद्रव हुए जिन्हें कुचल दिया गया। इटली में स्वाधीनता का आन्दोलन एक बार फिर एक व्यापक रूप में संगठित किया गया, पर मेटरलिक ने उसे भी दबा दिया। इसके बाद क्रान्ति की यह चिनगारी फिर कई वर्षों तक बुझी-सी रही। परंतु १८-४८ में वह फिर जोरों से भड़की और यूरोप के पश्चिमी सिरे से लेकर पूर्वी सिरे तक क्रान्तिकारी आन्दोलन उठ खड़े हुए। १७८९ और १८३० के समान उनका आरंभ इस बार भी फ्रांस में हुआ। लुई फिलिप को गद्दी से हटा दिया गया और गणतंत्र की घोषणा की गई। इस बार क्रान्ति की लहरों ने आस्ट्रिया में भी प्रवेश किया, जो प्रतिक्रियावादिता का गढ़ था,

१८४८ की क्रान्तियाँ

और मेटरलिंक को उखाड़ फेंका। इटली क्रान्तिकारियों की सेना में सम्मिलित हो गया और उसके बाद जर्मनी ने उसका अनुकरण किया। १८४८ के इन आन्दोलनों को भी पूरी सफलता प्राप्त नहीं हुई। फ्रांस में नेपोलियन तृतीय ने गणतंत्र को समाप्त कर अपने को सम्राट् घोषित किया और आस्ट्रिया में अनुदार दल के हाथ में एक बार फिर शासन की सत्ता आ गई। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि अब तक रूस, आस्ट्रिया और जर्मनी को छोड़कर यूरोप के अधिकांश देशों, और विशेषकर पश्चिमी देशों में नए विचारों को बहुत बल मिल गया था।

राष्ट्रवाद बनाम जनतंत्र

इस युग की एक विशेष प्रवृत्ति हम यह पाते हैं कि राष्ट्रवाद को जहाँ जहाँ जनतंत्र का समर्थन प्राप्त हो सका, वहाँ तो उसने उसकी सहायता की; पर कई देशों मे जहाँ केवल जनता की सहायता से राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाया नहीं जा सकता था, वहाँ जनतंत्र को पीछे छोड़ दिया गया और राष्ट्रवाद की भावनाएँ तेजी से आगे बढ़ चलीं। जर्मनी इसका एक अच्छा उदाहरण है। जर्मनी एक शक्तिशाली देश था और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे एक प्रमुख स्थान ले लेने के लिए बेचैन हो रहा था। राष्ट्रीय एकता को प्राप्त करने के लिए इसे आन्तरिक और बाह्य कई प्रकार की कठिनाइयों के विरुद्ध एक लंबा संघर्ष करना पड़ा था। इस संघर्ष का नेतृत्व अनायास ही ही प्रशा के हाथ मे आ गया और उसके प्रमुख नेता बिस्मार्क ने यह निश्चय किया कि जर्मनी युद्ध और रक्तपात के मार्ग पर चलकर ही अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। बिस्मार्क ने जर्मनी के लिए एक बड़ी सेना का संगठन किया। इस सेना की सहायता से उसने पहले तो आस्ट्रिया को पराजित किया जिससे जर्मन राज्यों का एकमात्र नेतृत्व प्रशा के हाथ मे रह सके। उसके बाद फ्रांस को हराया। प्राचीन गौरव की समस्त महानता के होते हुए भी यूरोप का प्रमुख देश फ्रांस तेजी से उठते हुए एक राष्ट्र की सुसंगठित सेनाओं का मुकाबला नहीं कर सका। जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया और फ्रांस की इन पराजयों ने यूरोप के इतिहास और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास की दिशा को ही बदल दिया। एक ओर तो आस्ट्रिया को केन्द्रीय यूरोप से निकाल दिया गया और दूसरी ओर फ्रान्स की शक्ति कम हुई। जर्मनी के आन्दोलन की सफलता से इटली को भी अपना राष्ट्रीय लक्ष्य प्राप्त करने में

प्रेरणा मिली। मैजिनी (Mazzini), कावूर(Cavour) और गैरिबाल्डी (Garibaldi) जैसे नेता उसे प्राप्त थे ही। कावूर ने सार्डिनिया के शासक की सहायता से शासन में बहुत से सुधार किए जिनके परिणामस्वरूप इटली का यह छोटा सा प्रदेश राष्ट्रीय आकांक्षाओं का केन्द्र बन गया और बाद में उसके आसपास के अन्य प्रदेश भी उसी में सम्मिलित होते गए और इस प्रकार एक संयुक्त इटली की नींव पड़ी। जर्मनी और इटली के एकीकरण के परिणामस्वरूप यूरोप में दो नए राज्यों की वृद्धि हुई। जर्मनी की शक्ति का तो बड़ी तेजी से विस्तार हुआ और केवल फौजी शक्ति की दृष्टि से ही नहीं, बल्कि औद्योगिक विकास की दृष्टि से भी जर्मनी यूरोप के पुराने देशों के लिए एक चुनौती बन गया। इन देशों की राष्ट्रवाद की भावना पुराने देशों की तुलना में कहीं अधिक गहरी थी और उसका संक्रामक प्रभाव धीरे-धीरे अन्य देशों में भी फैला। जर्मनी द्वारा पराजित होने के बाद से फ्रांस में प्रतिशोध की भावना तेजी के साथ फैल गई थी। रूस में अपनी सीमाओं का विस्तार करने की भावना, इंग्लैण्ड में अपने व्यापक साम्राज्य की रक्षा की भावना और अमरीका में एक बड़े और अपरिपक्व देश का सहज आत्मविश्वास, राष्ट्रवाद की भावना को दृढ़ बना रहे थे। धीरे-धीरे यह भावना एक ओर तो पश्चिमी गोलार्द्ध के आर्जेंटिना, ब्रैजील और चिली जैसे देशों में और दूसरी ओर सुदूर पूर्व में जापान जैसे देशों में फैली। यह बात नहीं थी कि बड़े देशों की जनता में ही यह भावना विकास पा रही थी, छोटे-छोटे प्रदेशों के लोग जो शताब्दियों से विदेशी दासता के बंधनों में जकड़े हुए थे, राष्ट्रीय स्वाधीनता की मुक्त वायु में साँस लेने के लिए आकुल हो उठे थे।

अभ्यास के प्रश्न

१—नैपोलियन की पराजय और उसके कारणों का उल्लेख करते हुए इतिहास में उसका स्थान निर्धारित कीजिए।

२—उन्नीसवीं शताब्दी मे यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना के फैलने के मुख्य कारणों का उल्लेख कीजिए।

३—जर्मनी, स्पैन, इटली, पोलैण्ड और यूरोप के अन्य छोटे देशों में राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

४—उन्नीसवीं शताब्दी में प्रगतिशील तत्त्वों को कुचलने के कुछ प्रयत्नों का उल्लेख कीजिए। वे प्रयत्न कहाँ तक सफल हुए?

५—उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप में जनतन्त्र की भावना का विकास किस सीमा तक हुआ और राष्ट्रवाद की तुलना में उसे अधिक सफलता क्यों नहीं मिल सकी?

६—१८३० और १८४८ की क्रान्तियों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए और परिणामों की दृष्टि से उनकी तुलना कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Hays. C. J. H.: Essays on Nationalism.
2. Ludwig, E.: Napoleon.
3. Rose, J. H.: Napoleon I.
4. Poslgate, R. W.: Revolution from 1789 to 1906.

अध्याय ११

साम्राज्यवाद का विकास और उसके कारण

राष्ट्रीयता की भावना ने प्रत्येक देश की जनता के मन में अपने देश को अन्य देशों की तुलना में सशक्त और प्रभावशाली बनाने की एक तीव्र लालसा उत्पन्न कर दी और इस तीव्र लालसा ने साम्राज्यवाद को जन्म दिया, जिसके फलस्वरूप यूरोप के प्रगतिशील राष्ट्रों ने संसार के दूर दूर के देशों में जाकर अपने झंडे फहराए। संसार की अधिक से अधिक भूमि और सौ करोड़ से अधिक जनसंख्या कुछ थोड़े से साम्राज्यवादी राष्ट्रों द्वारा शासित की जाने लगी। ब्रिटेन अपनी गोरी आबादी से १० गुना अधिक काले, भूरे और पीले लोगों पर शासन कर रहा था। फ्रांस का साम्राज्य उसकी अपनी जमीन से २० गुनी अधिक जमीन पर फैला हुआ था। पुर्त्तगाल का साम्राज्य पुर्त्तगाल से २३ गुना अधिक बड़ा था और बेल्जियम का २८ गुना। साधारणतः यह माना जाता है कि साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अनिवार्य परिणाम है; परंतु वास्तव में वह पूँजीवाद से कहीं अधिक पुराना है। इसका जन्म पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में हुआ जब पुर्त्तगाल, स्पेन, हॉलैण्ड, फ्रांस और इंग्लैण्ड ने दूर दूर के देशों से अपने व्यापार के संबंध स्थापित किए। यह एक आश्चर्य की सी बात है कि साम्राज्य-निर्माण की दिशा में पहले कदम इटली और जर्मनी के उन राज्यों द्वारा नही उठाए गए, जो पन्द्रहवी और सोलहवीं शताब्दियों में व्यापार के बड़े केन्द्र थे; बल्कि पुर्त्तगाल, स्पेन आदि व्यापारिक दृष्टि से पिछड़े हुए और कृषि-प्रधान देशों द्वारा। परंतु इसके कुछ विशेष कारण थे।

साम्राज्यवाद का उत्थान

साम्राज्यवाद के उत्थान का एक बड़ा कारण यह था कि इन दिनों यूरोप में सोने-चाँदी की बहुत कमी थी। व्यापार के बढ़ते जाने से यह कमी और भी महसूस की जाने लगी। राजा को भी अपनी शान-शौकत

व शक्ति के निर्वाह के लिए सोने-चाँदी की आवश्यकता थी। इटली अपने एशियायी व्यापार के द्वारा कुछ सोना-चाँदी जुटा लेता था। जर्मनी में कुछ खानें भी थीं। अन्य देशों के पास कोई ,
साधन न थे। इस कारण, सोने व चाँदी की खोज साम्राज्यों की स्थापना में उनके व्यापारी दूर दूर तक गए। पुर्त्तगाली के कारण
पश्चिमी अफ्रीका के किनारे किनारे चलते हुए
आशा अन्तरीप का चक्कर लगाकर भारत आ पहुँचे, और उन्होंने हमारे देश के साथ व्यापार करना आरंभ किया। पुर्त्तगाल का उद्देश्य उपनिवेश कायम करना नहीं, व्यापार से लाभ कमाना था। स्पेन ने अमरीका में चाँदी और सोने की बहुत सी खानें ढूँढ़ निकालीं। स्पेन के अन्तर्गत होने के कारण उसके और पुर्त्तगाल के लाए हुए सामान को यूरोप के अन्य देशों में बाँटने का काम हॉलैण्ड के जिम्मे आया। सोलहवीं शताब्दी के अन्त में हॉलैण्ड जब स्पेन के आधिपत्य से मुक्त हुआ, तब उसने पुर्त्त-गाल के उपनिवेशों और व्यापार पर छापे मारने आरंभ किए। दूसरे देशों के सामने भी इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था कि वे अपने यहाँ नई नई वस्तुएँ तैयार करें और बाहर के देशों में जाकर बेचें, जिससे वहाँ से वह सोना व चाँदी ला सकें।

इसके लिए उपनिवेशों की आवश्यकता पड़ी। उपनिवेश प्राप्त करना यूरोप के सभी देशों का लक्ष्य बन गया। राजा की शक्ति के विकास ने इस प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। राजाओं को अपनी शान-शौकत के लिए रुपए की आवश्यकता थी और वे व्यापारियों पर कर लगाकर उसे वसूल कर सकते थे। इस कारण व्यापार और उपनिवेशवाद
दोनों को उन्होंने प्रोत्साहन दिया। धर्म-प्रचार की उपनिवेशों की उप-भावना से भी साम्राज्यवाद को बढ़ावा मिला। परन्तु योगिता
साम्राज्यवाद की स्थापना और उसके विकास का सबसे
बड़ा कारण आर्थिक ही था। समुद्र की यात्रा के लिए अब बड़े बड़े जहाज बनने लगे थे और यूरोप के विभिन्न देशों की सड़कें अब पहले से बहुत अच्छी थीं। इस कारण भारी सामान का लाना और ले जाना अब बहुत कठिन नहीं रह गया था। सभी देशों का व्यापार बड़ी तेजी से बढ़ने लगा, इस कारण प्रत्येक देश के लिए यह आवश्यक हो गया कि बाहर जाकर वह ऐसे उपनिवेशों की स्थापना करे, जहाँ वह बिना रुकावट

अथवा प्रतिद्वन्द्विता के अपना माल बेच सके। उपनिवेशों को लेकर यूरोपीय राष्ट्रों में प्रतिस्पर्धा बढ़ने लगी और अनेकों युद्ध हुए। इन युद्धों के परिणामस्वरूप, अठारहवीं शताब्दी के मध्य तक अधिकांश उपनिवेश इंगलैण्ड और फ्रांस के हाथ में आ गए थे।

साम्राज्यवाद की यह पहली लहर लगभग एक शताब्दी के बाद अपना वेग खोने लगी। पुराने साम्राज्य टूटने लगे और राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ तेजी के साथ बदलने लगीं।

साम्राज्यवाद का ह्रास और उसके कारण

बीच में एक ऐसा समय आया, जब उपनिवेशवाद में लोगों की आस्था घटने लगी। फ्रांस में टर्गो (Turgot) ने कहा, "उपनिवेश फलों के समान हैं जो पेड़ों में तभी तक लगे रहते हैं जब तक पक नहीं जाते।" इंग्लैण्ड में डिजरायली (Disraeli) ने लिखा, "ये बदनसीब उपनिवेश कुछ ही वर्षों में स्वतंत्र हो जायेंगे और तब तक के लिए वे हमारे गले में जुए के समान हैं।" आर्थिक परिस्थितियाँ और आर्थिक सिद्धान्त भी बदल रहे थे। कताई और बुनाई के नए साधनों, भाप से चलनेवाले इंजनों और इसी प्रकार के अन्य आविष्कारों ने इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) को जन्म दिया। इस दृष्टि से इंग्लैण्ड यूरोप के सभी देशों से आगे बढ़ा हुआ था। औद्योगिक उत्पादन में कोई देश उसका मुकाबिला नहीं कर सकता था। इस कारण उसे अब इस बात की चिन्ता नहीं थी कि दूसरे देशवाले उपनिवेशों में अपना माल, उसकी तुलना में सस्ते भावों पर बेंच सकेंगे। यूरोप के बाजारों में भी अपना माल बेचने के लिए वह बेचैन था। इन परिस्थितियों में नए सिद्धान्तों ने जन्म लिया। फ्रांस में टर्गो और दूसरे अर्थ-शास्त्रियों ने, इंग्लैण्ड में एडमस्मिथ (Adam Smith), काब्डन (Cobden) और ब्राइट (Bright) आदि ने मुक्त व्यापार के सिद्धान्त का प्रचार किया और उपनिवेशवाद को निरर्थक सिद्ध करने का प्रयत्न किया।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता, जनतंत्र और विश्व-बंधुत्व के वे सिद्धान्त, जिनका प्रचार उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में हो रहा था, उपनिवेशवाद के विरुद्ध थे। काब्डन ने अंग्रेजी साम्राज्य को "जनता को लूटने और परेशान करने के लिए एक षड्यंत्र" का नाम दिया। भारत में अंग्रेजी राज्य के संबंध में उसने लिखा, "प्रकृति के कानून की विजय होगी और वह

दिन अवश्य आएगा जब सफेद चमड़ीवालों को अपने देशों में लौटकर आना होगा।" तब तक हिन्दुस्तान मे उन्हे "कष्ट, हानि और अपमान" के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलेगा। धीरे धीरे सभी देशों में यह विश्वास हो चला कि उपनिवेशवाद हानिकारक साम्राज्यवाद-विरोधी और निरर्थक वस्तु है। इंग्लैण्ड ने इन वर्षों में अपने विचारों का विकास साम्राज्य को बढ़ाने के कई अच्छे अवसर जान बूझकर खो दिए। फ्रांस और जर्मनी के इतिहास में भी हमें मुक्त व्यापार में विश्वास और उपनिवेशवाद में अनास्था की यही प्रवृत्ति दिखाई देती है। फ्रांस ने अपने उपनिवेशों के व्यापार को सब देशों के लिए खुला छोड़ दिया। जर्मनी में बिस्मार्क उपनिवेशवाद के विरुद्ध था ही। उसने लिखा, "उपनिवेशों से मिलनेवाले सभी लाभ काल्पनिक हैं। इंग्लैण्ड उपनिवेशवाद की अपनी नीति को छोड़ रहा है। वह उसे बहुत महँगी पड़ी है।" परंतु यह विचारधारा अधिक नहीं चली। उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दियों मे, साम्राज्यवाद का ज्वार एक बार फिर अपने पूरे वेग के साथ लौटा, और यूरोप के सभी राष्ट्र औद्योगिक क्रान्ति द्वारा दिए गए साधनों से संपन्न होकर साम्राज्यवाद के भयंकर पथ पर एक बार फिर चल पड़े।

साम्राज्यवाद का पुनर्जन्म बदली हुई आर्थिक परिस्थितियों में हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों तक यूरोप की आर्थिक परिस्थितियों में चार बड़े परिवर्तन हो गए थे। पहली बात तो यह थी कि औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा इंग्लैण्ड ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर जो प्रभुत्व स्थापित कर लिया था, वह मिट चला था। १८७० मे संसार का आधा लोहा इंग्लैण्ड में गलाया जा रहा था, और साम्राज्यवाद का सूती कपड़ों का आधे से अधिक उत्पादन इंग्लैण्ड मे पुनर्जन्म और उसके था। किसी भी देश का विदेशी व्यापार इंग्लैण्ड की कारण तुलना में आधा भी नहीं था। परंतु अब जर्मनी, अमरीका, फ्रांस और दूसरे राष्ट्र आगे बढ़ रहे थे, और तेजी के साथ आगे बढ़ रहे थे। अंग्रेजी माल की तुलना में उनके माल का उत्पादन कई गुना अधिक वेग से बढ़ रहा था, यद्यपि परिमाण में इंग्लैण्ड का मुकाबिला वे अभी भी नहीं कर सकते थे। इन देशों का विदेशी व्यापार भी उसी अनुपात मे बढ़ रहा था। सभी देशों में अधिक से अधिक कपड़ा,

लोहा, फौलाद और अन्य वस्तुएँ तैयार करने की होड़ लगी हुई थी। प्रतिस्पर्धा में तैयार किए गए इस सीमातीत उत्पादन की बिक्री के लिए विदेशी बाजारों की आवश्यकता थी। औद्योगिक राष्ट्र, जो स्वयं इसी तरह का माल तैयार करने में लगे हुए थे, उसे क्यों खरीदते? अमरीका, रूस, जर्मनी और फ्रांस—इंग्लैण्ड को छोड़कर सभी औद्योगिक राष्ट्र—विदेशी माल के आयात पर कड़े प्रतिबन्ध लगा रहे थे। ऐसी परिस्थिति में उनके सामने केवल एक ही रास्ता था—उपनिवेशों को प्राप्त करना। उपनिवेशों में अपने तैयार किए हुए माल को आसानी से बेचा जा सकता था, और अन्य देशों से आनेवाले माल पर बंधन लगाए जा सकते थे।

संसार की आर्थिक परिस्थिति में एक दूसरा बड़ा परिवर्त्तन यातायात के साधनों में होनेवाली क्रान्ति थी। भाप से चलनेवाले जहाज अब समुद्र की उत्ताल तरंगों को रौंदते हुए संसार के कोने-कोने तक पहुँच सकते थे। रेल की पटरियाँ अफ्रीका और एशिया के घने जंगलों को चीरती हुई व्यापार और सेनाओं को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जा सकती थीं। उपनिवेशों को शासक-देशों से संबद्ध रखने के लिए पृथ्वी की सतह पर और समुद्र के गर्भ में हजारों मील तक फैले हुए तार के खंभे थे। साम्राज्यवाद का तीसरा बड़ा कारण उपनिवेशों से कच्चा माल प्राप्त करना था। ब्रिटेन के कपड़े के कारखानों में झोंकने के लिए करोड़ों गट्ठे कपास की आवश्यकता थी। इसके लिए अमरीका के स्वाधीन हो जाने पर, इंग्लैण्ड को हिन्दुस्तान और मिस्र पर निर्भर होना पड़ा। जूते और बरसाती, साइकिलें और मोटरों के टायरों आदि के लिए सभ्य संसार का काम रबड़ के बिना नहीं चल सकता था। रबड़ कांगो और अमेजॉन की घाटियों में उगनेवाले पेड़ों से ही प्राप्त किया जा सकता था। मलाया, लंका और पूर्वी द्वीपसमूह में भी यूरोपीय राष्ट्रों ने रबड़ के लिए ही अपने साम्राज्यवाद की स्थापना की। कॉफी, कोको, चाय और चीनी ने भी साम्राज्यों को जन्म दिया है।

साम्राज्यवाद का चौथा कारण यूरोप के देशों में अधिक पूँजी का इकट्ठा हो जाना था। औद्योगिक विकास के साथ प्रत्येक देश में पूँजी की मात्रा बढ़ती जा रही थी। उसे कहीं लगाना आवश्यक था। एक लंबे अरसे तक तो वह पूँजी घरेलू उद्योग-धंधों मे ही लगाई जाती रही; पर इस क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्विता बढ़ जाने के कारण अब लाभ बहुत कम

मिलता था। पिछड़े हुए देशों में जहाँ पूँजी की बड़ी कमी और आवश्यकता थी, उसे लगाने से कई गुना अधिक लाभ मिलने की आशा की जा सकती थी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में यूरोप के लोगों ने अरबों रुपया बाहर के देशों में लगाया। अपनी पूँजी इन देशों में लगाने का अर्थ यह हुआ कि धीरे धीरे उनकी राजनीति पर भी अपना प्रभुत्व स्थापित करना आवश्यक प्रतीत होने लगा। और, इस प्रकार यूरोप में पूँजीवाद के विकास के साथ, एशिया और अफ्रीका के एक बड़े भू-भाग पर साम्राज्यवाद की स्थापना हुई।

इस नई आर्थिक परिस्थिति के अनुकूल नए सिद्धान्तों का विकास भी स्वाभाविक ही था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध को उग्र राष्ट्रवाद का युग कहा जा सकता है। जर्मनी, इटली, दक्षिण-पूर्वी
यूरोप के देश, रूस, फ्रांस, ब्रिटेन और अमरीका सभी साम्राज्यवाद की
में राष्ट्रवाद की भावना तेजी से बढ़ रही थी। राष्ट्रवाद पोषक विचार-
की भावना का अर्थ था किसी भी विदेशी प्रभाव को धाराएँ
अस्वीकार करते हुए अपने देश की शक्ति को तेजी से
आगे बढ़ाते जाना। पर इसी युग में साम्राज्यवाद का भी बड़ी तेजी के साथ विस्तार हुआ। साम्राज्यवाद का अर्थ था अन्य देशों की राष्ट्रीय भावना को कुचल कर उन पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना। ऊपर से देखने में ये दोनों भावनाएँ एक दूसरी के विरुद्ध प्रतीत होती हैं। परंतु वास्तव में उत्कट राष्ट्रवाद की भावना ने ही साम्राज्यवाद को जन्म दिया। प्रत्येक देश को यह विश्वास होता जा रहा था कि साम्राज्यवाद के द्वारा ही वह अपनी राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ा सकता है। मुक्त व्यापार और साम्राज्यवाद-विरोधी सिद्धान्त अब पृष्ठभूमि में चले गए थे। नए युग का दार्शनिक नेता एडम स्मिथ नहीं था, जर्मनी का प्रसिद्ध अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट था, जिसने इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि राष्ट्र अपने आपमें एक चिरन्तन और सर्वोपरि सत्ता है और उसके लाभ के लिए यह आवश्यक है कि व्यापार का नियंत्रण राज्य के द्वारा किया जाए, और व्यक्तिगत स्वार्थों को राष्ट्रीय आवश्यकताओं के सामने गौण स्थान दिया जाए। लिस्ट राज्य द्वारा आर्थिक नियंत्रण के सिद्धान्त का पैगम्बर था। इस सिद्धान्त से युग की आवश्यकताओं की पूर्त्ति होती थी। मजदूर अपनी सुविधाओं के लिए कानून चाहते थे, औद्योगिक विदेशी

व्यापार की प्रतिद्वन्द्विता से सुरक्षा। मानववादी सामाजिक सुधारों के लिए प्रचार कर रहे थे। इन सभी बातों को पूरा करने के लिए राज्य की शक्ति को बढ़ाना आवश्यक था। और राज्य की शक्ति के बढ़ जाने पर दूर दूर के देशों पर अपना आधिपत्य स्थापित करने का काम सरलता से हो सकता था।

साम्राज्यों का विस्तार
इंग्लैण्ड

अंग्रेजी साम्राज्य के विस्तार का काम एक बार फिर हाथ में लिया गया। इसमें डिजरायली का प्रमुख हाथ रहा है। उसके नेतृत्व में अनुदार दल ने साम्राज्यवाद को अपना प्रमुख उद्देश्य ही बना लिया। इन दिनों इंग्लैण्ड में कई ऐसे बड़े-बड़े लेखक हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं में साम्राज्यवाद का समर्थन किया और कई ऐसे पूँजीपति हुए जिन्होंने उसके विस्तार के लिए मुक्त हृदय से रुपया खर्च किया। इन्हीं वर्षों में इंग्लैण्ड ने स्वेज की नहर के अधिकांश हिस्से खरीदकर उसे अपने अधिकार में ले लिया, और इसका यह परिणाम निकला कि मिस्र इंग्लैण्ड के एकाधिपत्य में आ गया। महारानी विक्टोरिया का भारत की सम्राज्ञी घोषित किया जाना भी डिजरायली के उन नाटकीय कामों में से है, जिनके द्वारा वह इंग्लैण्ड की जनता को साम्राज्यवाद की चकाचौंध से मोह लेना चाहता था। एशिया में बलोचिस्तान और अफ्रीका में ट्रान्सवाल ब्रिटेन ने इसी युग में हस्तगत किए। १८७८ में डिजरायली जब बर्लिन के सम्मेलन से लौटा तो साइप्रस (Cyprus) उसके झोले में था। अफगानिस्तान में भी उसने हस्तक्षेप किया। इंग्लैण्ड में साम्राज्यवाद की यह भावना इतनी प्रबल हो गई कि ग्लैड्स्टन (Gladstone) जब कुछ वर्षों के लिए प्रधान-मंत्री बना तब भी वह रोकी नहीं जा सकी। उदार दल के लोगों पर भी साम्राज्यवाद की अनिवार्यता स्पष्ट होती जा रही थी। साम्राज्यवादी संघ और औपनिवेशिक सम्मेलन इसी युग की सृष्टि हैं।

फ्रांस

फ्रांस भी अपने साम्राज्य को फैलाने में लगा हुआ था। अफ्रीका में ट्यूनिस और एशिया में टॉग-किंग इस नए साम्राज्य के केन्द्र-बिन्दु बने और धीरे-धीरे उनके आसपास के प्रदेश फ्रांस के साम्राज्यवाद में समाविष्ट किए जाने लगे। फ्रांस में भी आरंभ में इस प्रवृत्ति का विरोध हुआ, पर शीघ्र ही उसने सर्वमान्यता प्राप्त कर ली। जूल्स पैरी (Jules perry)

उपनिवेशवाद के इस पुनरुत्थान का मुख्य दार्शनिक था। उसने साम्राज्य-वाद के पक्ष में तीन बातें रखीं—(१) प्रत्येक औद्योगिक राष्ट्र को अपने माल को बेचने के लिए उपनिवेशों की आवश्यकता होती है। (२) सभ्य जातियों के पिछड़ी हुई जातियों के संबंध में कुछ विशेष अधिकार हैं। ये विशेष अधिकार इस कारण हैं कि उनके कुछ विशेष कर्त्तव्य हैं, और इन कर्त्तव्यों में सबसे बड़ा कर्त्तव्य असभ्य जातियों को सभ्यता की दीक्षा देना है। पैरी ने लिखा, "क्या कोई इस बात से इनकार कर सकता है कि अफ्रीका की दुःखी जनता का सौभाग्य है कि उसे फ्रांसीसी अथवा अंग्रेजी राज्य का संरक्षण प्राप्त है?" (३) तीसरा कारण यह बतलाया गया कि किसी भी समुद्री ताकत के लिए स्थान स्थान पर कोयला भरने के गोदाम और भोजन प्राप्त करने के लिए सुविधाजनक बन्दरगाह अपने नियंत्रण में रखना आवश्यक होता है। जूल्स पैरी का विश्वास था कि फ्रांस यदि साम्राज्यवाद के मार्ग से च्युत हो जाएगा, तो वह प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों की पंक्ति से हटकर तीसरी अथवा चौथी श्रेणी की ताकत बन जाएगा। फ्रांस के अन्य कई चिन्तकों ने भी इसी विचार-धारा का समर्थन किया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों मे, जब यूरोप मे जर्मनी ने उसके महानता के दावे को खंडित कर दिया था, एशिया और अफ्रीका में फ्रांस ने एक बहुत बड़े साम्राज्य की स्थापना कर ली।

जर्मनी मे बिस्मार्क उपनिवेशवाद के विरुद्ध था; परंतु वहाँ के लेखक और विचारक, व्यापारी और धार्मिक सुधारक, सब उसका जोरदार समर्थन करने में लगे हुए थे। चारों ओर यह भावना फैलती जा रही थी कि यदि जर्मनी संसार में प्रतिष्ठा के साथ जीना चाहता है, तो अपनी पूँजी लगाने और अपनी बढ़ती हुई आबादी को बसाने के लिए उसे उपनिवेशों को प्राप्त करना ही पड़ेगा। साथ जर्मनी ही पिछड़ी हुई जातियों में जर्मन संस्कृति के फैलाने के पवित्र उत्तरदायित्व को भी उसे पूरा करना है। बिस्मार्क को इस प्रवृत्ति से समझौता करना पड़ा था और वह अमरीका और प्रशान्त महासागर में अधिक दिलचस्पी लेने लगा था; परंतु जर्मनी का शासन जब तक बिस्मार्क के हाथों में रहा, उसने यूरोप की समस्याओं को ही अधिक प्रमुखता दी। उसके बाद विलियम द्वितीय (Wilhelm II) ने शासन की बागडोर जब अपने हाथ में ली, अफ्रीका, दक्षिणी समुद्र के

द्वीपों और चीन के समुद्रतट पर जर्मनी के उपनिवेश तेजी से कायम होने लगे और जर्मन साम्राज्यवाद ने तुर्की में प्रवेश किया और उसके संभाव्य पतन पर वह उसके ध्वंसावशेषों पर आधिपत्य के स्वप्न देखने लगा।

अन्य राष्ट्रों ने भी अपनी शक्ति भर साम्राज्यवाद के मार्ग पर चलना आरंभ किया। इटली ने लाल समुद्र के पश्चिमी किनारे पर और अबीसीनिया में अपने साम्राज्यवाद की नींव डाली। रूस पूर्व में साइबेरिया में, दक्षिण में कुस्तुन्तुनियाँ (Constantinople) और कॉकेशस (caucasus) तक और पश्चिम में बाल्टिक की ओर बढ़ता चला जा रहा था। आस्ट्रिया-हंगरी ने बोसनिया को अपने कब्जे में लिया और बल्कान-राज्यों पर अपनी ललचाई दृष्टि डाली। और भी छोटे राष्ट्रों के लिए इस मार्ग पर चलना और भी कठिन था। हॉलैण्ड और बिस्मार्क, पुर्त्तगाल और स्पेन अपने पुराने साम्राज्यों को कायम रखने के प्रयत्नों में लगे रहे। बेल्जियम ने मध्य अफ्रीका के कांगो प्रदेश मे अपने साम्राज्य का विस्तार किया। सुदूर पूर्व में जापान उसी मार्ग पर चल रहा था। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में यूरोप के सभी औद्योगिक राष्ट्र और उनके पद-चिह्नों पर चलनेवाले एशिया के जापान जैसे देश साम्राज्वाद के विस्तार की एक पागल बना देनेवाली प्रतिस्पर्धा में जी-जान से जूझ पड़े थे।

अन्य राष्ट्र

अभ्यास के प्रश्न

१—साम्राज्यवाद का विकास किन परिस्थितियों में हुआ? साम्राज्यवाद की स्थापना के मूल कारणों पर प्रकाश डालिए।

२—साम्राज्यवाद कुछ समय के लिए शिथिल पड़ चला, इसके क्या कारण थे? साथ ही उन परिस्थितियों और विचार-धाराओं का उल्लेख कीजिए, जिन्होंने उसे एक नया जीवन प्रदान किया।

३—उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी और अन्य राष्ट्रों के द्वारा साम्राज्य-विस्तार के प्रयत्नों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Morn, P. T. Imperialism and World Politics.
2. Langer, W. L. The Diplomacy of Imperialism.
3. Barnes, H. E. An Economic History of the Western World.

अध्याय १२

उग्र राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धाएँ

उग्र राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद की यह पागल बना देनेवाली दौड़ यूरोप और संसार को कहाँ ले जायगी, तब कोई नहीं जानता था। प्रत्येक राष्ट्र अपने स्वार्थों को बढ़ाने के लिए जी तोड़ परिश्रम कर रहा था। बिस्मार्क ने डेनमार्क, आस्ट्रिया और फ्रांस से जो लड़ाइयाँ लड़ीं, उनका स्पष्ट उद्देश्य जर्मनी की शक्ति को बढ़ाना था। इस बात की उसे चिन्ता नहीं थी कि उन देशों पर इन युद्धों का क्या असर पड़ता है। फ्रांस की गिनती यूरोप के प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों में थी। बिस्मार्क को विश्वास था कि फ्रांस को हरा देने से जर्मनी की गिनती प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों में होने लगेगी। फ्रांस की राजनीतिक दलबंदियों, नैपोलियन तृतीय के निकम्मेपन और उसकी सैनिक सहायता से वह भली-भाँति परिचित था, और फ्रांस की इस कमजोरी का उसने अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहा। फ्रांस को पराजित करने के बाद जर्मनी ने उस पर सख्त से सख्त शर्तें लादी। लड़ाई के हरजाने के रूप में उसे एक बड़ी रकम देने पर विवश किया गया, और जबतक वह अदा न कर दी गई, तब तक फ्रांस के कई सीमान्त प्रदेशों पर जर्मनी की फौजों का आधिपत्य रहा। परंतु सबसे निर्मम शर्त्त जो फ्रांस पर लादी गई, वह यह थी कि एल्सेस और लॉरेन नाम के दो प्रान्त उससे छीन लिए गए। यह वह जख्म था, जो फ्रांस की संवेदनशील राष्ट्रीयता कभी भुला न सकी। यह निश्चय था कि इस अपमानजनक पराजय के बाद फ्रांस अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयत्न करेगा और अन्य देशों से सहायता लेकर जर्मनी से प्रतिशोध लेने के लिए कटिबद्ध होगा।

जर्मनी द्वारा फ्रांस की पराजय

इस विजय के बाद बिस्मार्क ने फ्रांस को सन्तुष्ट करने के लिए सब कुछ किया, पर वह उसे एल्सेस और लॉरेन लौटाने के लिए राजी नहीं हुआ। क्योंकि ऐसा करने से जर्मनी की राष्ट्रीय
प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचने की संभावना थी। दूसरी जर्मनी की शक्ति और फ्रांस एल्सेस और लॉरेन को वापस लेने के लिए बढ़ाने के प्रयत्न अपना सब कुछ न्योछावर कर देने के लिए तैयार
था। बिस्मार्क ने यह प्रयत्न किया कि वह फ्रांस को यूरोप के किसी अन्य राष्ट्र से निकट के संबंध स्थापित न करने दे। ब्रिटेन की ओर से उसे चिन्ता न थी, क्योंकि वह इन दिनों यूरोप के मामलों में कोई दिलचस्पी नहीं ले रहा था, और एक ऐसी नीति पर चल रहा था जिसे "शानदार तटस्थता" (splendid isolation) की नीति कहने में उसे सन्तोष का अनुभव होता था। इटली कमजोर था, और जर्मनी से कहीं उसकी सीमाओं का स्पर्श नहीं होता था। बिस्मार्क ने अपना सारा ध्यान आस्ट्रिया और रूस से निकट के संबंध बनाने पर दिया; क्योंकि उसे डर था कि यदि उनमें से कोई राष्ट्र फ्रांस से मिल गया, तो जर्मनी को उससे खतरा रहेगा। इस संगठन को दृढ़ बनाने की दृष्टि से जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस के सम्राटों में कई सम्मेलन हुए और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर चर्चा और समझौते हुए।

परंतु बिस्मार्क को बहुत जल्दी इस बात का पता लग गया कि आस्ट्रिया और रूस दोनों को एक साथ रखना कठिन होगा, क्योंकि इन दोनों के स्वार्थ दक्षिण-पूर्वी यूरोप में एक दूसरे से टकराते
थे। दोनों ही बड़ी बेचैनी से तुर्की-साम्राज्य के नष्ट-भ्रष्ट अन्तर्राष्ट्रीय प्रति-
हो जाने की प्रतीक्षा कर रहे थे जिससे यूरोप के उसके स्पर्धा का विकास
प्रदेशों को हड़प सकें। बल्कान देशों पर दोनों की गृद्ध-
दृष्टि गडी हुई थी। १८७५ में बोस्निया के प्रश्न को लेकर रूस और आस्ट्रिया में मनमुटाव बढ़ गया। उसके दो वर्ष बाद जब रूस ने तुर्कों के सुल्तान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और सैन स्टीफानो की संधि (Treaty of San Stephano) में उस पर कुछ कड़ी शर्तें लाद दीं, तब तो आस्ट्रिया बहुत घबरा गया। ब्रिटेन भी रूस की इस विजय से असन्तुष्ट था। दोनों ने मिलकर सारी समस्या को एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन के सामने प्रस्तुत करने का प्रस्ताव रखा। जर्मनी ने उनका साथ दिया।

१८७८ में बर्लिन में इस प्रकार का सम्मेलन हुआ। बिस्मार्क का दावा था कि इस सम्मेलन में उसने 'ईमानदार दलाल' का काम किया; पर सम्मेलन के निर्णयों से रूस संतुष्ट नहीं हुआ, क्योंकि बर्लिन की संधि ने उसे उन बहुत से लाभों से वंचित कर दिया, जो उसने सैन स्टीफानो में प्राप्त किए थे। इसके बाद भी बिस्मार्क ने रूस को अपने साथ रखने का पूरा प्रयत्न किया, पर रूस के मन में जो फाँक पड़ गई, वह फिर मिट नहीं सकी। जर्मनी के प्रति उसका अविश्वास बढ़ता ही गया।

जर्मनी और आस्ट्रिया का गठबन्धन

इन परिस्थितियों में बिस्मार्क ने जर्मनी और आस्ट्रिया के बीच एक रक्षात्मक संधि की, जिसके अनुसार प्रत्येक देश पर यह बाध्यता थी कि यदि दूसरे पर किसी अन्य देश के द्वारा आक्रमण किया जाए, तो वह अपनी संपूर्ण शक्ति से उसकी सहायता करेगा। कुछ ही वर्षों के बाद इटली ने भी जर्मनी और आस्ट्रिया के साथ इसी प्रकार का एक समझौता किया, जिसके परिणामस्वरूप ये तीनों देश एक दृढ़ संबंध में बँध गए। मध्य-यूरोप के इन तीन राष्ट्रों के बीच की इस संधि का स्वरूप रक्षात्मक था। इसका अर्थ यह था कि इनमें से कोई भी देश अपने साथी देश की सहायता के लिए तब तक विवश नहीं था, जब तक किसी बाहरी देश के द्वारा उस पर आक्रमण ही न किया जाए।

रक्षात्मक होते हुए भी केन्द्रीय यूरोप के राष्ट्रों के इस गठबंधन का परिणाम यह निकला कि फ्रांस और रूस ने अपने संबंधों को दृढ़ बनाया। फ्रांस और रूस में किसी भी प्रकार का सादृश्य नहीं था। एक पश्चिमी यूरोप का गणतंत्र राज्य था, दूसरा पूर्वीय यूरोप का एक तानाशाह देश।

जर्मनी और आस्ट्रिया के समझौते की प्रतिक्रिया

परंतु केन्द्रीय यूरोप के इस त्रि-राष्ट्रीय संगठन ने उन्हें इस बात के लिए विवश किया कि वे सारी असमानताओं को भुलाकर मैत्री के एक निकटतम सूत्र में अपने को बाँध लें। ब्रिटेन की बाह्य-नीति कई वर्षों तक डावाँडोल रही। उसका यह विश्वास था कि यूरोप की यह गुटबन्दी महाद्वीप के आन्तरिक प्रश्नों के संबंध में है, जिनसे उसका कोई संबंध नहीं और वह मजे में तटस्थता की अपनी इस नीति पर चलता रह सकता है। पर यूरोप के देशों का बढ़ता हुआ साम्राज्यवाद संसार के कोने कोने में उसके स्वार्थों पर चोट कर रहा था। एशिया में, विशेष-

कर चीन में, रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से वह बहुत अधिक सशंकित था। उसे रोकने के उद्देश्य से उसने १९०२ में जापान के साथ एक समझौता किया। इस समझौते से जापान की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा बढ़ी और उसकी साम्राज्यवादी महत्त्वाकांक्षाओं को भी प्रोत्साहन मिला, जिसका यह परिणाम हुआ कि १९०४-५ में पूर्व का यह महत्त्वाकांक्षी बौना रूसी दैत्य से जा भिड़ा और युद्ध में उसे बुरी तरह पराजित किया। यह पहला अवसर था जब एक बड़े योरोपीय देश को एक छोटे, पर संगठित एशियायी देश के हाथों पराजय का सामना करना पड़ा था।

उधर, यूरोप में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए ब्रिटेन ने जर्मनी के साथ समझौता करने का प्रयत्न किया; पर बार बार किए जानेवाले समझौते के इन प्रस्तावों को जर्मनी ने प्रत्येक बार ही ठुकरा दिया, क्योंकि जर्मनी को भय था कि यदि वह ब्रिटेन के साथ समझौता कर लेगा तो उसे सदा के लिए एक द्वितीय श्रेणी की शक्ति बने रहना होगा। वह तो ब्रिटेन की बराबरी करने के और यदि संभव हो तो उससे आगे बढ़ जाने का प्रयत्न कर रहा था, और उसके लिए ब्रिटेन से युद्ध करने के लिए तैयार था।

ब्रिटेन और फ्रांस पारस्परिक संबंध

जर्मनी द्वारा अपमानित और लांछित होकर ब्रिटेन फ्रांस की ओर मुड़ा। ब्रिटेन और फ्रांस का औपनिवेशिक और व्यापारिक संघर्ष बहुत पुराना था और अब भी न्यूफाउण्डलैण्ड (Newfoundland), मैडागास्कर (Madagascar) और स्याम (Siam) आदि को लेकर दोनों में काफी मतभेद था, और मिश्र और मोरक्को के मामलों में तो यह मतभेद खुले संघर्ष का रूप लेने की धमकी दे रहा था। परंतु जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति और फ्रांस और रूस की महत्त्वाकांक्षाओं से सशंकित ब्रिटेन ने १९०४ में फ्रांस के साथ एक समझौता किया, जिसमें इन सभी प्रश्नों को बड़ी उदारता के साथ उन समस्याओं को सुलझा लिया। मिस्र में फ्रांस ने ब्रिटेन के प्रभुत्व को मान लिया और मोरक्को में ब्रिटेन ने फ्रांस की प्रधानता का समर्थन करने की प्रतिज्ञा की।

ब्रिटेन और फ्रांस का यह समझौता भी आकस्मिक संकट की स्थिति में सुरक्षा की दृष्टि से ही किया गया था। परंतु इससे जर्मनी की आशंकाओं का बढ़ जाना उतनी ही स्वाभाविक था जितना जर्मनी, आस्ट्रिया और इटली के समझौते से फ्रांस के भय का बढ़ना। जर्मनी को सबसे बड़ी

आशंका यह थी कि जिस फ्रांस को एकाकी बना देना उसकी विदेशी नीति का अब तक सबसे बड़ा लक्ष्य था, वह अब एक ओर तो रूस के साथ एक प्रगाढ़ मैत्री के संबंध में आबद्ध हो गया था, और दूसरी ओर ब्रिटेन से उसका दृढ़ संबंध बनता जा रहा था। जर्मनी की दृष्टि में उसको विदेशी-नीति की यह एक बड़ी पराजय थी। परंतु वस्तुस्थिति से समझौता करने के लिए वह तैयार नहीं था। उसके सामने तो एक ही मार्ग था—अपनी राष्ट्रीय शक्ति को अधिक से अधिक बढ़ाते जाना। बिस्मार्क, रून (Roon) और मोल्टके (moltke) ने जर्मनी को एक सशक्त सेना दी थी। कैसर विलियम द्वितीय ने उसके जहाजी बेड़े को सशक्त बनाने का प्रयत्न किया। जर्मनी के उस समय के गुप्त सरकारी कागज-पत्रों को देखने से अब यह स्पष्ट हो गया है कि अपने जहाजी बेड़े की शक्ति को बढ़ाने मे जर्मनी का उद्देश्य केवल यही था कि वह अपनी अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को बढ़ा सके। इंग्लैण्ड के जहाजी बेड़े से टक्कर लेने की कोई कल्पना उसके मन में न थी। परंतु इंग्लैण्ड ने उसके इस प्रयत्न को गहरे अविश्वास की दृष्टि से देखा। इंग्लैण्ड यह मानता था कि जर्मनी को एक बड़ी फौज रखने की आवश्यकता तो है, पर वह यह मानने के लिए तैयार नहीं था कि अपने जहाजी बेड़े को बढ़ाना भी उसके लिए आवश्यक हो सकता है। बाद में तो जर्मनी और ब्रिटेन के बीच समझौते की सारी बातचीत केवल इसी कारण बार बार टूटती रही कि जर्मनी का कहना था कि इंग्लैण्ड यदि उसके साथ अन्य राजनीतिक मामलों के संबंध में समझौता करने को तैयार हो, तो वह अपने जहाजी बेड़े को कम कर सकेगा, और इंग्लैण्ड इस बात पर अड़ा रहा कि जब तक जर्मनी अपने जहाजी बेड़े को कम नहीं करता, वह उससे किसी भी राजनीतिक प्रश्न पर बातचीत करने के लिए तैयार नहीं होगा।

जर्मनी की आशंकाएँ

अविश्वास के इस वातावरण से इंग्लैण्ड ने यह आवश्यक समझा कि वह फ्रांस के अतिरिक्त अन्य देशों से भी निकट के संबंध स्थापित करे। फ्रांस और रूस की मैत्री इतनी प्रगाढ़ थी कि फ्रांस से समझौता करने के बाद इंग्लैण्ड के लिए यह स्वभाविक हो गया कि वह रूस से भी अपने संबंधों को सुधारे। इंग्लैण्ड और रूस के बीच भी मतभेद के बड़े गहरे कारण उपस्थित थे। उन्नीसवीं शताब्दी में इंग्लैण्ड की विदेश-नीति

का एक प्रमुख उद्देश्य रूस के साम्राज्य-विस्तार को रोकना था। तिब्बत, ईरान और अफगानिस्तान में अब भी इंग्लैंड और रूस के स्वार्थ आपस में टकरा रहे थे। परंतु जर्मनी के समान विरोध ने इन दोनों देशों के अपने पुराने संघर्ष और प्रतिस्पर्धाओं

इंग्लैण्ड और रूस का समझौता

को भुलाने पर विवश किया। १९०५ में जापान के हाथों रूस की पराजय ने यह भी सिद्ध कर दिया था कि रूस उतना सशक्त नहीं है जितना इंग्लैंड उसे समझता था। इन परिस्थितियों में १९०७ में इंग्लैण्ड और रूस में एक समझौता हुआ, जिसमें झगड़े की सभी समस्याओं को बड़ी कुशलता के साथ सुलझा लिया गया और दोनों देशों ने एक-दूसरे को साथ देने का वादा किया। तिब्बत मे इंग्लैण्ड और रूस दोनों ही देशों ने हस्तक्षेप न करने का निश्चय किया, अफगानिस्तान में रूस ने अंग्रेजों की वैदेशिक नीति पर नियंत्रण रखने के अधिकार को मान लिया और ईरान को तीन भागों में बाँट दिया गया, जिनमें से प्रत्येक पर क्रमशः रूस, ईरान के शाह और इंग्लैंड का प्रभुत्व स्वीकार कर लिया गया। १९०४ के इंग्लैंड और फ्रांस के समझौते के बाद १९०७ में इंग्लैंड और रूस के बीच इस समझौते का अर्थ यह हुआ कि इंग्लैंड, फ्रांस और रूस तीनों मित्रता की एक दृढ़ कड़ी में बँध गए। यूरोप, इस प्रकार स्पष्ट रूप से, दो विभिन्न गुटों मे बँट गया था। एक मे केन्द्रीय यूरोप के साम्राज्याकांक्षी देश, जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी और इटली थे, दूसरे में इंग्लैंड, फ्रांस और रूस। ज्यों ज्यों समय बीतता गया, इन दोनों गुटों की प्रतिस्पर्धा एक भयंकर रूप लेती गई।

इन दोनों गुटों में वास्तविक युद्ध तो १९१४ में आरंभ हुआ, पर 'संकटों' के विस्फोट एक के बाद एक लगातार होते रहे। प्रत्येक 'संकट' ने युद्ध की स्थिति को और समीप लाने में सहायता

'संकटों' का काल

पहुँचाई। १९०५ में मोरक्को के प्रश्न को लेकर पहले 'संकट' की उत्पत्ति हुई। जर्मनी ने मोरक्को में फ्रांसीसी साम्राज्य के विस्तार को रोकना चाहा, पर रूस और इंग्लैंड की सहायता से फ्रांस ने जर्मनी के प्रयत्नों को असफल कर दिया। इसके बाद ही फ्रांस और इंग्लैंड ने आपस में कई सैनिक समझौते इस उद्देश्य से किए कि यदि जर्मनी ने फिर कभी उनके मार्ग में बाधा उपस्थित करने की चेष्टा की,

तो वे उसका सशस्त्र विरोध कर सकें। १९०८ में आस्ट्रिया के द्वारा वोस्निया पर अधिकार कर लिये जाने से यूरप में एक बार फिर 'संकट' की स्थिति उत्पन्न हो गई। आस्ट्रिया की कार्यवाही का सीधा प्रभाव रूस की वल्कान-संबंधी महत्त्वाकांक्षाओं पर पड़ा था। फ्रांस ने रूस का साथ देने के अपने आश्वासन को दोहराया और जर्मनी ने यह स्पष्ट कह दिया कि वह आस्ट्रिया का परित्याग कदापि नहीं करेगा; पर संकट इस बार भी टल गया। १९११ में अगादीर की समस्या को लेकर, जिसका जन्म मोरक्को के प्रश्न में जर्मनी के हस्तक्षेप के दूसरे प्रयत्न में हुआ था, तीसरी बार फिर 'संकट' के वादल मँडराए। वे छितर भी नहीं पाए थे कि १९१२ में वल्कान-युद्धों का आरम्भ हो गया। वल्कान-राष्ट्रों ने एक बार तो अपने संयुक्त प्रयत्नों से टर्की को हरा ही दिया पर शीघ्र ही उनमें आपस में फूट पड़ जाने के कारण विजय के परिणामों से उन्हें वंचित रह जाना पड़ा। आस्ट्रिया और जर्मनी जो टर्की के ध्वंसावशेषों पर अपने साम्राज्यों के प्राचीर खड़े करने के स्वप्न देख रहे थे, छोटे वल्कान-देशों की राष्ट्रीय आकांक्षाओं को सह नहीं सकते थे। उन्होंने टर्की का साथ दिया। परंतु फ्रांस और इंग्लैंड की सहायता से रूस ने टर्की का विरोध किया। इन घटनाओं ने वातावरण को इतना विक्षुब्ध वना दिया कि राष्ट्रों के इन दो विरोधी समूहों में, जिनमें यूरोप के सभी प्रमुख देश वँट गए थे, एक विश्वव्यापी निर्मम महायुद्ध की लपटों में झोंक देने के लिए केवल एक चिनगारी की आवश्यकता थी।

वह चिनगारी एक अज्ञात सर्व देशभक्त के द्वारा वौसनिया की सीमा में, आस्ट्रिया के निकम्मे राजकुमार की मूर्खतापूर्ण हत्या के रूप में सुलग उठी। इस हत्या से आस्ट्रिया में रोष की एक लहर दौड़ गई। वह प्रतिशोध लेने पर तुल पड़ा। परंतु वह जानता था कि सर्विया पर

आक्रमण करने का अर्थ होगा रूस के विरुद्ध युद्ध

महायुद्ध का आरंभ करने के लिए तैयार रहना, क्योंकि रूस वल्कान में

आस्ट्रिया की किसी भी आक्रमणात्मक कार्यवाही को

अव सहन करने के लिए तैयार नहीं था। आस्ट्रिया ने सारी स्थिति को जर्मनी के सामने रखा। जर्मनी रूस से युद्ध छिड़ जाने की स्थिति में आस्ट्रिया को पूरी सहायता देने के लिए प्रतिज्ञावद्ध था ही। उसकी अनुमति से आस्ट्रिया ने सर्विया को 'अल्टीमेटम' दे दिया और उसकी

समाप्ति पर युद्ध की घोषणा कर दी। सर्बिया को आस्ट्रिया के हमले से बचाने के लिए रूस आगे बढ़ा और रूस के युद्ध में शामिल होते ही फ्रांस उसमें कूद पड़ा। युद्ध में फ्रांस के भाग लेने का स्पष्ट उद्देश्य यह था कि वह लड़कर एल्सेस और लॉरेन को एक बार जर्मनी के हाथों से छीन लेना चाहता था। जर्मनी इस चुनौती का प्रत्युत्तर देने के लिए तैयार बैठा ही था। आस्ट्रिया को, रूस और फ्रांस के विरोध में अकेला छोड़ देना स्वयं उसके अस्तित्व के लिए खतरनाक था। जर्मनी का अपने निकटतम साथी की रक्षा के लिए युद्ध में जूझ जाना अनिवार्य था। इंग्लैंड कुछ समय तक अनिश्चय की सी स्थिति में रहा; पर फ्रांस और रूस से वह इतनी दृढ़ संधियों में बँधा हुआ था कि उसका युद्ध से बाहर रहना असंभव था। अपने साथियों को युद्ध में प्रवृत्त होने से रोकने का न इंग्लैंड ने कोई प्रयत्न किया और न जर्मनी ने, मानो वे इस बात को जानते थे कि युद्ध तो अनिवार्य है और उनमें से प्रत्येक को यह भी विश्वास था कि उसकी अपनी शक्ति इतनी बढ़ी हुई है कि शत्रु उसके सामने अधिक दिनों तक टिक नहीं सकेगा।

महायुद्ध की विभीषिका

इस प्रकार प्रथम महायुद्ध का आरंभ हुआ। युद्ध का दावानल जब एक बार सुलग उठा, तो वह चार वर्ष और कुछ महीनों तक अपने पूरे वेग से धधकता रहा। संसार का कोई महाद्वीप और कोई समुद्र उसकी लपटों से सुरक्षित न रह सका— युद्ध का देवता जैसे एक के बाद एक, सभी देशों को उसमें झोंक देने के लिए कटिबद्ध बैठा हो। इटली ने मध्य-यूरोप के राष्ट्रों को धोखा देकर, कुछ प्रदेशों के थोथे प्रलोभन में, मित्र-राष्ट्रों का साथ दिया। जापान ने, सुदूर पूर्व के जर्मन प्रदेशों और द्वीप-समूहों को हथियाने की दृष्टि से, जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। टर्की ने मध्य-यूरोपीय राष्ट्रों का साथ दिया। अमरीका भी युद्ध में खिंच आया—तटस्थता के उसके सारे सिद्धान्त एक ओर रह गए। युद्ध के समाप्त हो जाने पर वह स्वयं इस बात का निश्चय न कर सका कि वह युद्ध में शामिल क्यों हुआ था और इंग्लैंड के प्रचार पर उसने उसका सारा दोष मढ़ा। 'संसार को जनतंत्र के लिए सुरक्षित रखने' और 'युद्ध का अन्त करने' के लिए लड़े जानेवाले इस युद्ध ने लाखों निर्दोष व्यक्तियों के जीवन का अन्त कर दिया और करोड़ों के

जीवन में शून्यता, दारिद्र्य और विषाद की सृष्टि की, और जब उसका अन्त हुआ तब उसमें हारनेवाले देश तो नष्ट हुए ही, विजयी राष्ट्रों की समस्त आर्थिक व्यवस्था इस बुरी तरह से चकनाचूर हो गई कि उनमें से अधिकांश उसके दुष्परिणामों से कभी मुक्त नहीं हो सके और उनका नैतिक पतन और राजनीतिक विघटन एक तीव्र गति से बढ़ता ही गया।

युद्ध के कारण

यह युद्ध लड़ा ही क्यों गया था? लड़ाई का अन्त होने पर विजयी राष्ट्रों ने पराजित जर्मनी से यह स्वीकार करा लिया कि युद्ध का दायित्व उसी का था, और इस स्वीकृति के आधार पर, युद्ध का हर्जाना देने की शर्त्त उस पर लादी गई। पर आज तो सभी देशों के उस समय के गुप्त सरकारी कागज-पत्र इतिहास के विद्यार्थी के लिए उपलब्ध हैं और उन्हें देखकर यह निश्चित करना असंभव हो जाता है कि युद्ध की जिम्मेदारी किसकी मानी जाए। सच तो यह है कि जब युद्ध का मुख्य उत्तरदायित्व किसी भी देश पर नहीं रखा जा सकता था, यह कहना भी कठिन होगा कि किसी भी देश को उससे मुक्त किया जा सकता है। दोष सभी का था—किसी का कुछ कम, किसी का कुछ अधिक। और देशों से अधिक दोष उन प्रवृत्तियों और उन कार्यवाहियों का था, जो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अनिवार्य अंग बन गई थीं। राष्ट्रवाद की भावना सभी देशों में उग्र रूप लेती जा रही थी। और कई देशों में जहाँ वह जातीयता की भावना से संबद्ध हो गई थी, वह अत्यंत भयंकर हो उठी थी। धार्मिक स्थानों, शिक्षण-संस्थाओं, सांस्कृतिक पर्वों—सभी में, पग-पग पर, व्यक्ति को अपने देश को बड़ा मानने, उसके लिए अपने को उत्सर्ग कर देने और अन्य देशों को छोटा और हेय समझने और यदि वे सिर उठाने का साहस करें, तो उन्हें कुचल देने के लिए तैयार रहने की शिक्षा दी जाती थी। पर राष्ट्रवाद की इस भावना के पीछे ट्यूटन जाति की एकता अथवा स्लाव जाति की एकता की जातीय भावना भी काम कर रही थी। एक को जर्मनी से प्रेरणा दी जा रही थी और दूसरी को रूस से। इस युग के साहित्य में भी हमें इस जातीय आधार पर संगठित होनेवाले राष्ट्रवाद का पूरा प्रतिविम्ब दिखाई देता है। जातीय राष्ट्रवाद के साथ ही आर्थिक साम्राज्यवाद की भावना भी काम कर रही थी। दुनिया के कच्चे माल और दुनिया की मंडियों पर आधिपत्य के लिए भी यह युद्ध लड़ा गया

था। प्रतिस्पर्धा साम्राज्यों के लिए थी। इंग्लैंड, फ्रांस और रूस महान् साम्राज्यों के अधिपति थे। जर्मनी और इटली उपनिवेशवाद की भूख से पीड़ित थे, पर लगभग सभी प्राप्य उपनिवेशों पर उनके प्रतिद्वन्द्वियों ने पहले से ही अधिकार जमा रखा था और इस अधिकार को वे शक्ति रहते, शिथिल होने देने के लिए तैयार नहीं थे। इस कारण, शक्ति से उन पर आक्रमण अनिवार्य दिखाई दे रहा था। दूसरी ओर जर्मनी का आर्थिक साम्राज्यवाद इस तेजी से बढ़ चला था कि इंग्लैंड सशंकित हो उठा था और उस पर एक घातक प्रहार करने के लिए बेचैन था।

युद्ध का दायित्व सभी देशों पर था, इसका अनुमान तो इस बात से ही लगाया जा सकता है कि १६१४ में सभी देश युद्ध के लिए पूरी तौर से तैयार थे। उनकी सेनाएँ युद्ध के सामान से सुसज्जित थीं और उनसे कई गुना अधिक व्यक्तियों को सैनिक शिक्षा दी जा चुकी थी और किसी भी क्षण युद्ध के मैदान पर उन्हें बुलाया जा सकता था। लड़ाई के भयंकर से भयंकर जहाज बनाए जा रहे थे। दायित्व का प्रश्न शासन लगभग सभी देशों में सैनिक वर्ग के लोगों के हाथ में था। शान्ति और समझौते की बात करने के लिए किसी को अवकाश न था। प्रत्येक देश अपने साथी देशों के साथ गुप्त समझौतों और सैनिक दाँव-पेचों की व्यवस्था करने में लगा हुआ था। सभी गुप्त समझौते भयंकर थे अथवा सभी सैनिक दाँव-पेंच आक्रमण की दृष्टि से ही सोचे जा रहे थे, यह बात नहीं थी; पर पारस्परिक अविश्वास इतना घना हो गया था कि एक दल में इस प्रकार की हल्की सी चर्चा भी दूसरे दल के लिए शंकाओं और कुशंकाओं का कारण बन जाती थी और उसे अपनी युद्ध की प्रकट और गुप्त सभी तैयारियों को और दृढ़ बनाने की प्रेरणा देती थी। जहाँ प्रतिस्पर्धा इतनी तीव्र हो और अविश्वास इतना गहरा, वहाँ शान्ति का कोई भी प्रयत्न निष्फल हुए बिना नहीं रह सकता था।

अभ्यास के प्रश्न

१—बिस्मार्क की विदेश-नीति के संबंध में अपने विचार व्यक्त कीजिए। बिस्मार्क की नीति को कहाँ तक प्रथम महायुद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराया जा सकता है?

२—प्रथम महायुद्ध के पहले यूरोप के राज्यों के दो गुटों में बँट जाने का संक्षिप्त इतिहास बताइए।

३—प्रथम महायुद्ध का आरंभ किन परिस्थितियों में हुआ? उसके कारणों का विश्लेषण करने का प्रयत्न कीजिए।

४—प्रथम महायुद्ध को क्या किसी प्रकार रोका जा सकता था, इस सम्बन्ध में अपनी सम्मति दीजिए और उन साधनो का उल्लेख कीजिए, जिनका उपयोग आपकी समझ मे आवश्यक था।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Fay, S. B. : Origins of The World War.
2. Hazen, C. D. : Europe Since 1815.
3. Simons., F. H., and Brooks Emeny : The Gre-- Powers in World Conflict.

अध्याय १३

पददलित देशों में स्वाधीनता के आन्दोलन

यूरोप के जिन देशों ने एशिया और अफ्रीका में अपने साम्राज्यों की स्थापना की थी, उनका मुख्य उद्देश्य संभवतः राजनीतिक नहीं था। उनमें से अधिकांश व्यापारी की हैसियत से इन देशों में आये थे। वे यहाँ पर व्यापार करना चाहते थे ईमानदारी से, यदि संभव हो, और बेईमानी और जोर-जबरदस्ती से यदि आवश्यकता पड़ जाए। साम्राज्य स्थापित करने की कोई निश्चित योजना लेकर ये लोग नहीं आये थे। एशिया और अफ्रीका के इतिहास मे ये शताब्दियाँ राजनीतिक विघटन और अकेन्द्रीकरण की शताब्दियाँ थीं। प्रादेशिक शक्तियाँ आपसी युद्धों में लगी हुई थीं। व्यापार के लिए शान्ति और सुव्यवस्था की आवश्यकता थी। आपस में झगड़नेवाली प्रादेशिक शक्तियों ने प्रायः विदेशी व्यापारियों का पल्ला पकड़ा और उनसे प्रार्थना की कि उनकी सहायता करें और उस सहायता के बदले में बड़े बड़े लालच उनके सामने रखे। इस बीच विदेशी व्यापारियों ने व्यापार की सुरक्षा की दृष्टि से किले बनाने शुरू कर दिए थे और उनकी रक्षा के लिए फौजें रखने लगे थे। ये फौजें सुसंगठित और सुसंचालित थीं। यूरोप की फौजों के ढंग पर उनका संगठन किया गया था। कई बार देशी लोगों को भी फौज में भरती करके यूरोपीय ढंग की ट्रेनिंग दे दी गई थी। इन संगठित फौजों को लेकर, दूसरों के आमंत्रण पर अथवा अपनी प्रेरणा से, जब कभी यूरोपीय शक्तियाँ आन्तरिक संघर्षों में भाग लेती थीं, उनका हस्तक्षेप प्रभावशाली होता था। उनका वजन इतना होता था कि विजय का पलड़ा उनके बोझ से दब जाता था। एक के बाद दूसरे आन्तरिक विद्रोहों में से होते हुए यूरोप के व्यापारी एशिया और अफ्रीका के अनेक देशों में अपने साम्राज्यों की स्थापना करने मे सफल हुए।

यूरोपीय साम्राज्य-वाद का स्वरूप

परंतु एशिया और अफ्रीका के देशों में स्थापित होनेवाले और फैलने-वाले यूरोपीय शक्तियों के ये साम्राज्य इन देशों के पुराने साम्राज्यों से भिन्न प्रकार के थे। इनका उद्देश्य अपने साम्राज्यों की सीमान्त रेखाओं को विस्तीर्ण बनाकर एक वैभवशाली दरबार की स्थापना कर लेने और अपनी शान-शौकत के भड़कीले प्रदर्शन से संतोष पददलित देशों का प्राप्त कर लेना नहींथा। इनका उद्देश्य तो अपने आर्थिक शोषण व्यापार को फैलाना था। इधर, इनके व्यापार का स्वरूप भी तेजी के साथ बदल रहा था। इन देशों में एक महान् औद्योगिक क्रान्ति का विकास हो रहा था। अब इन व्यापारियों का उद्देश्य एक स्थान के माल को दूसरे स्थान पर थोड़ा सा लाभ लेकर वेच देना और जहाँ तक संभव हो सके, उस देश का माल सस्ते भाव में खरीद लेना नहीं था। अब उनकी वड़ी फैक्टरियाँ वड़े परिमाण में वैज्ञानिक साधनों से तैयार किया हुआ माल उगल रही थीं, और इन व्यापारियों का काम यह था कि वे उस तैयार किए हुए माल को विदेशों में, और विशेषकर अपने साम्राज्य की मंडियों मे खपाते जाएँ और उन देशों से कच्चा माल ढो-ढोकर अपनी फैक्टरियों के दरवाजों पर लाकर इकट्ठा कर दें। विदेशी आधिपत्य के इस नए स्वरूप का परिणाम यह हुआ कि उपनिवेशों के समस्त आर्थिक ढाँचे को बदल देने का प्रयत्न आरंभ करा दिया गया। समाजव्य-वस्था के इस परिवर्त्तन से उपनिवेशों को लाभ न पहुँचा हो, यह वात नहीं थी। इन देशों का उत्पादन वड़ी तेजी के साथ वढ़ गया। जगह-जगह जंगल साफ किए गए, दलदलों को पाटा गया और ऐसी भूमि को कृषि के लिए तैयार किया गया, जिसका इस दृष्टि से कभी उपयोग नहीं किया गया था। सड़कों और रेलगाड़ियों का जाल सभी उपनिवेशों में फैलता चला गया। चावल और रवड़ की पैदावार वढ़ी। कोयले और लोहे की खानों को खोदा गया। इन सबका प्रभाव यह पड़ा कि उपनिवेशों का आर्थिक उत्पादन वढ़ गया। परन्तु उसका लाभ क्या उपनिवेशों के रहनेवालों को मिला? नहीं। उसका वास्तविक लाभ यूरोप के साम्राज्यवादी देशों को मिला। उनकी धन-संपत्ति और वैभव-समृद्धि में विकास हुआ। उनके साहित्य को नई प्रेरणा मिली। उनके संगीत के स्वर एक नई इठलाहट से काँप उठे। उनकी चित्रकारी के रंग निखर आए। उनके राजप्रासादों और गिरजा-

घरों की मीनारें आकाश को चूमने लगीं। उपनिवेश आर्थिक दृष्टि से समृद्ध बने; परंतु उपनिवेशों की जनता गरीब और दुःखी होती चली गई।

इस्लाम का विद्रोह

इन परिस्थितियों के विरुद्ध विद्रोह की भावना का फैलना स्वाभाविक था। इन बन्दी बनाए गए जन-समुदाय में तीस करोड़ मुसलमान भी थे, जो विभिन्न उपनिवेशों में बिखरे हुए थे पर; जिनमें से पाँच अरब देशों मे रहते थे। ये लोग आसानी से इस बात को नहीं भूल सकते थे कि पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों में यूरोप में जिस पुनर्जागृति-युग का उद्भव हुआ था, उसके मूल में उनका वह विकास के शिखर पर पहुँचा हुआ ज्ञान और विज्ञान था, जिसके संपर्क ने यूरोप के लोगों को अपनी प्राचीन संस्कृतियों के जीर्णोद्धार की प्रेरणा दी थी। अभी कुछ समय पहले तक भी वे यूरोप के लोगों की तुलना में सभ्यता की दृष्टि से किसी भी रूप में पीछे नहीं थे। इन मुसलमानों में से अब लगभग पन्द्रह करोड़ अंग्रेजी साम्राज्य में और शेष फ्रांस और इंग्लैंड के साम्राज्यों में थे। १६०३ में मुसलमानों में एकता, और पश्चिम के राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक प्रभुत्व के प्रति विद्रोह की भावना का निर्माण करने के उद्देश्य से एक अखिल-इस्लामी आन्दोलन की नींव डाली गई। संसार भर में बिखरे और अनेक मतमतान्तरों में बँटे हुए मुसलमानों को एकता के सूत्र में बाँध देना सरल नहीं था, और यह आन्दोलन अधिक सफल नहीं हो सका; परंतु उपनिवेशों में पश्चिम के प्रति विद्रोह की भावना की सृष्टि अवश्य की। प्रथम महायुद्ध में टर्की के साम्राज्य को विघटित करने की दृष्टि से, अंग्रेजों ने अरब-राष्ट्रीयता का समर्थन किया। अरबों को आश्वासन यह दिया गया था कि युद्ध के बाद उन्हें एक स्वतंत्र राज्य का विकास करने का अवसर दिया जायगा। परंतु विजय प्राप्त कर लेने पर अंग्रेजों ने वचन-भंग करके अरब देशों को अपने और फ्रांस के बीच बाँट लिया। इराक और फिलस्तीन अंग्रेजों के हिस्से आए, सीरिया और लेबनान पर फ्रांस का संरक्षण स्थापित किया गया। अरब विद्रोहों को इंग्लैंड और फ्रांस की सेनाओं ने बुरी तरह कुचला; परंतु इराक, सीरिया, फिलस्तीन, लीबिया और मिस्र सभी में विद्रोह की ज्वाला निरन्तर सुलगती रही। दूसरे महायुद्ध में बहुत से अरब नेताओं ने धुरी राष्ट्रों का साथ दिया। बहुत संभव है कि दूसरे महायुद्ध की समाप्ति पर अरब देशों को

स्वाधीनता मिल जाती। पर इस बीच इराक, ईरान और सौदी अरब में तेल के अपार स्रोतों का पता लग चुका था और अंग्रेज और अमरीकी अपनी कंपनियाँ इन देशों मे खोलते जा रहे थे।

अरब देशो की स्वाधीनता और समस्याएँ

दूसरे महायुद्ध की समाप्ति पर सीरिया और लेबनॉन को फ्रांस के आधिपत्य से मुक्ति मिली। अंग्रेज सीरिया के अमीर अब्दुल्ला को एक 'वृहत् सीरिया' के निर्माण के लिए सहायता दे रहे थे। मिस्र अंग्रेजों की अधीनता के जुए को उतार फेंकने के लिए बेचैन था। मार्च १९४५ में सभी अरब देशों के नेताओं ने मिलकर अरब लीग की स्थापना की, और मिस्र के आजम पाशा को उसका मंत्री चुना। अरब लीग का उद्देश्य अरब देशों की "स्वाधीनता और प्रभुसत्ता की रक्षा" और उनके आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक सहयोग का विकास करना था। अरब लीग को विशेष सफलता नहीं मिल सकी। इसका कारण यह था कि वह सामंतवादी व्यवस्था का ही अधिक प्रतिनिधित्व करती थी, जनसाधारण का नहीं। फिलस्तीन के स्वाधीनता के संघर्ष ने उसकी प्रतिष्ठा को और भी गिराया। अरबों के आधिपत्य से मुक्त होने के लिए यहूदी वर्षों से छटपटा रहे थे और प्रयत्नशील थे। प्रथम महायुद्ध में अंग्रेजों ने केवल अरबों को एक अरब-राज्य के निर्माण मे (जिसमें उनकी दृष्टि से फिलस्तीन का सम्मिलित किया जाना स्वाभाविक था) सहायता देने का आश्वासन दिया था, यहूदियों को भी एक स्वतंत्र फिलस्तीन की स्थापना का वचन दिया था। पर युद्ध के बाद अंग्रेजों ने इस वचन की रक्षा के लिए भी कोई उत्साह नहीं बताया। अरब-यहूदी संघर्ष, एक जातीय संघर्ष की समस्त बर्बरता के साथ लगातार चलता रहा। दूसरे महायुद्ध के बाद अंग्रेज फिलस्तीन की स्वतंत्रता के संबंध में उदासीन रहे, पर अमरीका और संयुक्त राष्ट्र के प्रयत्नों से, फिलस्तीन का विभाजन करके, यहूदी बहुमतवाले भागों को इजरायल के स्वतंत्र राज्य में परिवर्त्तित कर दिया गया। अरबों ने इस निर्णय का विरोध किया और इजरायल के विरुद्ध युद्ध की घोषणा भी कर दी। पर उनकी सैनिक दुर्बलता बहुत शीघ्र प्रकट हो गई और इजरायल एक स्वतंत्र राज्य के रूप में अपने को संगठित करने के प्रयत्नों में जुट पड़ा। आज वह छोटे राज्यों में एक आदर्श राज्य बन गया है।

यरूशलम से यज्ञकर्त्ता (Jogjakarta) लगभग तीन हजार मील की दूरी पर स्थित है, पर वहाँ की मुस्लिम जनता में भी मध्य-पूर्व के अखिल इस्लामी (Pan Islamic) आन्दोलन का प्रभाव उन बहुत से धार्मिक यात्रियों के द्वारा पहुँचता रहा, जो वहाँ से हज के लिए मक्का और मदीना आते थे। १९१३ में इंडोनेशिया में सरेकत इस्लाम नाम की एक संस्था की स्थापना हुई। आरंभ में ही वह मुसलमानों की आर्थिक उन्नति का उद्देश्य लेकर चली थी और उसने मुसलमानों को चीनियों के आर्थिक प्रभुत्व के विरुद्ध संगठित किया। पर बहुत शीघ्र इस संस्था ने डच साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक राजनीतिक आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में लिया। १९१७ के बाद से राष्ट्रीय आन्दोलन का लगातार विकास होता रहा। नए राजनीतिक दलों का निर्माण हुआ। डच शासकों ने दमन का प्रयोग किया। दमन को कुछ समय के लिए कुचला जा सका, पर दूसरे महायुद्ध में जापान ने इंडोनेशिया से डच साम्राज्य का अन्त कर दिया और जापान की पराजय के बाद हॉलैंड को इंडोनेशिया को स्वाधीन करने के लिए विवश होना पड़ा। इंडोनेशिया के समान ही दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य देशों में साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय विद्रोह एक लंबे अर्से से चल रहा था। रूस पर जापान की विजय (१९०५), चीन की जनतांत्रिक क्रान्ति (१९११), सनयातसेन के सिद्धान्त, पहले महायुद्ध की घटनाएँ, रूस की साम्यवादी क्रान्ति (१९१७), भारतवर्ष का सत्याग्रह-आन्दोलन, सभी का प्रभाव दक्षिण-पूर्वी एशिया के देशों पर पड़ रहा था। हिन्द-चीन की जनता फ्रांस के साम्राज्यवाद को अपने देश से हटा देने के लिए प्रयत्नशील थी। मलाया और बर्मा के रहनेवाले, अंग्रेजी शासन की समस्त देन के बावजूद, अंग्रेजों की राजनीतिक दासता से तंग आ गए थे और उसे समाप्त करने के लिए बेचैन थे। फिलीपीन, ऊपर से देखने से, पश्चिमी संस्कृति के रंग में रँगा हुआ दिखाई दे रहा था। वहाँ के अमरीकी शासन के संबंध में साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि अन्य विदेशी शासनों की तुलना में वह बहुत अधिक उदार था। फिलीपीन जनतांत्रिक संस्थाओं के निर्माण और विकास में उन्होंने अधिक सहयोग भी दिया था। पर राजनीतिक स्वाधीनता के लिए फिलीपीनी राष्ट्रवादी सदैव संघर्ष करते रहे

दक्षिण-पूर्वी एशिया का विद्रोह

थे। अमरीका के संबंध-विच्छेद से उनकी आर्थिक स्थिति के बहुत अधिक विगड़ जाने की आशंका थी, पर आर्थिक सुविधाओं के लिए वे राजनीतिक स्वाधीनता का मूल्य देने के लिए तैयार नहीं थे।

दूसरे महायुद्ध की समाप्ति पर दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी एशिया में स्वाधीनता के आन्दोलन सफलता का स्पर्श करते हुए दिखाई दिए।

उपनिवेश स्वाधीनता के पथ पर

१६४६ में फिलीपीन को स्वतंत्र घोषित कर दिया गया। १६४७ में भारतवर्ष और पाकिस्तान को स्वाधीनता मिली। १६४८ में वर्मा और श्रीलंका अंग्रेजी आधिपत्य से मुक्त हुए। १६४६ में इंडोनेशिया ने स्वाधीनता प्राप्त की। मलाया और हिन्दचीन में आज भी संघर्ष चल रहा है, पर उसका कारण यह नहीं है कि ब्रिटेन और फ्रांस अपने साम्राज्यवाद को मिटने देना नहीं चाहते। इन देशों में राष्ट्रीय आन्दोलन कम्युनिस्ट तत्त्वों के हाथ में है और ब्रिटेन और फ्रांस को भय है कि ये देश यदि स्वाधीन हो गए, तो उनकी वैदेशिक नीति और आन्तरिक मामलों पर रूस का वहुत अधिक प्रभाव होगा और इस प्रकार साम्यवादी देशों की शक्ति को वल मिलेगा। पर इसमे संदेह नहीं कि मलाया और हिन्दचीन की स्वाधीनता को वहुत अधिक समय तक के लिए टाला नही जा सकता। स्वाधीनता की भावना आज तो सभी उपनिवेशों में इतनी गहरी और व्यापक हो गई है कि साम्राज्यवाद का अस्तित्व अब टिक नहीं सकेगा। पूर्वी और केन्द्रीय अफ्रीका के अंग्रेजी साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष तीव्र होता जा रहा है। सूडान मिस्र के आधिपत्य से और मिस्र ब्रिटेन के प्रभाव से अपने को मुक्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। ट्यूनीशिया और मोरक्को में फ्रांस के साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह अपनी चरम सीमा पर है, दूर, दक्षिणी अमरीका मे गायना जैसा छोटा-सा देश भी, अन्य देशों के स्वाधीनता आन्दोलनों से प्रेरणा पाकर, अंग्रेजी शासन को निर्मूल कर देने के लिए कटिबद्ध दिखाई देता है।

ब्रिटेन के संबंध में एक आश्चर्यजनक बात यह रही है कि अपने देश का शासन जनतंत्र की दिशा में करते हुए भी उसने संसार में एक ऐसे बड़े साम्राज्य की स्थापना की, जिसमें सूर्य कभी अस्त ही नहीं होता था। इस सारे साम्राज्य के लिए कानून बनाने और कानून को अमल

में लाने की सारी जिम्मेदारी ब्रिटेन की लोकसभा पर थी। ये कानून ब्रिटेन की जनता के लाभ के लिए ही बनाए जाते थे, उपनिवेशों के लिए नहीं। यह तो स्वाभाविक ही था, पर इसकी प्रतिक्रिया भी स्वाभाविक थी। पहला विस्फोट अमरीका के स्वातंत्र्य-युद्ध के रूप में हुआ। अमरीका की स्वाधीनता को तो इंग्लैंड रोक नहीं सका, पर उसके बाद से उसने अपनी नीति को बहुत कुछ बदल दिया। १८३९ की प्रसिद्ध डरहम रिपोर्ट की सिफारिशें और १८६८ में कनाडा के संघ का निर्माण अंग्रेजी साम्राज्यवाद की बदली हुई नीति के द्योतक थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में औपनिवेशिक सम्मेलनों का आरंभ हुआ, जिनका अर्थ था कि ब्रिटेन और अन्य उपनिवेशों के प्रधान मंत्री समय-समय पर मिलकर सामान्य समस्याओं के संबंध में सलाह-मशविरा कर सकें। प्रथम महायुद्ध के बाद यह नीति और भी तेजी के साथ अपनाई गई। उपनिवेश के स्थान पर अब 'कॉमनवेल्थ' शब्द काम में लाया जाने लगा। शान्ति-सम्मेलन में उपनिवेशों के प्रतिनिधि भी मौजूद थे और लीग ऑफ नेशन्स के सदस्य भी। वे स्वतंत्र रूप से अपना निर्णय बनाते थे और अन्य सार्वभौम राज्यों के समान संधियों पर हस्ताक्षर भी उन्होंने अलग अलग ही किए।

'कॉमनवेल्थ' का कायाकल्प

१९२६ के साम्राज्य-सम्मेलन में इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य प्रकाशित किया गया, जिसमें कहा गया कि ब्रिटेन और उपनिवेश "ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वायत्त-शासन संपन्न ऐसे समाज हैं, जो प्रतिष्ठा में एक दूसरे के समकक्ष हैं, अपने घरेलू अथवा बाहरी मामलों में किसी भी प्रकार से एक दूसरे के मातहत नहीं है, यद्यपि सम्राट् के प्रति सामान्य निष्ठा के द्वारा वे एक सूत्र में बँधे हुए हैं और अपनी स्वतंत्र इच्छा से अंग्रेजी कॉमनवेल्थ के सदस्य हैं।" इस रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि "साम्राज्य का प्रत्येक स्वयं-शासित सदस्य अपने भाग्य का विधाता है...किसी प्रकार का दबाव उस पर नहीं है...स्वतंत्र संस्थाएँ उनकी जीवन-स्नायु हैं। स्वतंत्र सहयोग उसका साधन है...।" १९३१ की एक घोषणा (Statue of Westminster) के अनुसार सभी अंग्रेज उपनिवेशों को कानून की दृष्टि से पूरी स्वतंत्रता मिल गई। इंग्लैंड की पार्लियामेंट को अब

अंग्रेज उपनिवेशों की बढ़ती हुई स्वतंत्रता

इस अधिकार से वंचित कर दिया गया कि उसके बनाए हुए कानून उपनिवेशों पर लादे जा सकें। सम्राट् की सत्ता को सभी उपनिवेशों ने स्वीकार किया था, पर कानून की दृष्टि से उपनिवेशों के लिए वह सम्राट् इंग्लैंड का सम्राट् नहीं था, कनाडा का अथवा आस्ट्रेलिया का अथवा दक्षिण अफ्रीका का सम्राट् था।

इस दृष्टि से भारतवर्ष की स्थिति कुछ भिन्न रही। यद्यपि यह स्पष्ट घोषणा नहीं की गई थी कि उसे उपनिवेशों का दर्जा प्राप्त होगा; परंतु १९१९ के बाद से बहुत से लोगों का विश्वास बन गया था कि भारतीय वैधानिक विकास की दिशा भी अन्ततः वही होगी, जो कनाडा, आस्ट्रेलिया व अन्य उपनिवेशों की हुई। १९२८ में राष्ट्रीय महासभा ने इस बात की माँग की कि उसे एक वर्ष के भीतर औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया जाए। जब अंग्रेजी राज्य ने उसकी इस माँग को स्वीकार नहीं किया, तो उसने पूर्ण स्वाधीनता को अपना लक्ष्य घोषित किया। १९४२ के क्रिप्स-प्रस्तावों का लक्ष्य औपनिवेशिक स्वराज्य ही था, परंतु उसके इस अधिकार को भी स्वीकार कर लिया गया था कि यदि वह चाहे तो कॉमनवेल्थ से अपना संबंध-विच्छेद कर ले। १९४७ में जब भारतवर्ष को स्वाधीनता मिली, तो उसे पूरा अधिकार था कि वह ब्रिटेन से बिलकुल ही सम्पर्क तोड़ ले; परंतु तब ब्रिटेन और भारत दोनों ने ही चाहा कि उनमें निकट का संबंध बना रहे और इस कारण कॉमनवेल्थ के रूप में एक बार फिर क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुआ। उसका नाम 'ब्रिटिश कॉमनवेल्थ और नेशन्स' के स्थान पर केवल 'कॉमनवेल्थ ऑफ नेशन्स' रखा गया, और भारतवर्ष को उसका सदस्य बनने के लिए यह सुविधा दी गई कि यदि वह चाहे तो सम्राट् से किसी प्रकार का संबंध न रखे। १९५० के नए संविधान के अनुसार भारतवर्ष ने अपने आपको गणतंत्र के रूप में घोषित किया, परंतु कॉमनवेल्थ से अपने संबंध को नहीं तोड़ा। ब्रिटेन साम्राज्य-वाद की ऐतिहासिक परिस्थितियों में परिवर्त्तन के अनुसार अपने को ढालता जा रहा है। ब्रिटेन की जनतंत्र, सहयोग और समझौते की भावनाओं का यह परिचायक है।

भारतवर्ष और कामनवेल्थ

साम्राज्यवाद, इस प्रकार, सभी देशों से किसी न किसी रूप में मिटता जा रहा है। स्वयं साम्राज्यवादी देशों का आर्थिक ढाँचा,

महायुद्धों और आर्थिक संकटों की चपेट में, टूटता चला गया है और उसी परिमाण से उपनिवेशों का विद्रोह अधिक तीव्र होता गया है। साम्राज्यवादियों ने अपनी शक्ति को बनाए रखने के
लिए, समय-समय पर, विभिन्न साधनों की सृष्टि की, साम्राज्यवाद का
कभी 'अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण के नाम पर, कभी 'मुक्त द्वार' भविष्य
(open door) की तथाकथित नीति की आड़ में,
कभी 'संरक्षण' की दुहाई देकर और कभी 'प्रभावक्षेत्रों' की अनिवार्यता सिद्ध करके उन्होंने अपने प्रभाव को अधीनस्थ देशों मे प्रच्छन्न रूप में बनाए रखने का सतत प्रयत्न किया है। आज भी जिन देशों से साम्राज्यवाद ने अपना राजनीतिक शासन समेट लिया है, वहाँ भी अपना आर्थिक और व्यापारिक प्रभुत्व वे बनाए रखना चाहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि सभी देशों मे राष्ट्रवाद के उठते हुए वेग के सामने उन्हें समझौता करने अथवा पीछे हटने पर विवश होना पड़ रहा है। परंतु, पीछे हटते हुए भी वे अपनी आर्थिक और सांस्कृतिक शृंखलाएँ छोड़ जाना चाहते हैं, और उनकी यह आशा अभी मिटी नहीं है कि अनुकूल परिस्थितियों में वे उन्हें फिर से दृढ़ बना सकेंगे। साम्राज्यवाद को प्रोत्साहन देनेवाले कारण अभी भी मिट नहीं गए हैं। राजनीतिक सत्ता और आर्थिक शोषण की प्यास अभी भी वैसी ही तीव्र है। प्रत्यक्ष शासन के द्वारा नहीं तो धन, कूटनीति और सैनिक सहायता के द्वारा इस प्यास को बुझाने का प्रयत्न किया जायगा। इस प्रकार का प्रयत्न दक्षिण अमरीका, दक्षिण-पूर्वी एशिया, पश्चिमी यूरोप, यूनान, टर्की, सऊदी अरब, ईरान और पाकिस्तान सभी स्थानों पर चल रहा है। जिन राष्ट्रों ने स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है, अथवा निकट भविष्य मे उसे प्राप्त करने की आशा रखते हे, उन्हे सदैव यह याद रखना पड़ेगा कि 'सतत चौकसी से ही स्वतंत्रता की रक्षा की जा सकती है।'

अभ्यास के प्रश्न

१—यूरोपीय साम्राज्यवाद के स्वरूप का विश्लेषण कीजिए। पुराने ढंग के साम्राज्यवाद-स्थापना के प्रयत्नों में और इस नए साम्राज्यवाद में क्या अन्तर था?

२—उपनिवेशों में स्वाधीनता के आन्दोलनों के उठ खड़े होने के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालिए।

३—इस्लामी देशों में स्वाधीनता के आन्दोलनों का संक्षिप्त इतिहास दीजिए।

४—दक्षिण-पूर्वी एशिया के स्वाधीनता के संघर्ष का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

५—कॉमनवेल्थ के कायाकल्प का संक्षिप्त इतिहास देते हुए यह बताइए कि भारतवर्ष की उसमें क्या स्थिति रही?

६—भारतवर्ष के कॉमनवेल्थ का सदस्य बने रहने के पक्ष अथवा विपक्ष में अपने विचार व्यक्त कीजिए।

७—साम्राज्यवाद की पुनः स्थापना किन परिस्थितियों में संभव हो सकती है? इस स्थिति से बचने के लिए कुछ उपाए सुझाइए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Schuman : International Politics.
2. Payne : Revolt of Asia.
3. Moon, P. T. : Imperialism and World Politics.

भाग २

आधुनिक समाज का नवनिर्माण

[२—सामाजिक]

अध्याय १४

पश्चिम में जनतंत्र के प्रयोग

इंग्लैंड में जनतंत्र का विकास

उन्नीसवीं शताब्दी में जनतंत्र का विकास जिन देशों में हुआ, इंग्लैंड उनमें प्रमुख है। इंग्लैंड में जनतंत्र की परंपराएँ बहुत पुरानी भी थीं। मैगनाकार्टा तेरहवीं शताब्दी के आरंभ का घोषणा-पत्र है। यह ठीक है कि वह एक सामंतवादी घोषणा है जिसका उद्देश्य जनता के अधिकारों की स्वीकृति नहीं, सरदारों के अधिकारों का ऐलान करना था। परंतु उससे राजा की शक्ति पर बहुत अधिक नियंत्रण लगाया जा सका। सत्रहवीं शताब्दी के जनतंत्रीय आन्दोलन को भी उससे बड़ी प्रेरणा मिली। इंग्लैंड में लोकसभा का आरंभ भी तेरहवीं शताब्दी के अंत से ही होता है। लोकसभाएँ मध्य-युग में फ्रांस और यूरोप के कई देशों में थीं, पर मध्य-युग के अंत में उनका ह्रास होने लगा। केवल इंग्लैंड में ही उनकी प्रतिष्ठा में कोई कमी नहीं आई। ट्यूडर वंश के सम्राटों (१४८५ से १६०३ ई० तक) को तो अपनी लोकसभाओं का पूरा सहयोग मिलता रहा और उन्होंने भी उसके कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं किया। परंतु स्टुअर्ट राजाओं के शासन-काल मे उसमे और लोकसभाओं में संघर्ष उत्पन्न हुआ। उस संघर्ष ने एक समय तो इतना तीव्र रूप धारण कर लिया कि उनकी सेनाओं मे नियमित रूप से युद्ध हुए। इस संघर्ष से एक राजा (Charles I) को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। बीच में क्रॉमवेल के नेतृत्व में तानाशाही का एक युग भी आया, पर वह अधिक न चल सका। अन्त में विजय लोकसभा की ही हुई। १६८८ में इंग्लैंड में एक 'रक्तहीन क्रान्ति (Bloodless Revolution) हुई, जिसके परिणाम-स्वरूप राजसत्ता राजा के हाथ से निकलकर लोकसभा के हाथ में आ गई।

लोक-राज्य की इस कल्पना के मूल में हमें लॉक (locke, 1632-1704), ह्यूम (Hume, 1711-1776), मिल (John Stuart

Mill 1806-1873), पेन (Thomas Paine, 1737-1809) आदि की विचार-धारा दिखाई देती है। लॉक के संबंध में तो यह कहा जा सकता है कि राज्य, समाज और शिक्षा के क्षेत्रों में अंग्रेजों के जीवन पर उसका उतना ही प्रभाव है जितना हीगल (Hegel, 1770-1831) का जर्मनी पर। राजनीतिक उदारवाद और सहिष्णुता की भावना भी हम उसकी विचार-धारा में पाते है। लॉक की सम्मति में समाज-चित्र के पूर्व की प्राकृतिक स्थिति में भी मनुष्य के कामों को प्रेरित और नियंत्रित करने के लिए एक कानून था, और उसका आधार बुद्धि के उपयोग पर था। लॉक ने बताया कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी बुद्धि अथवा अन्तरात्मा के अनुसार काम करने का अधिकार है और वह राजसत्ता के द्वारा इस अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता। उसने यह भी कहा कि समाज की सुरक्षा का उत्तरदायित्व जिन कर्मचारियों के हाथ में है, वे स्वयं भी उन कानूनों से बँधे हुए हैं जिनका वे स्वयं निर्माण करते हैं। लॉक के अनुसार शासक और शासित का संबंध एक सामाजिक अनुबंध (Social Contract) पर आधारित है, जिसे निभाने की जिम्मेदारी दोनों ही पक्षों पर है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का जो विचार लॉक ने राजनीतिक जगत को दिया था उसका विकास स्वभावतः ही लोक-राज्य और वैधानिकता की दिशा में हुआ और उसके दृढ़ आधार पर अंग्रेजी जनतंत्रात्मक विचार-धारा का विकास हुआ।

जनतन्त्र के मूल सिद्धान्त

अठारहवीं शताब्दी के आरंभ तक ब्रिटेन की लोकसभा अंग्रेजी जनता की राजनीतिक स्वतंत्रता की सुरक्षा का प्रतीक बन गई थी, परंतु अभी वह वास्तविक अर्थों में जनता की प्रतिनिधि-सभा नहीं समझी जा सकती थी। उच्च सदन (House of Lords) में तो ऊँचे वर्ग के कुलीन और महन्त कुटुम्बों के व्यक्ति थे ही, निचले सदन (House of Commons) में भी छोटे जागीरदार और उस धार्मिक मध्यम वर्ग के लोग ही अधिक थे, जिनके विचार उनसे मिलते-जुलते थे। जनसाधारण की आवाज लोक-सभा तक पहुँचना कठिन था। औद्योगिक क्रान्ति के विकास के साथ ही साथ देश में आबादी के वितरण की व्यवस्था बिलकुल ही बदल गई थी, उसका परिणाम यह हुआ कि चुनाव में जनसाधारण का प्रतिनिधित्व और भी कम हो गया।

जनतंत्र का संकुचित रूप

औद्योगिक क्षेत्रों में बहुत थोड़े से धनोमानी उद्योगपतियों के हाथ में सारी राजनीतिक सत्ता आ गई, और मजदूरों का शोषण बढ़ने लगा। इन्हीं दिनों फ्रांस की राज्य-क्रान्ति हुई, और उसकी प्रतिक्रिया के रूप में ब्रिटेन में अनुदार और प्रतिगामी शक्तियाँ और भी सशक्त बनीं। १८१६ में, इंग्लैंड में पहली बार, पीटरलू नाम के स्थान पर अपने अधिकारों को माँगनेवाले मजदूरों की एक निहत्थी भीड़ पर गोली चलाई गई। सच तो यह है कि औद्योगिक क्रान्ति से उत्पन्न होनेवाली नई आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के लिए जनवाद के उस दर्शन के पास कोई उपचार नहीं था, जिसका प्रतिपादन लॉक और अन्य लेखकों के द्वारा किया गया था। उनकी धारणा थी कि समाज को प्रकृतिदत्त अवस्था में स्वतंत्र और अनियंत्रित प्रतिद्वन्द्विता का ही मुख्य स्थान है। उसमें राज्य का हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इसका यह अर्थ था कि लोगों को केवल अमीर बनने और अपनी धन-समृद्धि में, कानून की सीमा में रहते हुए, न केवल बढ़ाते चले जाने का पूरा अधिकार है; बल्कि अन्य व्यक्तियों को उनकी मजदूरी के लिए कम से कम पारिश्रमिक देकर नंगे और भूखे रखने की भी पूरी स्वतंत्रता है। इसी प्रकार शोषित किए जानेवाले वर्ग को किसी प्रकार की सहायता देना अथवा मालिक और मजदूर के आपसी मामलों में हस्तक्षेप करना राज्य का कर्त्तव्य नहीं माना जाता था।

इसका परिणाम यह निकला कि मजदूरों की स्थिति दिन पर दिन बिगड़ती जाने लगी। लोक-सभा में उनका कोई प्रतिनिधित्व नहीं था। इस कारण वैधानिक उपायों द्वारा अपनी स्थिति को
सुधारने का वे कोई प्रयत्न नहीं कर सकते थे। अपने क्रोध जनतंत्र को व्यापक
को प्रकट करने के लिए जब कभी असंगठित रूप से बनाने के प्रयत्न
उन्होंने कोई प्रयत्न किए, उन्हें बुरी तरह से कुचल दिया
गया। परंतु इंग्लैंड में जनतंत्र की भावना इतनी गहरी थी कि इस प्रकार की स्थिति अधिक दिनों टिक नहीं सकती थी। १८१६ में नौ वर्ष से छोटी आयु के बच्चों के कारखानों में काम करने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। १८३३ में अठारह वर्ष से कम आयुवालों के काम के घंटे बाँध दिए गए। १८४७ मे एक कानून बनाया गया, जिसके अनुसार स्त्रियों से दस घंटे से अधिक काम नहीं लिया जा सकता था। १८५० में रविवार को कम से कम आधे दिन की छुट्टी घोषित कर दी

गई। इस बीच देश के कानून में भी कई सुधार किए जा रहे थे। मजदूरों के संगठन पर से प्रतिबंध हटाए जा रहे थे और धर्म के आधार पर राजनीति में भाग न लेने के संबंध में जो प्रतिबंध लगे हुए थे, उन्हें दूर किया जा रहा था।

मध्यम वर्ग के प्रभाव में वृद्धि

१८३० और ३२ के लोक-सभा के चुनाव-संबंधी सुधारों से राजसत्ता पर मध्यम-वर्ग का प्रभाव बहुत कुछ बढ़ गया। मजदूरों को तब भी चुनाव में भाग लेने का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ था; परंतु उनकी स्थिति को सुधारने की दृष्टि से अब वातावरण पहले से कहीं अच्छा था। मजदूर-संघों की स्थापना करने और उनके द्वारा आन्दोलन चलाने के प्रयत्न तो सफल नहीं हो सके; परंतु अब ऐसी स्थिति बन गई थी, जिसमें उद्योगपतियों के द्वारा उनका शोषण उतना आसान नहीं रह गया था। १८८४ में, एक बड़ी सीमा तक वयस्क (पुरुष) मताधिकार के सिद्धान्त को मान लिया गया, और धीरे-धीरे मताधिकार को अधिक व्यापक रूप भी दिया गया। मतदान की पात्रता पर जायदाद की जो शर्त्त थी, वह १८५८ में ही हटा ली गई थी। १८७० में शिक्षा-संबंधी एक कानून के द्वारा सभी सार्वजनिक संस्थाएँ सर्वसाधारण के लिए खोल दी गईं। १८७२ में गुप्त मतदान (Secret ballot) की व्यवस्था स्वीकार की गई। १९०६ में मजदूरों को मुआविजा देने के संबंध में एक कानून पास हुआ, १९०८ में बुढ़ापे की पेंशन (Old age pension) के संबंध में और १९११ में बेरोजगारी और बीमारी में सरकार के द्वारा दी जानेवाली सहायता के संबंध में। इस प्रकार, महायुद्ध के पहले-पहले ब्रिटेन में जनतंत्र की बड़ी सुदृढ़ परंपराएँ स्थापित की जा चुकी थीं।

इंग्लैंड के संविधान की विशेषताएँ

ब्रिटेन के शासन की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि उसका संविधान सर्वथा अलिखित है। मेगनाकार्टा १६८८ का घोषणापत्र, १७०१ का उत्तराधिकार संबंधी नियम आदि कुछ महत्त्वपूर्ण कानूनी मसविदों को छोड़कर शेष संविधान अलिखित ही है। इंग्लैंड के वैधानिक विकास का मुख्य आधार ऐतिहासिक परंपराओं के प्रति आदर, कानून के शासन में आस्था और शासन की रूपरेखा के संबंध में कुछ विचारों की सर्व-

मान्यता में है। यदि यह प्रश्न पूछा जाए कि ब्रिटेन का शासन किसके हाथ में है तो उसका उत्तर देना कठिन है। नाम के लिए शासन राजा के हाथ में है, परंतु वास्तव में राजा भी देश के किसी भी साधारण नागरिक के समान लोक-सभा के आदेशों का पालन करने के लिए बाध्य है। एक विधान-शास्त्री का कहना है कि लोकसभा यदि उसकी मृत्यु की आज्ञा भी उसके सामने रखे, तो राजा को उस पर दस्तखत कर देने पड़ेंगे। परंतु वास्तव में राजा के प्रति जनता में निष्ठा की अत्यधिक भावना है, यहाँ तक कि मजदूर दल भी उसे हटाने के पक्ष में नहीं है। एक मजदूर दल के नेता ने लिखा था कि यदि इंग्लैंड में गणतंत्र की स्थापना हो जाए तो वहाँ की प्रजा राजा को ही अपना अध्यक्ष चुनेगी।

इंग्लैंड में शासन की सर्वोपरि सत्ता प्रधान मंत्री और उसके मंत्रि-मण्डल के हाथ में है। प्रधान-मंत्री शासन का सबसे बड़ा अधिकारी है। जो राजनीतिक दल लोकसभा में अपना बहुमत स्थापित
कर लेता है, उसका नेता प्रधान-मंत्री बनता है और जब मंत्रिमंडल के
तक उस दल को लोकसभा का बहुमत प्राप्त रहता है, वह अधिकार
देश पर शासन करता है। उसके हट जाने पर विरोधी
पक्ष का नेता प्रधान-मंत्री बनता है। प्रत्येक पाँच वर्ष के बाद धारासभा के चुनाव होते हैं। मंत्रि-मण्डल के सदस्य व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से प्रधान-मंत्री के प्रति उत्तरदायी होते हैं। सरकारी कर्मचारियों का चुनाव विशेष कानूनों के अन्तर्गत होता है, जिनके अनुसार ऐसे व्यक्तियों को ही चुना जाता है, जिन्होंने परीक्षा में ऊँचे स्थान प्राप्त किए हों। उनकी नियुक्ति अथवा पद-वृद्धि मे मंत्रियों का कोई हाथ नहीं होता। मंत्रिमण्डल बदलते रहते है, पर सरकारी कर्मचारी स्थायी रूप से कार्य करते रहते हैं। यह स्वाभाविक है कि शासन पर उनका बड़ा प्रभाव रहता है। लोकसभा में दो सदन होते है। ऊपर के सदन के सदस्य कुछ विशिष्ट सरदार घरानों के व्यक्ति ही होते हैं, परंतु उसकी शक्ति अब नाममात्र की ही रह गई है। वास्तविक सत्ता अब निचले सदन (House of Commons) के हाथ में ही है। ब्रिटेन की लोकसभा का यह निचला सदन संसार की धारा-सभाओं में सबसे अधिक शक्तिशाली और योग्य माना जाता है। इसका संगठन संपूर्णतः जनतांत्रिक आधार पर है। न्यायालयों का संगठन और स्थानीय शासन की व्यवस्था भी

ब्रिटेन की अपनी विशेषताएँ हैं। इस प्रकार, हम देखते है कि विना किसी लिखित विधान के होते हुए भी ब्रिटेन में लोकसभा के जनता द्वारा चुने हुए सदन के हाथों में शासन की सर्वोपरि सत्ता केन्द्रित है।

ब्रिटेन में जनतंत्र के जिन सिद्धान्तों और उनके परिणामस्वरूप जिन संस्थाओं का जन्म हुआ, संयुक्त-राज्य अमरीका में उनका विकास हुआ।

अमरीका में जनतंत्र का विकास

ब्रिटेन के अतिरिक्त अमरीका ही एक ऐसा देश है, जिसने जनतंत्र की विचारधारा और जनतंत्र की संस्थाओं में अपने विश्वास को दृढ़ रखा है। भौगोलिक, सांस्कृतिक और अन्य परिस्थितियों के कारण अमरीका में इन संस्थाओं के स्वरूप में अवश्य अन्तर पड़ा है; परंतु उनके मूल में जनतंत्र की वही भावना काम कर रही है, जो ब्रिटेन में। ब्रिटेन की तुलना में अमरीका एक बहुत बड़ा देश था और विभिन्न राष्ट्रीयताओं को समन्वित करने की एक बड़ी समस्या भी उसके सामने थी। इस कारण अमरीका में जिस जनतंत्रात्मक राज्य का संगठन किया गया, वह एकात्मक न होते हुए संघात्मक था। संघ-शासन की दृष्टि से संसार में यह पहला प्रयोग था, और इसने उस सभी जननांत्रिक देशों को, जिन्होंने अपने यहाँ एक संघात्मक राज्य बनाना चाहा, प्रेरणा दी है। अमरीका के जनतंत्र की व्याख्या हमें उसके महान् नेताओं, वाशिंगटन (Washington), जेफरसन (Jefferson), जैकसन (Jackson), अब्राहम लिंकन (Abraham Lincoln) आदि के विचारों और जीवन से मिलती है।

अमरीका के शासन-विधान के ६ मूल सिद्धान्त माने जा सकते हैं।

अमरीका के संविधान की विशेषताएँ

(१) अमरीकी शासन का आधार प्रतिनिधि-संस्थाओं पर है। इन संस्थाओं के सदस्य समस्त जनता द्वारा चुने जाते हैं, किसी विशेष वर्ग अथवा जाति के द्वारा नहीं। जनतंत्र का वास्तविक आधार इसी प्रकार की चुनाव-व्यवस्था पर रखा जा सकता है। (२) अमरीका का शासन संघात्मक है, जिसमें केन्द्र और राज्य के विशेष अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या कर दी गई है और दोनों में से किसी को भी एक-दूसरे के निर्धारित क्षेत्रों में अनुचित हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। उदाहरण के लिए, विदेशी नीति के संबंध में निर्णय का पूरा अधिकार

केन्द्र को ही है, जिस पर राज्यों द्वारा किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। दूसरी ओर, राज्यों के व्यापार और अन्य विषयों के संबंध में कुछ अधिकार ऐसे हैं, जिनमें केन्द्र द्वारा हस्तक्षेप नहीं किया जा सकता। (३) शासन के अधिकार सीमित है, और व्यक्ति को कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त हैं, जिनकी घोषणा स्वाधीनता के घोषणा-पत्र में कर दिए जाने के कारण जिन्हे छीनने का राज्य को कोई अधिकार नहीं है। (४) न्यायालय की स्वाधीनता के सिद्धान्त को राज्य के संविधान में मान लिया गया है। संघीय न्यायालय कार्यपालिका और व्यवस्थापिका-सभा दोनों के नियंत्रण से मुक्त है। (५) शासन का आधार राजसत्ता के विभाजन (Division of Powers) और एक विभाग के द्वारा दूसरे को नियंत्रित और संतुलित रखने (Checks and Balance) के सिद्धान्त पर है। शासन के तीनों विभाग: न्याय, कार्यकारी और धारासभा एक दूसरे से स्वतंत्र हैं; पर साथ ही एक दूसरे पर कुछ नियंत्रण भी रखते हैं, जिससे उनमें किसी एक के हाथ में राज्य की सारी सत्ता का केन्द्रित किया जाना असम्भव हो गया है। (६) अध्यक्ष (President) के बहुत अधिक अधिकार होते हुए भी वह विदेशी मामलों मे उच्च सदन (Senate) की राय के बिना कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं बना सकता है।

अमरीका का संविधान जब बनाया गया तब उसके निर्माताओं का यह अनुमान था कि परिस्थितियों के अनुसार समय-समय पर उसमें बहुत अधिक परिवर्त्तन करने पड़ेंगे। पर वास्तव में
वैसे परिवर्त्तन बहुत कम हुए हैं। उसकी कुछ खराबियाँ अमरीका की
तो स्पष्ट हैं ही। अध्यक्ष और लोकसभा दोनों के जनतंत्र-पद्धति
सीधे जनता द्वारा चुने जाने से दो प्रकार की स्वतंत्र के दोष
उत्तरदायी राजसत्ताओं की स्थापना हो गई है, जिसके
कारण कार्यपालिका और लोकसभा के बीच मतभेद और संघर्ष की सदा ही संभावना रहती है। इसके अतिरिक्त अध्यक्ष का चुनाव जहाँ चार वर्ष में केवल एक वार, एक निश्चित तिथि पर ही किया जा सकना है, लोकसभा का निचला सदन दो वर्ष के वाद बदल जाता है। यदि अध्यक्ष एक राजनीतिक दल का सदस्य हो और लोकसभा के निचले सदन में दूसरे राजनीतिक दल का बहुमत हो, तो उनके बीच संघर्ष और भी अनिवार्य हो जाता है। कानून को बनाने और उसको

कार्यान्वित करनेवाली सत्ता का इस प्रकार का विभाजन अपने आपमें एक कठिनाई उपस्थित कर देता है। कानून को बनानेवाली सभा को यह स्पष्ट जानकारी नहीं रहती कि देश का शासन किस प्रकार के कानूनों का बनाया जाना आवश्यक समझता है, और इसी प्रकार लोकसभा द्वारा बनाए गए कानूनों को कार्यान्वित करने में शासन प्रायः उतना उत्साही नहीं होता, जितना वह उस स्थिति मे हो सकता था जिसमें कानूनों को बनाने में उसका अपना नेतृत्व होता। अध्यक्ष का चुनाव सीधा जनता द्वारा होने के कारण यह संभावना भी रहती है कि जनता, भावुकता अथवा आवेश में ऐसे व्यक्ति को चुन ले, जिसके हाथ में इतनी अधिक शक्ति का केन्द्रित हो जाना देश के लिए कल्याणकारी न हो। अमरीका के जनता द्वारा अध्यक्षों की तुलना जब हम इंग्लैंड के, अपने राजनीतिक दल में वर्षों के सतत प्रयास से नेतृत्व प्राप्त करनेवाले योग्य और अनुभवी, प्रधान मंत्रियों से करते है, तो उनकी राजनीतिक क्षमता में एक स्पष्ट अन्तर हमें दिखाई देता है। इन सब कारणों से बहुत से विधान-शास्त्री, जिनमे अमरीका के प्रमुख विधान-शास्त्री भी सम्मिलित है, अब यह मानने लगे हैं कि शासन की लोकसभात्मक (parliamentary) पद्धति अध्यक्षात्मक (presidential) पद्धति की तुलना में अधिक जनतांत्रिक है। इसके अतिरिक्त, अन्य संघ-शासनों के समान ही, अमरीका में भी केन्द्र की शक्ति लगातार बढ़ती जा रही है। परंतु इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी अमरीका से अभी तो हम यह आशा नहीं कर सकते कि वह अपनी उन वैधानिक परंपराओं को बदल देगा, जिन्हे लगभग दो शताब्दियों से वह मानता चला आया है। अपनी गलत परंपराओं को छोड़ देना भी राष्ट्रों के लिए आसान नहीं होता।

अन्य देशों में वैधानिक शासन का विकास

इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी में धीरे-धीरे राजा की स्वेच्छाचारिता का वह सिद्धान्त, जिसका आधार शासन करने के ईश्वर-प्रदत्त अधिकार में था, कम होने लगा और ब्रिटेन और अमरीका के अतिरिक्त यूरोप के बहुत से देशों में भी वैधानिक शासन की स्थापना हुई। इस वैधानिक शासन का समर्थन मूलतः मध्यम-वर्ग के द्वारा किया जा रहा था। राजाओं के शासन से व्यापार और वाणिज्य के विकास में वे सुविधाएँ नहीं मिल सकती थीं, जो प्रजानंत्र में संभव थीं। व्यापार के

लिए स्वतंत्रता, नागरिक अधिकारों के लिए आश्वासन और संपत्ति के लिए सुरक्षा में ऐसे सिद्धान्त थे, जिन्हें मध्यम-वर्ग ने लिखित संविधानों के रूप में लिपिबद्ध कराने पर पूरा जोर दिया। यूरोप भर में फैल जाने वाली १८३० और १८४८ की क्रान्ति की लहरों के मूल मे भी यही माँगें थीं। प्रत्येक देश का मध्यम-वर्ग यह चाहता था कि एक लिखित संविधान की स्थापना कर दी जाए जिसमें जनता की स्वतंत्रताओं और उनसे संबंध रखनेवाले अधिकारों की व्याख्या कर दी गई हो और उनकी सुरक्षा के लिए समुचित आश्वासन दिए गए हों। संविधान लिखित अथवा अलिखित, परिवर्त्तनशील अथवा अपरिवर्त्तनीय, एकात्मक अथवा संघात्मक, मंत्रिपरिषद्-प्रणाली पर आधारित अथवा अध्यक्षात्मक प्रणाली का अनुसरण करनेवाला, कैसा भी हो, पर एक लिखे हुए संविधान पर उनका आग्रह था। संविधान के होने का अर्थ सदा ही यह नहीं था कि राज्य जनतान्त्रिक ही होगा; परंतु अधिकांश ऐसे राज्य, जिनका आधार संविधान में था, जनतांत्रिक ही थे। जनतंत्र भी कई प्रकार का हो सकता था। प्रत्यक्ष जन-तंत्र के अव्यावहारिक होने के कारण अब सभी देशों में प्रतिनिधि के अथवा अप्रत्यक्ष जन-तंत्र की स्थापना पर जोर दिया जा रहा था; पर इन सब बातों के होते हुए भी उन्नीसवीं शताब्दी में जनतंत्र का विकास उतनी तेजी के साथ नहीं हो सका, जैसा राष्ट्रवाद का, और राजनीति मे जनतंत्र की भावना जिस सीमा तक स्वीकार की गई सामाजिक जीवन के क्षेत्र में तो उसे उससे भी कम प्रतिष्ठा मिली। यूरोप के समाज पर निहित स्वार्थों और विशिष्ट वर्गों का प्राधान्य रहा। राजनीतिक जनतंत्र भी इंग्लैंड, फ्रांस और अमरीका के बाहर अधिक पनप नहीं पाया। बीसवीं शताब्दी में यूरोप के अन्य देशों में राजनीतिक चिन्तन की धारा जनतंत्र को छोड़कर अधिनायकवाद की ओर तेजी से बढ़ती हुई दिखाई दी।

अभ्यास के प्रश्न

१—इंग्लैंड में जनतंत्र के विकास का संक्षिप्त विवरण दीजिए। उन्नीसवीं शताब्दी में उसे व्यापक बनाने के क्या प्रयत्न किए गए?

२—इंग्लैंड के संविधान की विशेषताओ पर प्रकाश डालिए।

३—अमरीका में जनतंत्र के विकास का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

४—अमरीका के संविधान की विशेषताएँ बताते हुए इंग्लैंड के संविधान से उसकी तुलना कीजिए।

५—अमरीका की जनतंत्र-पद्धति मे आपको क्या दोष दिखाई देते हैं ?

६—इंग्लैंड और फ्रांस के अतिरिक्त यूरोप में अन्य देशों में वैधानिक शासन का कहाँ तक विकास हुआ ? इन देशों में जनतंत्र की स्थापना के मार्ग में क्या कठिनाइयाँ थीं ?

विशेष अध्ययन के लिए

1. Becker, C : The United States; An Experiment in Democracy.
2. Rryce, J: Modern Democracies.
3. Rose, J. H. : Nationality in Modern History.

अध्याय १५

समाजवाद और कार्ल मार्क्स

औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप तथा अमरीका के पता लग जाने और एशिया तथा दुनिया के बाजारों के खुल जाने के कारण पूँजीवाद का उदय हुआ। धन का उत्पादन केन्द्रित हो गया और आर्थिक सत्ता कतिपय पूँजीपतियों के हाथ में चली गई। आर्थिक सत्ता कतिपय व्यक्तियों के हाथ में पहुँच जाने के कारण जनतंत्र एक व्यंग मात्र हो गया। प्रचार के समस्त साधन, पूँजीपतियों के हाथ में चले गए। कहने मात्र के लिए साधारण नागरिक को मत देने का अधिकार था; किन्तु आर्थिक स्वतंत्रता न होने के कारण साधारण नागरिक देश की राजनीति को प्रभावित नहीं कर सकता था। राष्ट्र के नाम पर थोड़े से मुट्ठी भर पूँजीपति अपने देश की राजनीति का नियंत्रण करते थे। सर्वहारा वर्ग अर्थात् मजदूरों का अनवरत शोषण होता था। उस समय कुछ ऐसे विचारक हुए, जिन्होंने इस सामाजिक अन्याय के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई और समाज के ढाँचे में मूलभूत परिवर्त्तन लाने पर बल दिया। परन्तु इस सामाजिक अन्याय के उदय होने का कारण, पँजीवाद का उदय, मजदूर वर्ग का जन्म और द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धान्त का वैज्ञानिक विश्लेषण करने का श्रेय केवल मार्क्स को ही प्राप्त है। वास्तव में कार्ल मार्क्स ही वैज्ञानिक समाजवाद का निर्माता माना जाना चाहिए।

मार्क्स का जन्म ५ मई १८१८ को जरमनी के राइनलैंड प्रदेश में ट्रेव्जि नामक स्थान पर हुआ था। उसका पिता यहूदी था। १८४१ में २३ वर्ष की आयु में उसे डाक्टर आफ फिलासफी की उपाधि मिली, परन्तु उसके क्रान्तिकारी विचारों के कारण बोन विश्वविद्यालय में उसे लेक्चरर नहीं बनाया गया। कार्ल मार्क्स ने स्वतंत्र पत्रिकारिता को अपनाया और अपने विचारों का प्रतिपादन करने लगा। इसी समय उसने

कार्ल मार्क्स

अर्थशास्त्र का गहरा अध्ययन किया और अपने अध्ययन के फल-स्वरूप वह दृढ़ समाजवादी बन गया। उसका यह दृढ़ निश्चय बन गया कि जब तक समाज में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन करके उसका ढाँचा बदला नहीं जाता, तब तक मनुष्य का शोषण नहीं रोका जा सकता। साथ ही उसकी यह भी मान्यता हो गई कि मजदूर वर्ग ही इस क्रान्ति का नेतृत्व कर सकता है। मार्क्स ने प्रसिद्ध 'कम्युनिस्ट मैनी-फैस्टो' और 'कैपिटल' इत्यादि पुस्तकें लिखकर वैज्ञानिक समाजवाद को एक सुदृढ़ आधार प्रदान किया। तभी से इस विचारधारा का नाम ही मार्क्सवाद पड़ गया है।

मार्क्सवाद

मार्क्स का कहना है कि पूँजीवाद के उदय के साथ ही एक पूँजीपति वर्ग का उदय हुआ। इन पूँजीपतियों के हाथ में धन के उत्पादन के लिए आवश्यक साधन आ गए और वे मजदूरों को मजदूरी देकर उत्पादन का कार्य करवाने लगे। इस प्रकार समाज में मजदूरों का एक सर्वहारा वर्ग उत्पन्न हो गया, जिसके पास स्वयं निज के धनोत्पत्ति के कोई साधन नहीं रहे और जिसके सदस्यों को अपने श्रम को बेचकर जीवन-निर्वाह करने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रहा।

मार्क्स की यह भी मान्यता थी कि समाज में बराबर वर्ग-संघर्ष चलता आया है। एक वर्ग दूसरे वर्ग पर अपना आधिपत्य जमाना चाहता है। उसका कहना है कि मानव समाज का इतिहास इस वर्ग-संघर्ष के इतिहास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। राजतंत्र और सामन्तशाही में जब कि दास प्रथा प्रचलित थी, तब यह वर्ग-संघर्ष तीव्र हो गया। कभी कभी शोषक और शोषित का यह संघर्ष प्रकट रूप से चलता था और कभी गुप्त रूप से चलता था और उसके फलस्वरूप या तो समाज का क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो जाता था अथवा दोनो वर्गों का विनाश हो जाता था।

पूँजीवाद का उदय सामन्तवाद के बाद हुआ। वास्तव में पूँजीवाद का उदय औद्योगिक क्रान्ति और अमरीका, एशिया और अफ्रीका इत्यादि महाद्वीपों के विस्तृत बाजारों के खुल जाने से हुआ। सामन्ती व्यवस्था में औद्योगिक उत्पादन पर कारीगरों के संघों (गिल्ड) का

एकाधिकार स्थापित था। जो इन कारीगरों के संघों का सदस्य नहीं होता था, वह उद्योग-धंधों में काम नहीं पा सकता था। परंतु यह संघ स्थानीय सीमित बाजार की माँग को ही पूरा कर सकते थे। जब समस्त संसार एक विस्तृत बाजार बन गया, बड़े बड़े महादेश खुल गए, तो यह कारीगरों के संघ उस अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की माँग को पूरा करने में सर्वथा असमर्थ प्रमाणित हुए। इसका परिणाम यह हुआ कि औद्योगिक क्रान्ति हुई। यांत्रिक शक्ति द्वारा संचालित यंत्रों के द्वारा बड़े बड़े कारखानों में बड़ी मात्रा का उत्पादन आरम्भ हुआ। भाप और यंत्रों के उपयोग से उत्पादन में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुआ। कारखाने अनन्त राशि में माल तैयार करके सुदूर देशों को भेजने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार के स्थापित हो जाने के कारण स्थलीय और समुद्री यातायात के साधनों तथा संदेशवाहक साधनों की तेजी से उन्नति हुई। समस्त पृथ्वी एक विस्तृत बाजार बन गई। बड़ी मात्रा के उत्पादन से एक प्रबल पूँजीपति वर्ग का उदय हुआ और उसने समाज पर अपना वर्चस्व स्थापित कर लिया। यही पूँजीवाद कहलाता है।

पूँजीवाद का उदय समाज के लिए एक क्रान्तिकारी परिवर्त्तन था। आरम्भ में उसने समाज की शृंखलाओं को तोड़ने और समाज को आगे बढ़ाने का काम किया। संक्षेप में जब समाज में सामन्तशाही का पतन हुआ और पूँजीवादी व्यवस्था स्थापित हुई, तो यह एक प्रगतिशील परिवर्त्तन था। जब पूँजीवाद का उदय हुआ तो उसने सामन्तवाद मे प्रचलित मनुष्य के सामन्तवादी सम्बन्धों को नष्ट कर दिया। पूँजीवाद के फलस्वरूप एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य के बीच और कोई लगाव नहीं रहा, केवल निजी स्वार्थ का सम्बन्ध रह गया। प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वार्थ को देखने लगा तथा मूल्य और मजदूरी नकदी मे दी जाने लगी। इससे निजी स्वार्थ और भी अधिक तीव्रतापूर्वक जागृत हो गया। इसके फलस्वरूप मनुष्य की धार्मिक भावनाएँ, जातीय बंधन और व्यक्तिगत भावनाओं में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुआ। पूँजीवाद के उदय से जो अर्थतंत्र स्थापित हुआ, उसमें व्यक्ति की योग्यता और उसका मूल्य विनिमयामूल्य अर्थात् रुपयों-पैसों में आँका जाने लगा। सामन्तवाद में सत्तावान वर्ग धार्मिक और राजनैतिक भ्रम उत्पन्न करके अन्य मनुष्यों का शोषण करता था। धार्मिक, जातीय और

राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति उस शोषण को सहता था, परन्तु उस शोषण को स्पष्ट देख नहीं पाता था। परन्तु पूँजीवाद के उदय से नग्न, लज्जाजनक प्रत्यक्ष शोषण होने लगा जिसको शोषित वर्ग देख सकता था। इसमें उसे भ्रम होने की सम्भावना नहीं थी। पूँजीवाद में पेशों की पुरानी प्रतिष्ठा भी समाप्त हो गई। अध्यापक, चिकित्सक, साहित्यकार, कलाकार, उपदेशक, वकील, सभी श्रमजीवियों की श्रेणी में आ गए। समाज स्पष्ट रूप से शोषक और शोषित वर्गों में बँट गया।

इसके साथ ही पूँजीवाद ने समाज में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन उपस्थित कर दिया। पूँजीवाद के कारण धन के उत्पादन में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो गया। समाज की दशा में अनवरत कभी समाप्त न होनेवाली उथल-पुथल प्रारम्भ हो गई। समाज के जीवन में ऐसी अनिश्चितता आ गई जिसका कोई अन्त नहीं था, और समाज के जीवन में शान्ति का स्थान हलचल ने ले लिया। सारी पुरानी मान्यताएँ, न टूटनेवाले सामाजिक सम्बन्ध और प्राचीन विश्वास और विचार समाप्त हो गए। समाज के जीवन में इस तेजी से परिवर्त्तन होने लगा कि जो भी नये सम्बन्ध, नई मान्यताएँ और नये विचार बनते, वे स्थायी होने से पूर्व ही पुराने हो जाते और समाज उन्हें छोड़ देता। जिसे पुराने समय मे समाज स्थायी सत्य मानता था और जिसकी वह पूजा करता था, वह जाता रहा। मनुष्य के सामने उसकी वास्तविक स्थिति प्रकट हो गई।

पूँजीवाद के उदय से एक देश दूसरे देश पर निर्भर हो गया। कारण यह था कि बाजार का विस्तार हो जाने से पूँजीपति वर्ग समस्त संसार में फैलने का प्रयत्न करने लगा। धन का उत्पादन और उपभोग का स्वरूप स्थानीय न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय हो गया। इससे एक देश दूसरे देश पर निर्भर हो गया। क्रमशः अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य भी उत्पन्न हुआ। जो देश पिछड़े और असभ्य थे, वे भी सभ्य देशों के साथ आ गए। पूँजीवादी उत्पादन के फलस्वरूप वस्तुओं का उत्पादन इतना सस्ता होने लगा कि प्रत्येक देश को इस उत्पादन की प्रणाली को स्वीकार करना पड़ा, नही तो उस देश के लिए जीवित रहना असम्भव हो गया।

पूँजीवादी पद्धति का परिणाम यह हुआ कि भीड़ की भीड़ जनसंख्या केन्द्रों में इकट्ठी हो गई। औद्योगिक केन्द्रों का उदय हुआ, केन्द्रित उत्पादन

के कारण धन और जायदाद कुछ थोड़े से पूँजीपतियों के हाथ में आ गई। इसका परिणाम यह हुआ कि राजनैतिक सत्ता का भी केन्द्रीकरण हो गया।

पूँजीवाद का उदय सामन्तवाद के खंडहरों से हुआ था, परन्तु उसने भी वर्ग-संघर्ष को समाप्त नहीं किया। इतना अवश्य है कि पूँजीवाद ने पुराने वर्गों को समाप्त करके नये वर्ग स्थापित कर दिए और वर्ग-संघर्ष सरल और स्पष्ट हो गया। पूँजी का जैसे जैसे विकास होता गया, समाज दो वर्गों में बँटता गया। एक था पूँजीपति वर्ग और दूसरा था सर्वहारा वर्ग।

पूँजीपति वर्ग के प्रबल हो जाने का परिणाम यह हुआ कि पूँजीपतियों के हाथ में राजनैतिक सत्ता भी आ गई। पूँजीवादी देशों में मंत्रिमंडल उनके स्वार्थों की रक्षा करनेवाली संस्था बन गई।

परन्तु पूँजीवादी समाज ने क्रमशः उन शक्तियों को जन्म दे दिया है, जिन पर वह नियंत्रण नहीं रख सकता और वही उसके विनाश के कारण होंगी। कार्ल मार्क्स ने कहा कि उद्योग-धंधों के पिछले वर्षों का इतिहास आधुनिक उत्पादन की शक्तियों का उत्पादन की दशा के विरुद्ध विद्रोह का इतिहास है। मजदूर वर्ग उद्योग-धंधों की दशा के विरुद्ध बराबर विद्रोह करते रहे हैं और करते रहेंगे।

इसके अतिरिक्त पूँजीवादी पद्धति में समय समय पर जो आर्थिक और व्यापारिक मंदी का काल आता रहता है वह पूँजीवादी समाज के लिए भयंकर खतरा है। हम देखते हैं कि समय समय पर अत्यधिक उत्पादन का रोग समाज को क्षत-विक्षत कर देता है। बात यह है पूँजीवादी समाज की स्थिति इतनी संकुचित है कि वह जितना धन उत्पन्न करती है, उसका उपयोग नहीं कर सकती। पूँजीपति वर्ग इस आर्थिक संकट को उत्पादन की शक्तियों का विनाश करके, नये बाजारों पर अधिकार करके और पुराने बाजारों का अधिकाधिक शोषण करके टालने का प्रयत्न करता है। इसका अर्थ यह हुआ कि वह और भी अधिक विस्तृत और गहरे आर्थिक संकट के लिए रास्ता साफ कर देता है तथा उन साधनों को कम कर देता है, जो आर्थिक संकट को टालते हैं। जिन हथियारों से पूँजीपतियों ने सामन्तवाद का विनाश किया, वही हथियार उनके विरुद्ध उपयोग में लाये जाने लगते हैं।

पूँजीवादी पद्धति केवल उस अस्त्र का ही निर्माण नहीं करती, जो उसके विनाश का कारण बनेगा। वरन् उसने उन व्यक्तियों को भी उत्पन्न कर दिया है, जो उस अस्त्र का उपयोग करेंगे। वे आधुनिक समाज के मजदूर अर्थात् सर्वहारा वर्ग के सदस्य हैं। पूँजीवादी पद्धति के विकास के साथ साथ मजदूर वर्ग भी उसी अनुपात में बढ़ता जाता है। उत्पादन मे यन्त्रों तथा श्रम-विभाजन का अधिकाधिक उपयोग होने से मजदूर को अपने काम में जो आनन्द आता था और एक वस्तु के निर्माण करने में जो सुख होता था, वह समाप्त हो गया। मजदूर मशीन का एक अंग मात्र बन जाता है, उसका कार्य नीरस हो जाता है, और उसमें अधिक कुशलता प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रहती। पहले एक कुशल कारीगर के बनने में बहुत लम्बे समय तक उस पेशे की शिक्षा लेनी पड़ती थी; परन्तु अब काम इतना सरल हो गया कि उसके लिए मजदूर को तैयार करने में कोई शिक्षा की आवश्यकता नहीं रही। मजदूर को तैयार करने का लागत व्यय केवल उसके भरण-पोषण का व्यय मात्र रह गया। यंत्रों द्वारा कार्य करने के कारण मालिक, मजदूर से अधिक कार्य करवाने में सफल हो गया।

पूँजीवाद के विकास के साथ साथ मध्यम वर्ग नष्ट होता जाता है। छोटे कारीगर, दूकानदार और किसान समाप्त हो जाते हैं, और वे भी सर्वहारा वर्ग में सम्मिलित हो जाते हैं। क्योंकि वे बड़े पूँजीपति, दूकानदार, मिल मालिक और फर्म के स्वामी की होड़ में नहीं टिक सकते। इस प्रकार पूँजीवाद के विकसित होने के साथ-साथ सर्वहारा वर्ग भी बढ़ता जाता है।

पूँजीवाद के उदय के साथ ही मजदूर वर्ग पूँजीपति से संघर्ष आरम्भ करता है। परन्तु आरम्भ मे मजदूर व्यक्तिगत रूप से विरोध करता है, फिर एक कारखाने के मजदूर मिलकर विरोध करने लगते है। फिर एक स्थान पर स्थित सभी कारखानों के मजदूर संगठित होकर विरोध करते हैं और अन्त में समस्त देश के मजदूर, मजदूर संगठन स्थापित करके पूँजीपतियों का विरोध करने लगते हैं। यदि हम मजदूर आन्दोलन का इतिहास पढ़ें, तो हमें मजदूर आन्दोलन के विकास का यह क्रम सर्वत्र देखने को मिलता है। जब मजदूरों का राष्ट्रव्यापी संगठन हो जाता

है, तो वे पूँजीपतियों के विरुद्ध आर्थिक संघर्ष करने के साथ साथ राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए भी संघर्ष आरम्भ कर देते हैं।

सर्वहारा वर्ग राजनैतिक क्षेत्र में मजदूर दल की स्थापना करता है। क्रमशः यह दल प्रवल होता जाता है। वह पूँजीपतियों के आपसी मतभेद से लाभ उठाकर अपने स्वार्थों की रक्षा करने के लिए कुछ कानून बनवा लेता है। पूँजीपतियों को अपने देश के अथवा विदेशों के पूँजीपतियों से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती है। उस होड़ में विजयी होने के लिए उन्हे मजदूरों का सहयोग और सहायता प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। ऐसा करने में पूँजीपति शासक वर्ग सर्वहारा वर्ग में राजनैतिक चैतन्य उत्पन्न कर देता है और उन्हे राजनीति की शिक्षा दे देता है। दूसरे शब्दों में पूँजीपति ही सर्वहारा वर्ग को वह अस्त्र दे देते हैं जिससे वह कि पूँजीपति वर्ग से युद्ध या संघर्ष कर सके।

इसके साथ साथ जैसे जैसे पूँजीवाद अधिक विकसित और सम्पन्न होता जाता है, वैसे ही वैसे बहुत से वर्ग जो कि पहले शासक वर्ग की श्रेणी मे थे, मजदूरों की श्रेणी में आते जाते हैं अथवा उनका अस्तित्व खतरे में पड जाता है और वे भी सर्वहारा वर्ग में चैतन्य और आत्मविश्वास भर देते हैं।

अन्त में जब वर्ग-संघर्ष अपने अन्तिम दौर में आता है तो शासक वर्ग इस तेजी से जर्जर होकर टूटने लगता है कि उसका एक भाग क्रान्तिकारी सर्वहारा वर्ग के साथ आ जाता है और वर्ग संघर्ष अत्यन्त तीव्र हो जाता है। ठीक जिस प्रकार पूँजीवाद के उदय के साथ सामन्त वर्ग के कुछ लोग पूँजीपतियों के साथ चले गए, उसी प्रकार पूँजीवादी वर्ग के कुछ सदस्य सर्वहारा वर्ग के साथ आ जाते हैं। इनमें से अधिकतर ऐसे लोग होते हैं, जो सैद्धान्तिक रूप से समझ जाते हैं कि भविष्य सर्वहारा वर्ग का है।

किन्तु जो भी वर्ग पूँजीवाद का विरोध करते हैं, उनमें केवल मजदूर वर्ग ही क्रान्तिकारी वर्ग होता है। अन्य दूसरे वर्ग, जैसे छोटे कारीगर किसान इत्यादि आगे चलकर संघर्ष से हट जाते हैं। वे कुछ समय तक ही केवल अपने अस्तित्व को बचाने के लिए पूँजीवाद से संघर्ष करते हैं। वास्तव में वे प्रतिक्रियावादी होते हैं, क्योंकि वे इतिहास के पहिए को पीछे

ढकेल देना चाहते हैं। यदि वे क्रान्तिकारी बनते हैं तो केवल इसलिए कि उनको मजदूरों की श्रेणी में चले जाने का भय और सम्भावना होती है। वे अपने वर्तमान स्वार्थ को नहीं, वरन भावी स्वार्थ की रक्षा करते हैं। पुराने समाज के नीचे के स्तर से फेंके हुए वर्ग कभी कभी सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति के साथ बहकर सर्वहारा वर्ग के साथ आ जाते हैं; परन्तु वे वास्तविक और सच्चे क्रान्तिकारी नहीं होते। उनके जीवन की दशा ऐसी होती है कि पूँजीपति वर्ग उन्हें क्रान्ति के विरुद्ध प्रतिक्रियावादी षड्यंत्र में जब चाहे घूस देकर अथवा कुछ सुविधाएँ देकर सम्मिलित कर सकता है। वे उनके औजार बन जाते हैं। सर्वहारा वर्ग के पास जायदाद जैसी कोई वस्तु नहीं होती। आधुनिक पूँजीवाद के समय में सर्वहारा वर्ग का राष्ट्रीय स्वरूप भी समाप्त हो जाता है। न्याय, नैतिकता और धर्म सर्वहारा वर्ग को पूँजीपतियों के स्वार्थों की रक्षा के लिए एक ढाल के समान दिखलाई पड़ते है। इतिहास हमे बतलाता है कि समाज में जिस वर्ग का आधिपत्य हो जाता है, वही अपने स्वार्थों की रक्षा करने का प्रयत्न करता है। किन्तु मजदूरों के पास अपना कुछ नहीं होता, जिसकी वह रक्षा करे। इसके पूर्व जितने भी ऐतिहासिक आन्दोलन हुए, वे अल्पमत के आन्दोलन थे, अथवा थोड़े से लोगों के स्वार्थ के आन्दोलन थे। सर्वहारा वर्ग का आन्दोलन एक बहुत विशाल बहुमत का आन्दोलन है। अतएव समाज का सबसे नीचा वर्ग सर्वहारा वर्ग तब तक ऊपर नहीं उठ सकता, जब तक वह समाज के उस स्वरूप को नष्ट न कर दे।

आरम्भ में सर्वहारा वर्ग का संघर्ष राष्ट्रीय होता है। प्रत्येक देश के सर्वहारा पहले अपने देश के पूँजीवाद से संघर्ष करते हैं, फिर यह संघर्ष अन्तर्राष्ट्रीय हो जाता है। आरम्भ में यह संघर्ष अप्रकट रूप से होता रहता है और सघर्ष जब अन्तिम दौर मे पहुँच जाता है, तो वह प्रकट विद्रोह का रूप धारण कर लेता है और हिंसक क्रान्ति के द्वारा पूँजीपतियों की सत्ता नष्ट हो जाती है। तब सर्वहारा वर्ग का समाज पर आधिपत्य स्थापित हो जाता है। मार्क्स का कहना था कि यह एक ऐतिहासिक तथ्य है, जिसको बदला नहीं जा सकता। सर्वहारा वर्ग की अन्तिम विजय अवश्यम्भावी और अनिवार्य है, उसे कोई रोक नहीं सकता। कार्ल मार्क्स का कहना था कि मजदूर का कोई देश नहीं होता। यद्यपि प्रत्येक देश में मजदूर वर्ग पहले राजनैतिक सत्ता प्राप्त करेगा और वह राष्ट्र का

नेतृत्व करेगा। उस समय उसका स्वरूप राष्ट्रीय होगा। परन्तु वाद को एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र से विरोध समाप्त हो जायेगा। मार्क्स का कहना था कि पूँजीवाद के विकास से भिन्न-भिन्न देशों में भेद कम हो गया है और वे एक दूसरे के पास आ गए हैं। सर्वहारा वर्ग की सत्ता स्थापित हो जाने पर यह भेद शीघ्र ही समाप्त हो जावेंगे और एक देश का दूसरे देश से विरोध नहीं रहेगा।

सबसे पहले सर्वहारा वर्ग का प्रयत्न यह होना चाहिए कि वह अपनी सत्ता स्थापित कर ले। राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के उपरान्त उसको पूँजीपति वर्ग से समस्त पूँजी छीन लेनी चाहिए, धन की उत्पत्ति के समस्त साधनों को राज्य के अधिकार में केन्द्रित कर देना चाहिए और उत्पादन को बढ़ाना चाहिए।

कार्य-क्रम

कार्ल मार्क्स का कहना था कि जब इस प्रकार का समाज विकसित होगा तो वर्गभेद समाप्त हो जावेंगे। सब मजदूर बन जावेंगे और धन का उत्पादन सब लोगों के द्वारा नियंत्रित होगा। ऐसी अवस्था में राजनैतिक सत्ता अपना राजनैतिक स्वरूप खो देगी। वास्तव में राजनैतिक सत्ता एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग का शोषण करने के लिए संगठित हुई शक्ति मात्र है। यद्यपि पूँजीवाद को नष्ट करने के लिए कुछ समय के लिए मजदूर वर्ग को अपनी राजनैतिक सत्ता स्थापित करनी पड़ सकती है; परन्तु जब सत्तावान होकर सर्वहारा वर्ग उत्पादन के पुराने तरीके को ही समाप्त कर देता है, तो फिर वर्गद्वेष के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता और क्रमशः वर्गभेद भी समाप्त हो जाता है और इस प्रकार वह स्वयं अपनी सत्ता को भी नष्ट कर देता है।

मार्क्स के अनुसार पुराने समाज के स्थान पर जिसमें भिन्न-भिन्न वर्ग थे और जिसमें वर्गद्वेष था, एक ऐसा समाज स्थापित होगा जिसमें वर्ग नहीं होंगे, वर्गद्वेष नहीं होगा और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति के स्वतंत्र विकास पर आधारित सभी का विकास होगा।

ऊपर हमने कार्ल मार्क्स के विचारों का जिसे हम मार्क्सवाद कहते हैं, अध्ययन किया। आज के बहुत से विचारक जिनमें महात्मा गांधी प्रमुख थे, यह स्वीकार नहीं करते कि पूँजीवाद को समाप्त करने के लिए हिंसा

आवश्यक है। उनका कहना है कि अहिंसक क्रान्ति के फलस्वरूप भी समाज को बदला जा सकता है। कार्ल मार्क्स की

आलोचना

यह धारणा सही नहीं निकली कि जब किसी देश में सर्वहारा वर्ग क्रान्ति के द्वारा राजसत्ता पर अधिकार कर लेगा तो उसका राष्ट्रीय स्वरूप नष्ट हो जावेगा। सोवियत रूस या चीन में राष्ट्रीयता का आज भी उतना ही प्रभाव है, जितना कि पहले था।

अभ्यास के प्रश्न

१—कार्ल मार्क्स की विचारधारा पर एक छोटा लेख लिखिए।

२—वर्गसंघर्ष से आप क्या समझते हैं? पूँजीवाद के उदय से वर्ग संघर्ष तीव्र क्यों हो गया?

विशेष अध्ययन के लिए

१—समाजवाद—श्री सम्पूर्णानन्द।

२—समाजवाद—श्री अमरनारायण अग्रवाल।

———

अध्याय १६

मजदूरों का राजनैतिक आन्दोलन

मजदूरों के वर्ग का उदय और पूंजीपति वर्ग का प्रभुत्व

कृषि, उद्योग, यातायात और व्यापार में क्रान्ति होने के फलस्वरूप उत्पादन और वितरण का स्वरूप ही बदल गया। खेती में स्वावलम्बी खेती के स्थान पर व्यापारिक खेती होने लगी, किसान अपनी तथा अपने गाँव की आवश्यकताओं को पूरा करने मात्र के लिए खेती नहीं करता, वरन वह बाजार में बिक्री के लिए फसल पैदा करता है। अपनी आवश्यकता की चीजें वह स्वयं खरीदने लगा और खेती की पैदावार का भी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय बाजार स्थापित हो गया। खेती में भी बड़ी मात्रा की खेती और व्यापारिक खेती आरम्भ हो गई। खेती में भी अधिक पूँजी, यंत्रों की सहायता और उत्तम व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव होने लगी। छोटे किसान की स्थिति बिगड़ने लगी। यद्यपि खेती में छोटा किसान बिलकुल नष्ट नहीं हो गया; परन्तु उसका महत्त्व कम हो गया।

उद्योग-धंधों में तो स्वतंत्र कारीगर का पतन बड़ी तेजी से हुआ। अत्याधिक पूँजी, यंत्रों और जटिल व्यवस्था की आवश्यकता होने के कारण स्वतंत्र कारीगर नहीं टिक सकता था। उसका स्थान बड़े बड़े कारखानों ने ले लिया। कारीगर, छोटा किसान, जिसे खेती से हटना पड़ा, सब मजदूरों की श्रेणी में पहुँच गए। उधर बड़ी मात्रा के उत्पादन और कारखानों की स्थापना के फलस्वरूप एक प्रबल पूँजीपति वर्ग का उदय हुआ। धंधों से मिलनेवाले लाभ से उनके पास और भी अधिक पूँजी इकट्ठी होती गई और वे एक के बाद दूसरे कारखाने स्थापित करते गए। यातायात तथा व्यापार में क्रान्ति हो जाने के फलस्वरूप इन

बड़े उद्योगों का बाजार केवल अपने देश में ही सीमित नहीं रहा, वरन अन्य देशों के बाजार भी उनके लिए खुल गए। आरम्भ में इन बड़े कारखानों में कोई प्रतिस्पर्द्धा अथवा होड़ नहीं थी; क्योंकि उनका बनाया हुआ माल सस्ता होता था और वे स्वतंत्र कारीगरों के द्वारा बनाये हुए माल के बाजार को छीन रहे थे। किन्तु जब अधिक संख्या में कारखानों की स्थापना हो गई और स्वतंत्र कारीगरों का विनाश हो गया, तो इन पूँजीवादी उद्योगों में स्वयं प्रतिस्पर्द्धा और होड़ आरम्भ हो गई। जिन फैक्टरियों की व्यवस्था अच्छी नहीं थी और जो अपेक्षाकृत छोटी और निर्बल थीं, वे इस प्रतिस्पर्द्धा में न टिक सकीं और धराशायी हो गईं। छोटा पूँजीपति भी समाप्त हो गया। जब सबल उद्योग बच रहे जिनकी शक्ति बराबर थी, तो उन्होंने प्रतिस्पर्द्धा से कोई लाभ न देखकर कारखानों का मिलन करना आरम्भ कर दिया और प्रत्येक उद्योग-धंधे में बड़े प्रबल ट्रस्ट और एकाधिकार (मनापोली) स्थापित हो गए। इन ट्रस्टों और एकाधिकार के स्वामी केवल थोड़े से समर्थ पूँजीपति ही थे, अतएव उनके पास कल्पनातीत लाभ इकट्ठा होने लगा, जिसे वे फिर पूँजी के रूप मे नये धंधों में लगाने लगे। परिणाम यह हुआ कि आर्थिक पूँजीवाद चरम सीमा पर पहुँच गया और वह सारी पूँजी कुछ थोड़े से पूँजीपतियों के अधिकार मे आ गई।

साम्राज्यवाद का उदय

जब औद्योगिक दृष्टि से उन्नत राष्ट्रों के पूँजीपतियों ने अपने देश के आर्थिक साधनों को पूर्ण रूप से विकसित कर लिया और अपने देश में अधिक पूँजी लगाने के लिए स्थान नही रहा अथवा अपने देश के आर्थिक साधनों के विकसित हो जाने से वहाँ पूँजी लगाने से अधिक लाभ की आशा नहीं रही, तो इन पूँजीपतियों का ध्यान प्रकृति की देन से भरे पूरे परन्तु औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े देशों की ओर गया और वे प्रतिदिन अपनी बढ़ती हुई पूँजी को उन देशों में लगाने लगे। परन्तु उन देशों में पूँजी तभी लगाई जा सकती थी, जब कि उन देशों में उनके स्वार्थों की सुरक्षा की गारंटी हो। उस समय तक पूँजीपति वर्ग अपने देश के राजनैतिक जीवन में अत्यन्त प्रभावशाली हो गया था। देश के राजनैतिक दल उनके प्रभाव में थे, सरकार उनके संकेत पर चलती थी, अतः पूँजीपतियों ने अपनी सरकार को इन पिछड़े परन्तु प्राकृतिक देन से भरे पूरे देशों पर

राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रभावित किया और साम्राज्यवाद का जन्म हुआ।

यही कारण है कि जिन देशों में पहले औद्योगिक उन्नति हुई, उनका साम्राज्यवादी स्वरूप शीघ्र प्रकट हो गया। ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति और औद्योगिक उन्नति सबसे पहले हुई, अतएव वह सबसे पहले साम्राज्यवादी राष्ट्र बना और उसने एक विशाल साम्राज्यवाद की स्थापना की। क्रमश: फ्रांस, हालैंड, जरमनी, बेलजियम, इटली ने अपने साम्राज्य स्थापित किए और अन्त मे जापान और संयुक्तराज्य अमरीका इस क्षेत्र में आए।

जब इन साम्राज्यवादी राष्ट्रों के पूँजीपतियों के स्वार्थों की आपस में टक्कर होने लगी और प्रतिस्पर्द्धा बहुत उग्र हो उठी, तो इन साम्राज्यवादी राष्ट्रों में संघर्ष होने लगा और मानव समाज को युद्ध की विभीषिका का सामना करना पड़ा। क्रमश: पराधीन राष्ट्रों में जब राष्ट्रीय चैतन्य आरम्भ हुआ तो वहाँ भी आधुनिक ढंग के उद्योग धंधों का विकास हुआ; किन्तु विदेशी पूँजीपतियों को बिना स्थान से हटाए हुए यह सम्भव नहीं था, अत: वहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन तीव्र हुए और जैसे जैसे पिछड़े राष्ट्र राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्त करते गए, वहाँ भी औद्योगिक उन्नति तेजी से होती गई। बीसवीं शताब्दी के मध्य तक औद्योगिक विकास तेजी से हुआ।

यह तो हम पहले ही जान चुके हैं कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जो पूँजीवादी उत्पादन आरम्भ हुआ, उसका एक परिणाम यह हुआ कि एक बहुत बड़ा मजदूर वर्ग उत्पन्न हो गया।

मजदूर आन्दोलन

यह मजदूर वर्ग संगठित होकर अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करने लगा। उनका एक प्रयत्न तो अपनी मजदूर सभाएँ (ट्रेड-यूनियन) स्थापित करके मिल मालिकों से ऊँचा वेतन और अधिकाधिक सुविधाएँ प्राप्त करने का था (जिसके सम्बन्ध में पहले लिखा जा चुका है) और उनका दूसरा प्रयत्न राजतंत्र पर अपना अधिकार स्थापित करके अपने हितों के अनुरूप सामाजिक ढाँचे को बदलने का था। हम यहाँ मजदूरों के उस आन्दोलन का उल्लेख करेंगे, जिसका उद्देश्य राजनैतिक सत्ता प्राप्त करने के उपरान्त समाज के ढाँचे में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन लाना था।

ब्रिटेन में मजदूर वर्ग का राजनैतिक आन्दोलन सर्वप्रथम चारटिस्ट आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ। चारटिस्टों की मुख्य माँगें नीचे लिखी थीं :—(१) प्रत्येक पुरुष को मताधिकार दिया जाय, (२) मतदान वैलट से हो, (३) पार्लियामेंट के सदस्यों के लिए कोई जायदाद या सम्पत्ति की योग्यता न रक्खी जावे। पार्लियामेंट के सदस्यों को वेतन या भत्ता दिया जावे। मजदूरों का प्रयत्न यह था कि यह अधिकार मिल जाने के उपरान्त मजदूरों का शासनतंत्र पर अधिकार हो जावेगा और फिर समाज का ढाँचा अपने अनुकूल वदला जा सकेगा। परन्तु समाज का ढाँचा किस प्रकार का होगा, इस सवंध में वहुत मतभेद था। फिर भी इस चार्टर के पक्ष में सभी विचारधाराओं के मजदूर थे। १८३६ मे पार्लियामेंट के सामने ये माँगें उपस्थित की गईं। पार्लियामेंट ने उनको अस्वीकार कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि चारटिस्टों में फूट पड़ गई। एक दल तो शान्तिमय उपायों से पार्लियामेंट पर नैतिक प्रभाव डालने के पक्ष में था और दूसरा दल आम हड़ताड़ और सशस्त्र विद्रोह के पक्ष में था। कहीं कहीं छुटपुट विद्रोह हुए और वे कठोरतापूर्वक दवा दिए गए।

अन्तिम चारटिस्ट प्रदर्शन १८४८ मे हुआ। एक वहुत वड़ा आवेदन पत्र जिस पर लाखों मजदूरों के हस्ताक्षर थे, पार्लियामेंट को देने के लिए तैयार किया गया। एक वहुत वड़ी सभा की गई और वहाँ से उस आवेदन पत्र को गाड़ियों पर लादकर एक जलूस में वैस्टमिस्टर तक ले जाने की योजना थी, परन्तु सरकार ने एक वहुत वड़ी सेना इकट्ठी कर ली और प्रदर्शनकारियों को पार्लियामेट हाऊस तक पहुँचने ही नहीं दिया; वीस हजार मजदूर तितर-वितर हो गए।

इसके उपरान्त चारटिज्म फिर कभी नहीं पनप सका। वात यह थी कि उस समय का मजदूर न तो शिक्षित था और न उसे राजनैतिक अनुभव ही था कि वह एक राजनैतिक आन्दोलन विना मध्यम वर्ग की सहायता के चला सकता। मध्यम वर्ग ने इस आन्दोलन को सहायता नहीं दी; क्योंकि वह समाज के ढाँचे में मूलभूत परिवर्त्तन करना चाहता था और व्यक्तिगत सम्पत्ति का विनाश चाहता था।

परन्तु आगे चलकर मध्यम वर्ग तथा मजदूरों के सम्मिलित आन्दोलन के फलस्वरूप जिसका नेतृत्व ग्लैडस्टन और ब्राइट ने किया था, मजदूरों

को १८८४ तक मतदान का अधिकार मिल गया। इसका परिणाम यह हुआ कि क्रमशः राजनीति में मजदूर दल का उदय हुआ। १८६० में श्रमजीवी प्रतिनिधित्व कमेटी का जन्म हुआ जो पार्लियामेंट के चुनाव में अपने उम्मीदवार खड़े करने लगी। क्रमशः मजदूर प्रतिनिधियों की पार्लियामेंट मे सफलता बढ़ती गई। १६०६ में इस कमेटी का नाम मजदूर दल हो गया। आरम्भ में मजदूर दल उदार दल के नेतृत्व और प्रभाव में काम करता था। किन्तु १६१८ में मजदूर दल उदार दल के प्रभाव से मुक्त हो गया और प्रमुख विरोधी दल बन गया। उसके बाद तो कई बार मजदूर दल का मंत्रिमंडल स्थापित हुआ।

फ्रांस में १७८६ में जो क्रान्ति हुई, वह कोई समाजवादी आन्दोलन नहीं था। वह आर्थिक उदारवाद का आन्दोलन था। उससे केवल पूँजीपतियों, जायदादवालों तथा किसानों को लाभ हुआ। परन्तु आगे चलकर जब लुइस फिलिप के विरुद्ध विद्रोह की भावना जागृत हुई तो प्रत्येक दल को यह अनुभव हुआ कि बिना मजदूर वर्ग के सहयोग के विद्रोह सफल होना कठिन है, अतः मजदूर वर्ग का राजनैतिक महत्त्व बढ़ गया।

१८४८ का विद्रोह भी वास्तव में मध्यम वर्ग का आन्दोलन था; परन्तु उसकी सफलता मजदूर वर्ग की सहायता से ही सम्भव हुई। इस कारण जब लुइस फिलिप के सिंहासन छोड़ने पर अस्थायी सरकार बनी तो मजदूरों के नेता लुइस ब्लैक को उसमें लेना पड़ा। ब्लैक के प्रभाव के कारण सरकार को एक लेबर कमीशन की स्थापना करनी पड़ी और यह स्वीकार करना पड़ा कि मजदूरों को काम पाने का अधिकार है। यही कारण था कि जब पेरिस में बेकारी अधिक हुई तो राष्ट्रीय वर्कशाप खोलकर मजदूरों को काम दिया गया। जो लोग सरकारी वर्कशापों मे काम पा गए, वे क्रान्तिकारी मजदूर वर्ग से अलहदा हो गए। परन्तु मध्यमवर्गीय मंत्रिमंडल कोई समाजवादी सरकार स्थापित नहीं करने जा रहा था। जब उसकी स्थिति मजबूत हो गई तो उन्होंने लेबर कमीशन को भंग कर दिया तथा राष्ट्रीय वर्कशापों को बंद कर दिया। उस समय मजदूरों ने विद्रोह किया, परन्तु वह कुचल दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मजदूर आन्दोलन कुछ समय के लिए अत्यन्त निर्बल हो गया। १८७१ में फिर कम्यून विद्रोह हुआ और थोड़े समय के लिए मजदूरों का

राजधानी पर अधिकार हो गया। परन्तु वे कुछ न कर सके क्योंकि उनका सामाजिक कार्यक्रम अस्पष्ट था। इस विद्रोह के फलस्वरूप वर्ग विद्वेष बहुत जागृत हुआ। १८८० में जाकर एक नियमित समाजवादी दल का निर्माण हुआ। परन्तु आरम्भ से ही मजदूर वर्ग मे मतभेद उत्पन्न हो गया। एक दल मार्क्सवादी विचारधारा को मानता था, अन्य दल मार्क्सवाद को स्वीकार नहीं करते थे। परन्तु १८९३ के चुनावों में सभी विचारों के समाजवादी दलों ने मिलकर चुनाव लड़े, और फलस्वरूप ४० समाजवादी डिप्टी चैम्बर में चुने गए। परन्तु १८९९ में स्वतंत्र समाजवादियों और मार्क्सवादियों में फिर झगड़ा आरम्भ हो गया। १९०४ में जब अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी कांग्रेस हुई तो फिर यह झगड़ा मिटा और एक यूनाइटेड सोशलिस्ट पार्टी स्थापित की गई। इसका परिणाम यह हुआ कि १९१० में १४९ समाजवादी डिप्टी चुने गए। १९१४ के महायुद्ध के उपरान्त इस दल का प्रभाव कम हो गया। युद्ध के उपरान्त कम्युनिस्टों के इस सम्मिलित दल से निकल जाने से इसका प्रभाव और भी कम हो गया। क्रमशः १९३६ में समाजवादी दल फिर प्रभावशाली हो गया और चैम्बर में उसका बहुमत हो गया। उस समय समाजवादी दल ने रेडिकल दल के साथ पापुलर फ्रंट बनाया और राज्य का शासन सूत्र उनके हाथ में आ गया। इस प्रकार फ्रांस की राजनीति में मजदूरों का प्रभाव बढ़ता गया।

जर्मनी

जर्मनी में मजदूर वर्ग में चैतन्य उदय करने और मजदूर दल को जन्म देने का श्रेय फर्डिनैंड लासले को है (१८२५-६४)। वह एक सफल आन्दोलनकारी था। उसने जर्मन सोशलिस्ट डिमाक्रेटिक पार्टी को जन्म दिया। उत्तर में लासले ने मजदूरों में राजनैतिक चैतन्य का उदय किया और दक्षिण में मार्क्सवादी विचारधारा का नेतृत्व वेबल करता था। १८७५ में दोनों दल मिल गए और गोथा में एक कांग्रेस हुई। इस कांग्रेस मे जो समाजवादी कार्यक्रम स्वीकार हुआ, वही प्रसिद्ध गोथा प्रोग्राम कहलाता है। मार्क्स ने इस प्रोग्राम का विरोध किया था; क्योंकि उसमें राष्ट्रीयता को स्वीकार किया गया था।

समाजवादियों की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर बिस्मार्क चौकन्ना हुआ। उसने समाजवादी दल को गैरकानूनी घोषित कर दिया; परन्तु

फिर भी समाजवादी दल शक्तिवान होता गया। १८६० के चुनाव में ३५ समाजवादी जर्मन 'रीश' में चुन लिए गए। सरकार ने समझ लिया कि दमन से समाजवादियों की शक्ति को कम नहीं किया जा सकता अतः उसको कानूनी घोषित कर दिया गया। १८६१ में समाजवादी दल की इरफर्ट में फिर कांग्रेस हुई और एक नया कार्यक्रम स्वीकार किया गया, जो कि मार्क्सवादी होते हुए भी अधिकतर अवसरवादी था। इसका परिणाम यह हुआ कि क्रमशः समाजवादी दल १६१२ में 'रीश' में सबसे बड़ा दल बन गया। परन्तु इससे कोई परिणाम नहीं निकला, क्योंकि जर्मनी के विधान के अनुसार मंत्रिमंडल सम्राट् के प्रति उत्तरदायी था और उसकी कृपा पर निर्भर था। १६१८ में जो क्रान्ति हुई उससे समाजवादियों की शक्ति बहुत बढ़ गई और समाजवादी सरकार स्थापित हो गई, जिसने जर्मनी को प्रजातंत्र राष्ट्र घोषित कर दिया। किन्तु विजयी राष्ट्रों ने जर्मनी के ऊपर जैसी अपमानजनक संधि लादी, उससे देश में समाजवादी दल की प्रतिष्ठा कम होती गई। इसका परिणाम यह हुआ कि १६२० के चुनाव मे उसकी शक्ति कम हो गई और उसको दक्षिण पक्षी दलों से समझौता करना पड़ा। रीश में यद्यपि वह सबसे बड़ा दल था; किन्तु समाजवादी विरोधी दल शक्तिवान हो गए। १६३३ मे हिटलर का उदय हुआ और समाजवादी दल की शक्ति क्षीण हो गई।

इस प्रकार सभी औद्योगिक राष्ट्रों मे और विशेषकर यूरोपीय राष्ट्रों में मजदूरों का राजनैतिक आन्दोलन बल पकड़ता गया और बहुत से देशों में उन्होंने मंत्रिमंडल बनाए। मजदूर दलों की एक मुख्य निर्बलता यह है कि वे एक नहीं हो पाते। कम्युनिस्ट नेतृत्व और राष्ट्रीय समाजवादियों में कोई समझौता सम्भव नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन की प्रगति अन्तर्राष्ट्रीय संघों से सम्बन्धित रही है। पहला अन्तर्राष्ट्रीय संघ कार्ल मार्क्स की देन थी। कार्ल मार्क्स उस समय लंदन में था। उस समय लंदन राजनीतिज्ञ शरणार्थियों का केन्द्र था। कार्ल मार्क्स ने १८६४ मे एक प्रतिनिधि सभा में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की स्थापना की। मार्क्स ने इस अन्तर्राष्ट्रीय संघ का विधान बनाया और इसकी शाखाएँ यूरोप के अन्य देशों में भी स्थापित हुई। यूरोप की सरकारों में इस

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन से भय छा गया। किन्तु यह अत्यन्त निर्बल संगठन था। प्रारम्भ से ही इस संगठन में पारस्परिक मतभेद था। इसका परिणाम यह हुआ कि १८७२ में विरोधी गुट बुकानिन और उसके अनुयायी कांग्रेस से निकाल दिए। फलस्वरूप प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ बहुत निर्बल हो गया। मार्क्स निराश होकर उसके केन्द्रीय कार्यालय को न्यूयार्क ले गया; किन्तु वहाँ वह १८७६ में समाप्त हो गया।

द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना १८८९ में पेरिस में हुई। भिन्न भिन्न देशों के समाजवादी वहाँ एक सम्मेलन में मिले। ११ वर्ष के उपरान्त इस संगठन ने एक अन्तर्राष्ट्रीय समाजवादी ब्यूरो की स्थापना की जिससे भिन्न भिन्न देशों के मजदूर आन्दोलनों से अन्तर्राष्ट्रीय संघ का सम्बन्ध स्थापित रह सके। प्रथम महायुद्ध के फलस्वरूप द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ समाप्त हो गया। १९१९ में फिर उसको कार्यशील बनाया गया और अधिकांश यूरोपीय समाजवादी दल इससे सम्बन्धित हो गए। इसका कार्यक्रम नरम समाजवाद था। यह वैधानिक और शान्तिपूर्ण उपायों से समाजवाद की स्थापना के पक्ष में था।

तीसरा अन्तर्राष्ट्रीय संघ जिसे कामिंटर्न भी कहते हैं, मास्को में १९१० में स्थापित हुआ। वह एक बोल्शेविक संस्था थी जो वर्ग संघर्ष मे और सर्वहारा वर्ग के अधिनायकत्व में विश्वास करती थी। कम्युनिस्ट दल इससे सम्बन्धित थे; परन्तु इसकी मुख्य शक्ति सोवियत रूस थी। स्टालिन के सत्तारूढ़ होने पर इसकी सोवियत रूस ने उपेक्षा की और अन्त में १९४३ में इसको समाप्त कर दिया गया।

अभ्यास के प्रश्न

१—साम्राज्यवाद और पूँजीवाद का सम्बन्ध बतलाइए।

२—ब्रिटेन में मजदूर वर्ग ने जो राज्यसत्ता प्राप्त करने का प्रयत्न किया, उसका वर्णन कीजिए।

३—फ्रांस मे मज़दूरों के राजनैतिक आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

४—जर्मनी मे मज़दूरों के राजनैतिक आन्दोलन का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

५—अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर आन्दोलन का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. International Labour Movement by John Price.

———

अध्याय १७

अधिनायकवाद का प्रवाह

बीसवीं शताब्दी का आरंभ जनतंत्र के एक नए उत्थान से हुआ। १६०५ में रूस में पहली बार एक लोकसभा की स्थापना हुई। १६०६ में ईरान के शाह को अपनी जनता को एक वैधानिक शासन देने पर विवश होना पड़ा। १७०८ में टर्की मे जनतंत्र की प्रगति जनतांत्रिक क्रान्ति हुई। १६१० में मैक्सिको की क्रान्ति में दक्षिणी अमरीका में जनतंत्र का बीजारोपण किया। १६११ में चीन में चार हजार वर्ष पुराने एकछत्र शासन का अंत घोषित किया गया। प्रथम महायुद्ध ने इस जनतांत्रिक प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। युद्ध मे विजय उन्हीं देशों को प्राप्त हुई, जो जनतंत्र में विश्वास रखते थे। जर्मनी को केवल पराजय का सामना ही नहीं करना पड़ा, कैसर का राजतंत्र भी मिट गया और उसके स्थान पर जर्मनी मे एक जनतांत्रिक शासन की स्थापना हुई। रूस में इसके पहले ही, जारशाही का अंत कर दिया गया था। आस्ट्रिया, हंगरी और टर्की के साम्राज्य तो चकनाचूर हो गए थे। इन बड़े साम्राज्यों के ध्वंसावशेषों के स्थान पर एक दर्जन के लगभग गणतंत्र राज्यों की स्थापना की गई। इन देशों के शासन का आधार उन्हीं सिद्धान्तों पर था, जो इंग्लैंड, फ्रांस अथवा अमरीका में प्रचलित थे; पर उन्हे एक अधिक व्यापक रूप देने का प्रयत्न किया गया था। अध्यक्ष के अधिकार व उच्च सदन की प्रतिष्ठा को कम करने के साथ ही मताधिकार को अधिक व्यापक बनाया गया था। सभी नए संविधानो में स्त्रियों को पुरुषों के बराबर अधिकार दिये गए थे। चुनाव की पद्धति में भी सुधार करने का प्रयत्न किया गया। जर्मनी का वीमार संविधान (Weimar Constitution) जनतांत्रिक शासन की प्रगति का एक अच्छा उदाहरण था। यह एक संघात्मक गणतंत्र था, जिसमें अध्यक्ष को साधारण काल में बहुत कम अधिकार दिये गए थे। संविधान में उत्तरदायी मंत्रिमंडल और दो सदनवाली धारासभा की व्यवस्था थी।

चुनाव वयस्क मताधिकार और अनुपात प्रणाली के आधार पर किए जाने की व्यवस्था थी। जर्मनों के मूलभूत अधिकारों और कर्त्तव्यों का संविधान में समावेश कर दिया गया था।

राष्ट्रवाद का विकास

परंतु बीसवीं शताब्दी में भी जनतंत्र की तुलना में राष्ट्रवाद की भावना ने अधिक प्रगति की। राष्ट्रवाद, देखने मे, एक बड़ी अच्छी भावना है; परंतु उसके उग्र रूप ने ही प्रथम महायुद्ध को जन्म दिया था। जर्मनी की राष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाएँ और अन्य राष्ट्रों की जर्मनी को उभरने न देने के प्रयत्नों का ही यह परिणाम था कि १९१४ में विश्व के अधिकांश राष्ट्र, युद्ध में चार वर्ष से अधिक तक जूझते रहे थे। युद्ध ने राष्ट्रप्रेम को और भी अधिक उत्साहित किया। युद्ध के बाद यूरोप के छोटे छोटे देशों को राष्ट्रीय 'आत्मनिर्णय' के आकर्षक सिद्धान्त के आधार पर स्वतंत्र राज्यों मे संगठित किया गया, जिसके परिणामस्वरूप दो हजार मील नई सीमात रेखाओं का निर्माण किया गया। यह काम सरल नहीं था और इसने अल्पसंख्यक वर्गों की भयकर समस्या को जन्म दिया। राष्ट्रवाद के नाम पर ही यूरोप के सभी राष्ट्र, युद्ध समाप्त हो जाने पर भी, शस्त्रीकरण की दौड़ में एक दूसरे से आगे निकल जाने के प्रयत्नों में जुट पड़े और वह करोड़ों रुपया, जो युद्ध से आहत व्यक्तियों के जीवन के पुनर्निर्माण में लगाया जा सकता था, सेनाओं और हथियारों पर खर्च किया जाने लगा। राष्ट्रवाद की इस भावना ने ही, एक झूठी देशभक्ति की आड़ ने, साम्राज्यवाद की भावना को एक नया जीवन दिया। प्रथम महायुद्ध के आर्थिक परिणामों से व्यस्त संसार के सभी देशों को मिल-जुलकर और सहयोग की भावना में अपनी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न करना चाहिए था, पर राष्ट्रवाद का उन सभी पर इतना अधिक प्रभाव था कि उन्होंने अपने व्यापार और आर्थिक सम्बन्धों को अपने साथी देशों की सीमाओं में बाँधकर अपने ही उद्धार का प्रयत्न किया। इसका परिणाम यह निकला कि देशों के ये समूह, एक के बाद दूसरा, एक विश्वव्यापी आर्थिक संकट के पाश में बँधते गए। सोना सब अमरीका की ओर खिंच रहा था। अन्य देशों में मुद्रा-स्फीति बढ़ती जा रही थी। आयात-करों की वृद्धि से व्यापार का गला घुटने लगा था। बेरोजगारी एक भयंकर गति से बढ़ रही थी। इस विश्वव्यापी आर्थिक संकट से अमरीका

भी वच नहीं सका, और अमरीका के उसमें ग्रस्त होते ही उसका प्रभाव संसार के दूर-दूर के देशों तक जा पहुँचा। समस्या को आर्थिक राष्ट्रवाद की संकीर्ण दृष्टि से देखने के स्थान पर यदि अन्तर्राष्ट्रीय हित की दृष्टि से सुलझाने का प्रयत्न किया होता, तो संकट कभी इतना भयंकर रूप नहीं ले सकता था।

जनतंत्र को चुनौती

ये परिस्थितियाँ जनतंत्र के विकास के लिए एक चुनौती के समान थीं। आर्थिक संकट को अल्पसंख्यक राष्ट्रीयताओं की समस्या ने और भी जटिल बना दिया। यूरोप के नव-निर्मित राष्ट्रीय-राज्यों में, जनतंत्र के नाम पर, बहुसंख्यक वर्ग अल्पसंख्यकों को कुचलने में लगे हुए थे। यह कहा जा सकता है कि युद्धोत्तर काल की इन परिस्थितियों ने मानवी सम्बन्धों के आधार को ही हिला दिया था। चारों ओर अशान्ति और असन्तोष का वातावरण था। गरीबी और बेबसी, निराशा और विक्षोभ सभी देशों में फैलते जा रहे थे। जनतंत्र से लोगों का विश्वास उठने लगा था। जनसाधारण को इतना धीरज नहीं रह गया था कि वे उसके धीमे और समझौतावादी मार्ग पर चलते हुए आर्थिक पुनर्निर्माण और सामाजिक सुरक्षा के लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न करें। आर्थिक समृद्धि के लिए वह स्वतत्रता की बलि देने के लिए तैयार था। अधिनायकवाद के उत्थान के लिए इससे अच्छा अवसर कब मिल सकता था। इंग्लैंड, फ्रांस और अमरीका को छोड़कर सभी देशों ने, जनतंत्र के स्थान पर, अधिनायकवाद के मार्ग को ही अपनाया। रूस में जारशाही के ध्वंसों पर किसी जनतंत्र शासन की स्थापना नहीं हुई, एक नए प्रकार की तानाशाही का उदय हुआ। १६२२ में इटली ने जनतंत्र के मार्ग को ठुकराते हुए अधिनायकवाद की स्थापना की। १६२४ मे टर्की में मुस्तफा कमाल ने अपनी डिक्टेटरशाही की घोषणा की। १६२५ में ईरान मे रजाशाह पहेलवी ने शासन की बागडोर को अपने हाथ मे लिया। चीन में च्यांगकाई शेक के शासन का तानाशाही रूप १६२६-२७ मे प्रकट होने लगा था। १६३१ में जापान में जनतंत्र को एक सैनिक अधिनायकवाद के नीचे दबा दिया गया। १६३३ में जर्मनी में हिटलर ने, गणतंत्र के वैधानिक ढाँचे को नष्ट करके अपने को राज्य का सर्वेसर्वा घोषित किया। हिटलर, मुसोलिनी और तोजो, अधिनायकवाद

के प्रवाह में आगे आनेवाले ये तानाशाह अपने देश की सीमाओं में ही जनतंत्र को कुचलने से संतुष्ट नहीं रह सकते थे। उन्होंने अन्य देशों को पदाक्रान्त करने का निश्चय किया और विश्व-विजय की योजनाएँ बनाईं, जिनके परिणामस्वरूप संसार अनिवार्य गति से, एक द्वितीय महायुद्ध की ओर बढ़ चला।

रूस की सर्वहारा तानाशाही

अधिनायकवाद के इस प्रवाह में रूस की सर्वहारा तानाशाही का एक विशेष स्थान है। रूस की १६१७ की क्रान्ति फ्रांस की १७८६ की क्रान्ति से किसी प्रकार कम नहीं थी। उसने केवल पुरानी राज्यव्यवस्था को समाप्त ही नहीं किया, समाज-रचना और अर्थनीति के नए मूल्यों की सृष्टि की। क्रान्ति के नेताओं ने, बाह्य आक्रमणों और आन्तरिक विद्रोहों के होते हुए, राष्ट्र के नवनिर्माण का काम इतनी अधिक तेजी और सफलता से किया कि इतिहास में उसका सादृश्य ढूँढ़ना कठिन होगा। लेनिन (Lenin 1870-1924) की गिनती उन राष्ट्र-निर्माताओं में की जाती है, जिन्होंने अपने देश के जीवन पर एक अमिट छाप अंकित की। उसका प्रारंभिक जीवन कठिनाइयों और संघर्षों में बीता और जब देश का शासन उसके हाथ में आया, तब भी जीवन के अंतिम सात वर्षों का एक-एक क्षण उसने राष्ट्र को सशक्त बनाने में ही लगाया। उसकी मृत्यु के बाद शासन स्टालिन के हाथ में आया। स्टालिन ने रूस की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा को बहुत अधिक बढ़ाया। १६३६ में उसने रूस को एक नया संविधान दिया, जो जनतांत्रिक सिद्धान्तों के अधिक अनुकूल था। रूस ने अपने संविधान में राष्ट्रीय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को पहले से ही मान लिया था। १६३६ में चुनाव में भाग लेने का अधिकार सभी वयस्क व्यक्तियों को दिया गया और गुप्त मताधिकार की व्यवस्था की गई। शासन पर कम्युनिस्ट पार्टी के एकाधिपत्य के कारण इन जनतांत्रिक सिद्धान्तों का कोई मूल्य नहीं रह गया है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अधिनायक-वाद के मार्ग पर चलते हुए रूस ने आन्तरिक पुनर्निर्माण की दृष्टि से बहुत बड़े बड़े काम किए हैं। आर्थिक समृद्धि और शिक्षा और संस्कृति के विकास की दृष्टि से आज वह संसार के बड़े से बड़े देशों के समकक्ष आ गया है। १६१४ में रूस में ७० प्रतिशत व्यक्ति निरक्षर थे। आज न केवल १०० फी सदी व्यक्ति साक्षर हैं, साहित्य के प्रकाशन और प्रचार

की दृष्टि से रूस संसार के सब देशों में अग्रणी है। कृषि के साधनों में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाए गए हैं। उत्पादन, यातायात, व्यापार आदि सभी दिशाओं में उसने अभूतपूर्व प्रगति की है।

इटली का फासीवाद रूस के साम्यवाद की एक प्रतिक्रिया के रूप में विकसित हुआ। साथ ही उसने जनतंत्र को भी चुनौती दी। उसका आरंभ प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर इटली में फैल जानेवाली आर्थिक दुरवस्था और मानसिक निराशा में फासीवाद का हुआ। इटली युद्ध मे विजयी होते हुए भी युद्धोत्तर अग्रदूत इटली संधियों में उन सब प्रदेशों से वंचित रखा गया था, जिन्हें पाने के लालच में उसने पुराने मित्रों को छोड़कर पश्चिमी राष्ट्रों का साथ दिया था। यह उसके राष्ट्रवाद की भावना पर एक बहुत बड़ा आघात था। देश भर मे क्रान्तिकारी दलों का संगठन होने लगा, जिनका लक्ष्य राष्ट्र की खोई हुई प्रतिष्ठा को फिर से प्राप्त करना था। मुसोलिनी का फासी दल इनमें से एक था। पर उसके अद्‌भुत नेतृत्व के कारण धीरे-धीरे वह एक प्रबल शक्ति बन गया। देश के असख्य नौजवानों को उसने एक सैनिक अनुशासन में बाँध दिया और राष्ट्र की महानता के लिए अपने प्राणों का उत्सर्ग करने की प्रेरणा दी। १६२२ मे देश का शासन उसके हाथ में आ गया। उससे तत्काल ही विरोधी दलों को निर्मूल कर देने की नीति को अपनाया और शिक्षा की पद्धति में आमूल परिवर्त्तन और शिक्षण-संस्थाओं पर राज्य के कठोर नियंत्रण के द्वारा उगते राष्ट्र के विचारों को अपने राजनीतिक चिन्तन में बाँधना चाहा। फासीवाद का आधार तीन सिद्धान्तों पर था—साम्यवाद से घृणा, जनतंत्र का विरोध और उग्र राष्ट्रवाद का समर्थन। मुसोलिनी की दृष्टि में व्यक्ति की स्वतंत्रता का कोई महत्त्व नहीं था। राज्य के लिए ही व्यक्ति का अस्तित्व है और राज्य के हित के लिए उसे अपने को नष्ट कर देनेके लिए सदैव तत्पर रहना चाहिए। इसमें संदेह नहीं कि अपने जीवन-काल में मुसोलिनी ने इन सिद्धान्तों को इटली के बच्चे-बच्चे के मन पर अंकित कर दिया था। देश में एक नया उत्साह फूँक देने की उसमें अद्‌भुत क्षमता थी। फासी दल की सहायता से उसने एक नए प्रकार के राज्य की सृष्टि की, जिसकी जनता मे देश के भविष्य में एक असीम आत्मविश्वास जाग उठा था और जो अपने नेता के आदेश पर बड़ी से बड़ी कुर्बानी

करने के लिए प्रस्तुत थी। परंतु यह सभी व्यवस्था एक व्यक्ति पर इतनी अधिक निर्भर थी कि उसके गतिशील और प्रेरणास्पद व्यक्तित्व के हटते ही वह धूल में बिखरती हुई दिखाई दी। अधिनायकवाद की यही सबसे बड़ी कमजोरी भी है।

अधिनायकवाद का नात्सी प्रयोग

अधिनायकवाद के उद्योग को सबसे अधिक बल जर्मनी में मिला। जर्मनी ने बीमार-संविधान के रूप में एक जनतांत्रिक शासन की स्थापना कर ली थी। परंतु विजयी राष्ट्रों ने जो जनतंत्र के समर्थन का दावा करते थे, उसके साथ इतना बुरा वर्ताव किया कि उसकी आत्मा तिलमिला उठी। उपनिवेशों के अतिरिक्त उसके बहुत से अन्य प्रदेश भी उससे छीन लिए गए। उसे लांछित और अपमानित किया गया। युद्ध के उत्तरदायित्व के नाम पर उसे एक असंभव धनराशि हर्जाने के रूप में देने के लिए विवश किया गया और जब उसने अपने युद्ध में छिन्न-भिन्न किये गए आर्थिक जीवन के सूत्रों को संयोजित करने का प्रयत्न किया, तो उसके मार्ग में बाधाएँ उपस्थित की गईं। जब वह हर्जाने की रकम दे नहीं सका तो मूल्यवान् औद्योगिक प्रदेश उससे छीन लिए गए। इस राष्ट्रीय अपमान को सहने के लिए जर्मनी की नई पीढ़ी तैयार नहीं थी और उसे मार्ग दिखाने का काम हिटलर ने अपने हाथ में लिया। जनतंत्र का प्रयोग जर्मनी में असफल हो चुका था और यदि हिटलर ने प्रतिक्रियावादिता के आधार पर राष्ट्रवादी जर्मनों का संगठन न कर लिया होता, तो यह संभव था कि जर्मनी में साम्यवाद का प्रभाव बहुत बढ़ जाता। उसके इस काम में देशभक्त नवयुवकों का ही नहीं धनी औद्योगिकों का सहयोग भी मिला। परंतु सत्ता को उसने बड़ी कठोरता से अपने ही हाथों में केन्द्रित रखा। हिटलर का विश्वास था कि जनता अधिकार नहीं चाहती, शासन चाहती है, और शासन जितना निर्मम हो, उतना ही अधिक उसके सामने झुकने के लिए वह तत्पर रहती है। जनता को फासीवादी सिद्धान्तों में दीक्षित करने के लिए उसने भी, मुसोलिनी के समान ही, युवकों की शिक्षा और उनके संगठन पर अपने दल का कठोर नियंत्रण रखा। देश का समस्त आर्थिक जीवन उसके निर्देशन में था ही। अपनी इस शक्ति का उपयोग उसने जर्मनी को संसार का सबसे महान् और शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के प्रयत्नों में किया। हिटलर अपने देशवासियों

में उत्कट राष्ट्रवाद की भावना की सृष्टि कर सका, परन्तु जर्मनी को दूसरे महायुद्ध के थपेड़ों में नष्ट होने से बचा नहीं सका।

जापान और अन्य देश

जापान में अधिनायकवाद के विकास का मार्ग और भी सुगम था। जापान में जनतांत्रिक सिद्धान्तों का बहुत कम प्रभाव था। सम्राट् को एक दैवी शक्ति के रूप में बहुत पहले से माना जा रहा था। सैनिक नेताओं ने जनता के इस विश्वास का उपयोग अपनी शक्ति बढ़ाने मे किया। सम्राट् के नाम पर वे राज्य की अनियंत्रित सत्ता का संचालन करने लगे। बहुत सी गुप्त समितियाँ उनके निर्देशन में चल रही थीं। शिक्षा के माध्यम से उन्होंने नवयुवकों की समस्त विचारधारा को राष्ट्रवाद के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया। जापान का लक्ष्य पहले एशिया पर और उसके बाद सारी दुनिया पर अपने साम्राज्य की स्थापना करना था। "सारे विश्व को एक ही साम्राज्य" में, अर्थात् जापानी साम्राज्य में ले आने के स्वप्न ने जापान के नवयुवकों को नया उत्साह और नई प्रेरणा दी। १९१० में जापान ने कोरिया पर अधिकार कर लिया था। यूरोप के राष्ट्रों के प्रथम महायुद्ध में व्यस्त रहने से लाभ उठाकर जापान ने चीन में अपने अधिकारों को बहुत बढ़ा लिया। १९३१ में जापान की सेनाओं ने मंचूरिया पर आक्रमण किया और १९३३ में मंचूकुओ के 'स्वतंत्र' राज्य की घोषणा की। १९३५ में उसने 'उत्तरी प्रान्तों' पर और १९३७ में चीन की भूमि पर आक्रमण किया। इसमें संदेह नहीं कि सैनिक स्वेच्छाचारिता के तत्त्वावधान में जापान ने भी, राष्ट्रीय शक्ति बढ़ाने की दिशा में बहुत अधिक प्रगति की, दूसरे महायुद्ध में जापान का सैनिक आतंक समस्त पूर्वी एशिया पर छा गया, और प्रशान्त महासागर उसकी सेनाओं के जयघोष से गूँज उठा। पर जर्मनी और इटली के समान, जापान का अधिनायकवाद भी महायुद्ध के थपेड़ों में चकनाचूर हो गया और युद्ध के बाद, अमरीका के निर्देशन में, जापान ने एक बार फिर जनतांत्रिक मार्ग पर चलने का प्रयत्न किया। अधिनायकवाद के इस प्रवाह में टर्की, पोलैंड, हंगरी और यूगोस्लाविया, रूमानिया, बलगारिया और यूनान, आस्ट्रिया और स्पेन आदि अनेक देश बहते हुए दिखाई दिए। १९३९ के लगभग ऐसा प्रतीत होने लगा था, जैसे जनतंत्र का भविष्य अंधकारमय है और अधिनायकवाद के इस प्रवाह को रोकना मनुष्य की शक्ति के बाहर है।

अधिनायकवाद में कुछ बहुत बड़े आकर्षण थे। एक सैनिक अनुशासन के आधार पर देश की समस्त शक्तियों को केन्द्रीभूत करके उनका उपयोग राष्ट्रीय शक्ति को बढ़ाने के लिए करने का इससे प्रभावपूर्ण कोई अन्य मार्ग नहीं हो सकता था, जिन देशों में अधिनायकवाद की स्थापना हुई उन सभी में आत्मविश्वास, उत्साह, त्याग और उत्सर्ग की भावना, राष्ट्र-प्रेम, अनुशासन, कार्य दक्षता आदि का अद्भुत विकास हुआ। परन्तु इस पद्धति में कई भयंकर दोष भी थे। अधिनायकवाद में व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं था। फासीवादी और साम्यवादी दोनों ही का विश्वास है कि राज्य के सामने व्यक्तिगत अभिव्यक्ति और प्रेरणा का कोई मूल्य नहीं है। अधिनायकवाद तो व्यक्ति से केवल आज्ञापालन और अनुशासन चाहता है, परन्तु आदि व्यक्ति को विकास की स्वतंत्रता और अवसर न दिए जाएँ तो कला और साहित्य, दर्शन और संस्कृति सभी का विकास अवरुद्ध हो जाता है। अधिनायकवाद ने वर्ग संघर्ष को चाहे उसका आधार धर्म अथवा जातीयता में रहा हो अथवा समाज के आर्थिक विभाजन में, बहुत अधिक प्रोत्साहन दिया। अल्पसंख्यक वर्गों को बहुसंख्यक वर्गों द्वारा प्राय: बुरी तरह कुचला गया और उनका अस्तित्व ही निःशेष कर देने के प्रयत्न किए गए। इसके अतिरिक्त अधिनायकवाद का एक बड़ा दोष यह भी है कि उसमें संगठन का सारा आधार एक व्यक्ति, नेता, पर रहता है, और उस व्यक्ति के, हत्या अथवा मृत्यु अथवा किसी अन्य कारण से, हटा दिए जाने पर सारा संगठन धराशायी हो जाने की आशंका रहती है। जनतंत्र में, और बहुत से दोषों के रहते हुए, यह एक बड़ी विशेषता है कि उसके शासन में एक स्थायित्व रहता है। व्यक्ति आते हैं और चले जाते हैं, पर लोकसत्तात्मक राज्य अपना काम, लगभग एक सी ही गति से किए चला जाता है। अधिनायकवाद का सबसे बड़ा सेना का प्रभुत्व है। इतिहास में सभी तानाशाहों ने सेना को अपनी सत्ता का मुख्य आधार बनाया है। उसी के सहारे वह आन्तरिक विरोध को कुचल सकता है और बाहरी देशों पर अच्छी इच्छा-शक्ति को लाद सकता है। सेना के इस प्रभुत्व का परिणाम यह हुआ है कि देश का सारा धन और सारी शक्ति प्राय: विदेशों पर आधिपत्य

अधिनायकवाद के दोष

स्थापित करने के प्रयत्नों में लगा दी गई है, और देश का आन्तरिक शासन और उसकी अर्थ-व्यवस्था, कमजोर होकर टूटते चले गए हैं। इन्हीं कारणों से अधिनायकवाद की लोकप्रियता अब कुछ कम होती हुई दिखाई दे रही है। परन्तु जनतंत्र के प्रति आकर्षण भी बहुत अधिक बढ़ा नहीं है। जनतंत्र के समर्थक देश यदि चाहते हैं कि उनकी विचार-धारा का प्रसार हो, तो उन्हे उसे अधिक व्यापक और प्रभावपूर्ण बनाना होगा।

अभ्यास के प्रश्न

१—बीसवीं शताब्दी में जनतंत्र और राष्ट्रवाद की प्रगति का एक संक्षिप्त विवरण दीजिए।

२—अधिनायकवाद के विकास के मूल कारणों पर प्रकाश डालिए।

३—अधिनायकवाद के फासीवादी और साम्यवादी रूपों में आपको क्या अन्तर दिखाई देता है?

४—इटली, जर्मनी और जापान मे फासीवाद के विविध रूपों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। फासीवाद ने इन देशो की उन्नति में कहाँ तक योग दिया?

५—अधिनायकवाद के दोषों की व्याख्या कीजिए।

६—जनतंत्र के दोष बताइए। उन्हे दूर करने के उपायों पर भी प्रकाश डालिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Benes, E.; Democracy, Today and Tomorrow.
2. Mc Govern; From Luther to Hitler.
3. Ford, G. S.; Dictatorships in the Modern World.

अध्याय १८

कला, साहित्य और विज्ञान की प्रगति

साहित्य, कला और संगीत के क्षेत्र में उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप में हमें तीन विभिन्न प्रवृत्तियाँ एक के बाद एक प्रबल होती हुई दिखाई देती हैं। एक प्रवृत्ति प्राचीन का अनुकरण करने की सांस्कृतिक विकास (neo-classicism) थी, दूसरी कल्पना-मूलक की मुख्य प्रवृत्तियाँ (romanticism) और तीसरी यथार्थवादी(realism)।

आरंभ में संस्कृति के सभी क्षेत्रों में प्राचीन यूनान और रोम के आदर्शों का अनुकरण करने की प्रवृत्ति ही प्रमुख थी। फ्रांस में लोगों का यह विश्वास था कि स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व की भावनाओं का सच्चा प्रतिनिधित्व प्राचीन कला में ही पाया जा सकता था। नेपोलियन ने भी प्राचीन की प्रशंसा की इस भावना को प्रोत्साहन दिया। फ्रेंच चित्रकार डेविड (David 1748-1825) ने अपने ऐतिहासिक चित्रों में इसी भावना को बड़ी सफलता के साथ अभिव्यक्त किया। उनका विषय प्राय: क्रान्ति की किसी घटना से सम्बन्ध रखता था पर चित्र की पृष्ठभूमि में प्राचीनता के समस्त गौरव को प्रतिबिंबित करनेवाली होती थी। डेविड को आधुनिक यूरोपीय चित्रकला का जनक माना जाता है। उसके एक शिष्य इंग्रेस (Ingres, 1780-1867) ने व्यक्तियों के वहुत ही सुन्दर चित्र बनाए हैं। पौराणिकता की यह प्रवृत्ति फ्रांस तक ही सीमित नहीं रही, जर्मनी और इग्लैंड के अनेकों चित्रकार इसी श्रेणी में रखे जा सकते हैं। मूर्त्तिकला के क्षेत्र में हूदाँ (Houdon, 1741-1828) को वही स्थान प्राप्त है, जो चित्रकला में डेविड को। उसने प्रकृति का बड़ा सफल चित्रण किया। यूरोप के समकालीन प्रसिद्ध व्यक्तियों में उसने कैथरीन, मोलियर, रूसो, दिदेरो, नेपोलियन आदि यूरोपीय और वाशिंग्टन, फ्रेंकलिन, जेफरसन आदि प्रमुख अमरीकियों की मूर्त्तियाँ तैयार की। अन्य प्रसिद्ध मूर्त्तिकारों

में फ्रांस के शौदे (Chaudet, 1763-1810), इटली के कैनोवा (Canova, 1757-1822) और डेनमार्क के थोरवाल्डसेन (Thorvaldsen, 1770-1844) की गणना की जा सकती है। इनमें थोरवाल्डसेन सबसे अधिक कुशल और प्रभावशाली सिद्ध हुआ। उसकी कला पर पौराणिकता का गहरा प्रभाव था। उसने कुछ प्राचीन यूनानी मूर्त्तियों का भी जीर्णोद्धार किया। कई प्रसिद्ध मूर्त्तिकारों ने थोरवाल्डसेन की शैली का अनुकरण करने का प्रयत्न किया, स्थापत्यकला के क्षेत्र में विंकेलमन (Winckelman, 1717–1768) का प्रभाव सबसे अधिक व्यापक पड़ा। वह जर्मनी का रहनेवाला था। रोम और यूनान के प्राचीन खण्डहरों का उसने अध्ययन किया और उनकी शैली को यूरोप के सभी देशों में पुनः लोकप्रिय बनाया। फ्रांस, इंग्लैंड, जर्मनी, अमरीका आदि सभी देशों में इस शैली का प्रचार हो गया।

परंतु पौराणिकता की यह प्रवृत्ति अधिक दिनों तक नहीं चली, उसमें सादगी और भव्यता का एक बड़ा आकर्षक समन्वय था; परंतु देशकाल के अनुकूल संभवतः यह प्रवृत्ति नहीं थी।
नेपोलियन और साम्राज्यवाद के समान इसका अंत स्वच्छन्दतावाद
भी जल्दी ही हुआ। मध्यम वर्ग, जो पूँजीवाद के का विकास
साथ सभी देशों में प्रबल होता जा रहा था, गौथिक-
शैली से अधिक प्रभावित हुआ। कला की अभिव्यक्ति में कल्पना और भौतिकता (Romanticism) को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। यूनान और रोम से प्रेरणा ग्रहण करने के स्थान पर उन्नीसवीं शताब्दी के कलाकारों को जीवन की स्वाभाविक अभिव्यक्ति का आदर्श अधिक प्रिय लगा। जीवन के निकट के विषय, पहाड़ और झीलें, सूर्यास्त के दृश्य, परिचित घटनाओं की झाँकियाँ, कल्पना का खिलवाड़, उनकी सर्जनात्मक शक्तियों को अधिक प्रेरणा देते हुए प्रतीत हुए। स्पेन में गोया (Goya, 1746–1828), चित्रकला के क्षेत्र में, इसी प्रवृत्ति का नेता था। उसने व्यक्तियों और घटनाओं को ज्यों का त्यों चित्रित किया। बच्चों, स्त्रियों, पुरुषों और घटनाओं के बड़े सजीव और सप्राण चित्र उसने निर्मित किए। उसके चित्रों में हमें कहीं दुराव अथवा कृत्रिमता नहीं दिखाई देती। इंग्लैंड में मौरलैंड (Morland, 1763-1804) क्रोम (Crome, 1769-1821), कांस्टेबल (Constable, 1776-1837) और

टर्नर (Turner, 1775-1851) इस प्रवृत्ति के मुख्य कलाकार हैं। मौरलैंड ने दिन प्रतिदिन के जीवन को विविध रूपों में चित्रण किया। अन्य अंग्रेज चित्रकारों ने प्राकृतिक दृश्यों के बड़े सुन्दर चित्र हमें दिए। ब्लेक (Blake, 1757–1827) के चित्रों में रहस्यवाद की झाँकी मिलती है। फ्रांस ने इस युग में अनेकों प्रमुख चित्रकारों को जन्म दिया पर गेरीसॉल्ट (Gericault, 1791–1824) और डेलाक्रुक्स (Delacroix, 1799-1863) की गिनती उसके सर्वश्रेष्ठ चित्रकारों में की जाती है। दोनों ने इंग्लैंड में चित्रकला का अध्ययन किया था और वहाँ की प्रमुख प्रवृत्तियों के प्रभाव में आए थे। इनके चित्र बहुत अधिक लोकप्रिय हुए।

यथार्थवाद का पहला चित्रकार होने का श्रेय फ्रांस के कूर्बे (Courbet, 1819–1877) को प्राप्त है। उसने जीवन को नग्न रूप में चित्रित करने का प्रयत्न किया। उसके साथियों, मौने (Manet, 1832–1883) और डैगास (Degas, 1834–1917) ने इस प्रवृत्ति को आगे बढ़ाया। मौने (Monet, 1840–1929), पिसारो (Pissarro, 1831–1903) और रैनोइर (Renoir, 1841–1919) आदि ने प्रकाश का विविध रूपों में उपयोग करके चित्रकला के क्षेत्र में अभिव्यंजनावाद की सृष्टि की। अभिव्यंजनावाद के नेताओं में सेज़ामे (Cezame, 1839–1906) का स्थान बहुत ऊँचा है। उसने प्रकृति और चिन्तन, वाह्य-जगत् और अन्तर्जगत् के बीच एक समन्वय का मार्ग चुना। गौगूँ (Ganguin, 1848-1903) और वान गौ (Van Gogh) ने गहरे रंगों में हृदय की अन्तरतम भावनाओं को अभिव्यक्त किया। जर्मनी और रूस के चित्रकारों ने भी चित्रकला के इस उद्भव में योग दिया और अमरीका ने कई प्रथम श्रेणी के चित्रकार उत्पन्न किए, जिनमें से व्हिस्लर (Whistler, 1834-1903) और राइडर (Ryder, 1847-1917) आदि ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की। मूर्त्तिकला में इंग्लैंड के स्टीवन्स (Stevens, 1818-1875), फ्रांस के रूड (Rude, 1784-1855) और दूबॉय (Dubois, 1829-1905) और रोदॉं (Rodin, 1840-1917), वेल्जिम के म्यूनियर (Meunier, 1831-1905), जर्मनी के रौश (Rauch, 1777-1857) और रीत्शेल

यथार्थवाद की प्रगति

(Reitschel, 1804-1861) और रूस के अन्तोकॉल्सकी (Antokolski, 1843-1902) और त्रूबेत्ज़काय (Troubetzkoy, 1866-1936) की गणना उन्नीसवीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ मूर्त्तिकारों में की जाती है। स्थापत्य-कला में सभी देशों मे गोथिक शैली (लंदन के पार्लियामेंट भवन जिसके सुंदर उदाहरण हैं) का प्रसार हुआ। इस क्षेत्र में अमरीका के कुछ नए प्रयोग किए गए, जिनमें से आकाश-चुम्बी इमारतों का प्रयोग प्रमुख है। संगीत के क्षेत्र मे, अठारहवीं शताब्दी में बेरक, हेंडेल और हेडून ने जिन परंपराओं की नींव डाली थी, उन्नीसवीं शताब्दी में उनका बहुत अधिक विकास किया गया। जर्मनी के बीथोवन (Beethoven, 1770-1827) को उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप का सर्वश्रेष्ठ संगीतज्ञ होने का गौरव प्राप्त है। मेंडेलसॉन (Mendelssohn, 1809–1847), शूमाँ (Schumann, 1810–1856), शूबर्ट (Schubert, 1797–1828) और ब्राह्म्स (Brahms, 1833–1897) आदि ने संगीत के इस ऊँचे स्तर का निर्वाह करने का प्रयत्न किया। संगीत की दृष्टि से जर्मनी सब देशों से आगे बढ़ा हुआ था, पर अन्य देशों में भी इस कला का यथेष्ट विकास हुआ। नए-नए वाद्य-यंत्रों का निर्माण भी हुआ। लोक-संगीत के द्वारा राष्ट्रवाद की भावनाओं के प्रसार मे सहायता मिली।

साहित्य में भी हमें इन्हीं प्रवृत्तियों का प्रभाव दिखाई देता है। पौराणिकता की प्रवृत्ति अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक चली। उसके बाद कल्पनात्मक प्रवृत्ति ने प्राधान्य लिया और १८३०
के आसपास यथार्थवाद अपने पूरे जोर पर आ गया यूरोप के प्रमुख
और अगले पचास वर्षों तक उसकी प्रधानता रही। साहित्यकार
साहित्य में इंग्लैंड ने बहुत अधिक प्रगति की। ड्राइडन
(Dryden, 1631–1700) और पोप (Pope, 1688–1744) तो पहली प्रवृत्ति के द्योतक थे, कालेरिज (Coleridge, 1772–1834) और वर्ड्स्वर्थ (Wordsworth, 1770-1850) ने उसके विरुद्ध विद्रोह किया और कल्पना को प्रमुखता दी। वर्ड्स्वर्थ ने मनुष्य और प्रकृति, जो उन्नीसवीं शताब्दी के जनतंत्रवाद के मुख्य आधार थे, दोनों को ही बहुत महत्त्व दिया। कवियों की अगली पीढ़ी में बाइरन (Byron, 1788–1824), शैली (Shelley, 1792–1822) और कीट्स (Keats, 1795–1821) प्रमुख हैं। बाइरन और शैली तो मानों केवल

साहित्य में ही नहीं जीवन में भी विद्रोह के प्रतीक थे। दोनों की कविता विद्रोह की कविता है। बाइरन ने अपने विद्रोह को कवित्वपूर्ण आख्यानों में और साहस से भरे नाटकों में अभिव्यक्त किया। शैली ने अपनी कविताओं में आनेवाले युग के स्वप्नों को एक साकार रूप दिया। कोट्स की रंगीन कल्पनाएँ वास्तविकता से दूर और उसके अपने व्यक्तित्व के चारों ओर ही उड़ान भरती थीं। कल्पना का यह रोमांस गद्य में स्कॉट (Scott, 1771–1832) ने अपने उपन्यासों में व्यक्त किया। उसके उपन्यासों का आधार मध्य-युग का स्कॉटलैंड था। उसके जीवन और इतिहास के सम्बन्ध में उसने ऐसे सजीव चित्र प्रस्तुत किए जिन्होंने इंग्लैंड को ही नहीं सारे यूरोप को मंत्र-मुग्ध कर लिया। जेन ऑस्टेन (Jane Austen, 1775–1817) ने नए धनिक वर्ग का खाका अपनी रचनाओं में खींचा। डिकेन्स (Dickens, 1812–1870) ने अंग्रेजी उपन्यास को एक नया रूप दिया। उसने चरित्र-चित्रण में, विशेष कर निम्नश्रेणी के लोगों के चरित्र-चित्रण में, विशेष सफलता प्राप्त की। जार्ज इलियट (George Eliot, 1819–1880), जो एक महिला उपन्यासकार थीं, जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं का विशद चित्र खींचने में बहुत सफल हुई हैं। थैकरे (Thackeray, 1811–1863) की शैली में हमें निरीक्षण की बारीकी और व्यंग्य की भावना दोनों एक साथ दिखाई देते है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के अंग्रेजी उपन्यासकारों में जार्ज मेरिडिथ (George Meredith, 1828–1909) और टामस हॉर्डी (Thomas Hardy, 1840–1928) प्रमुख थे, और कवियों में टेनीसन (Tennyson, 1809–1892) और ब्राउनिंग (Browning, 1812–1889)।

अन्य देशों में भी साहित्य ने बहुत अधिक प्रगति की। फ्रांस में ला मार्तीन (Lamartine, 1799-1869), ह्यूगो (Hugo, 1802–1855), द वीनी (De Vigny,1797–1863) और द मूसे (De Musset, 1810–1857) रोमांटिक युग के प्रमुख कवि थे। ह्यूगो तो 'कवियों का राजकुमार' ही कहलाता है। उसने राजनीतिक नेताओं पर भी व्यंगात्मक रचनाएँ लिखीं। उसने कुछ नाटक भी लिखे, पर गद्य-लेखक के नाते ही उसकी अधिक प्रसिद्धि है। ड्यूमा (Dumas, 1803–1870) और बाल्जक (Balzac,

1799-1850) भी इस युग के सफल लेखकों में से थे। ड्यूमा के उपन्यासों मे चरित्र-चित्रण बड़ा ही सजीव है। बाल्जक ने यथार्थवाद को प्रोत्साहन दिया। इटली में प्राती (Prati 1815-1884) और मैंजोनी (Manzoni, 1785-1873) ने रोमांसवाद को अभिव्यक्ति दी। जर्मनी में नए साहित्य की नींव लेसिंग (Lessing, 1729-1781) और विंकलमन (Winckelmann, 1717-1768) के द्वारा डाली गई, पर उसका सबसे प्रमुख और प्रभावशाली उन्नायक गेटे (Goethe, 1749-1832) था। गेटे कवि, उपन्यासकार, नाटककार और दर्शनशास्त्री था, यह युग जर्मनी के इतिहास में "तूफान और संघर्ष" का युग कहलाता है। गेटे की रचनाओं में हमें इस तूफान और संघर्ष की बड़ी सुंदर अभिव्यक्ति मिलती है। अनुभूति की गहराई, दृष्टि का पैनापन और भाषा पर स्वामित्व गेटे के साहित्य की विशेषता थी। 'फॉस्ट' उसकी सुंदरतम कृतियों में से है, और उसकी गिनती विश्व के सर्वश्रेष्ठ साहित्य में की जाती है। मनुष्य के आन्तरिक द्वन्द्वों का इतना सबल चित्रण संभवतः संसार का कोई अन्य लेखक नहीं कर सका। गेटे के साथ ही प्रायः शिलर (Schilter, 1759-1805) और हर्डर (Herder, 1744-1803) का नाम भी लिया जाता है। शिलर एक उच्च कोटि का कवि था। उसने कई नाटक भी लिखे। जर्मनी में, साहित्य के माध्यम से, राष्ट्रवाद का प्रचार करनेवालों में शिलर प्रमुख था। हर्डर ने इतिहास, साहित्य, कला और धर्म सभी क्षेत्रों में नए विचारों की सृष्टि की। अमरीका के कवियों में वाल्ट विटमैन (Walt Whitman, 1819-1892) और लेखकों में इमर्सन (Emerson, 1803-1882) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

आधुनिक साहित्य का संक्षिप्त से संक्षिप्त विवरण भी अधूरा ही माना जायगा यदि उसमें फ्रांस और रूस के उपन्यास लेखकों का उल्लेख न किया जाए। फ्रांस में बाल्जक ने जिस यथार्थवादी उपन्यास की नींव डाली थी फ्लौबेर (Flaubert, 1821-1880) और जोला (Emila Zola, 1840-1902) और मोपास्त (Maupassant, 1850-1893) ने उसे विकास की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। परंतु कला की दृष्टि से अनातोले फ्रांस (Anatole France, 1844-1924) को फ्रांस का सर्वश्रेष्ठ लेखक

उपन्यास का विकास

माना गया है। उसके ऐतिहासिक उपन्यासों का बड़ा आदर है। यथार्थवादी उपन्यासों का विकास यों तो यूरोप और अमरीका के सभी देशों में हुआ पर, फ्रांस के अतिरिक्त, रूस में उसने सबसे अधिक प्रगति की, रूस के साहित्य में तुर्गनेव (Turgenev, 1816-1883) डॉस्टायव्सकी (Dostoievski, 1821–1881), टॉल्सटॉय (Tolstoy, 1828–1910) और चेखव (Chekhov, 1860–1904) के नाम अमर हो गए हैं। तुर्गनेव ने अपनी रचनाओं में स्वेच्छाचारिता, और क्रान्ति के बीच होनेवाले संघर्ष का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। डॉस्टॉयव्सकी ने अपराध के मनोविज्ञान का विश्लेषण किया। टॉलसटॉय की गिनतीउ न्नीसवीं शताब्दी के सर्वश्रेष्ठ लेखकों में की जाती है। आधुनिक सभ्यता के दुर्गुणों की ओर उन्होंने अपने पाठकों का ध्यान खींचा और सादगी और मानवता की ओर बढ़ने की उन्हे प्रेरणा दी। चेखव ने सुन्दर नाटकों की सृष्टि की। मैक्सिम गोर्की (Maxim Gorky, 1868–1936) की रचनाओं ने रूस की जनता को क्रान्ति के लिए प्रेरित किया। नॉर्वे में, इब्सन (Ibsen, 1828–1906) ने नाट्य-रचना के आदर्शों को ही बदल दिया। उसने समस्या नाटक को जन्म दिया। व्यक्तिवाद पर उसका आग्रह था। इब्सन की प्रेरणा से अन्य देशों के नाटक-साहित्य की दिशा में भी परिवर्त्तन आया। इंग्लैंड में बर्नर्ड शॉ (Bernard Shaw) की रचनाओं पर उसका स्पष्ट प्रभाव है। इंग्लैंड के उपन्यासकारों में हार्डी (Hardy, 1840-1928) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

प्राकृतिक विज्ञानो में उन्नति

इस युग में वैज्ञानिक प्रगति का क्रम जारी रहा। कोपरनिकस ने यह सिद्ध करके कि हमारी पृथ्वी और दूसरे ग्रह और उपग्रह सूर्य के चारों ओर परिक्रमा करते है, विज्ञान को एक अद्भुत गति प्रदान कर दी थी। उसके बाद केप्लर, गेलीलियो और न्यूटन के आविष्कारों ने वैज्ञानिक जगत् में एक हलचल ला दी। न्यूटन और लीबनिज ने गणित शास्त्र को आगे बढ़ाया। इनसे अन्य विज्ञानों को प्रेरणा मिली और वनस्पति-शास्त्र, जीव-शास्त्र, भूगर्भशास्त्र आदि में काफी प्रगति हुई। परंतु अठारहवीं शताब्दी में सबसे अधिक प्रगति रसायनशास्त्र के क्षेत्र में हुई थी। इसमें लवॉजियर (Lavoisier, 1743–1794) का प्रमुख हाथ था। इससे यह जान पड़ता है कि अब वैज्ञानिक वस्तु की गति जान लेने से ही संतुष्ट नहीं थे, वे

उसकी प्रकृति का भी विश्लेषण कर डालना चाहते थे। विज्ञान के दो प्रकार थे—एक प्रयोगात्मक अथवा शुद्ध विज्ञान और दूसरा व्यवहारात्मक। उन्नीसवीं शताब्दी में दोनों ही प्रकार के विज्ञानों मे बहुत प्रगति हुई। प्रत्येक विज्ञान की अब बहुत सारी शाखाएँ निकलती जा रही थीं, और कुछ नए विज्ञान भी बन रहे थे। भूगर्भ विज्ञान ने बहुत प्रगति की। पर उन्नीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी वैज्ञानिक प्रगति संभवतः जीवविज्ञान के क्षेत्र में हुई। फ्रेंच वैज्ञानिक लेमार्क (Lamarck, 1744-1829) ने जीवविज्ञान मे विकासवाद के सिद्धान्त को जन्म दिया। जर्मन वैज्ञानिक थ्योडौर श्वान (Theodor Schwann, 1810-1882) के इस सिद्धान्त से कि सभी जीवित प्राणियों का उद्गम और विकास छोटे जीव-बिन्दुओं (Cells) के रूप में होता है उसे प्रेरणा मिली। पर इस क्षेत्र में सबसे क्रान्तिकारी खोज दो अंग्रेज वैज्ञानिकों वैलेस (Wallace, 1823-1913) और डार्विन (Darwin, 1809-1882) ने की थी, जिन्होंने यह बताया कि किस प्रकार विभिन्न प्रकारों के जीवों के विकास का कारण प्राकृतिक चुनाव का सिद्धान्त है। विकासवाद के सिद्धान्त ने विचारों में एक बड़ी क्रान्ति ला दी। उसने यह सिद्ध कर दिया कि अन्य प्राणियों के समान मनुष्य भी प्रकृति का केवल एक प्रयोग है। आस्ट्रिया के मेंडेल (Mendel, 1822-1884) और हालैंड के ड फ्रेज (De Vries, 1848-1935) ने इस सिद्धान्त मे और भी परिवर्तन किए।

बीसवीं शताब्दी में तो प्राकृतिक विज्ञानों की प्रगति और भी तेजी के साथ आगे बढ़ी। एस्ट्रोफिजिक्स बायोकैमिस्ट्री और फिजियोलॉजिकल कैमिस्ट्री आदि कई नए विज्ञान बन गए। रॉयन्टजन (Roentgen, 1845-1923) ने 'एक्स रे' का आविष्कार किया, और क्यूरी दम्पति ने रेडियम खोज निकाला, और रेडियो, एक्टिविटी के बहुत से प्रयोग किए। रेडियम और एक्स रे ने चिकित्सा शास्त्र, और विशेषकर शल्यशास्त्र, को बहुत आगे बढ़ा दिया है। अचेतनकारी और कीटाणुनाशक औषधियों के आविष्कार ने भी इस दिशा मे बड़ी सहायता पहुँचाई। बायोकेमिस्ट्री में से एन्डोकीनोलोजी का जन्म हुआ। उससे पहली बार इस बात का पता लगा कि हमारे शरीर में कुछ इस प्रकार की ग्रंथियाँ है जो एक प्रकार का रस उत्पन्न करती हैं, जिसका शरीर के विकास पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। ये ग्रंथियाँ 'एन्डोक्रीन

ग्लैण्ड्स' कहलाती हैं। शरीर के विकास हृदय की क्रिया और मानसिक स्थिति से उनका बड़ा गहरा सम्बन्ध है। विटामिनों के आविष्कार ने भोजन-सम्बन्धी हमारे विचारों को एक वैज्ञानिक रूप दिया। ऑर्गैनिक कैमिस्ट्री में भी बड़े क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हुए जिनमें थिथेटिक वस्तुओं का बनाया जाना सबसे प्रमुख था। बिनौलों का अभी तक कोई उपयोग नहीं था, पर अब इनसे फोटो की फिल्में, फेन्ट और साबुन आदि कई चीजें बनाई जाने लगीं। प्लास्टिक से अब तो छोटी-बड़ी अनेकों चीजें तैयार की जाती हैं।

प्राकृतिक विज्ञान और जीव-विज्ञान के समान ही सामाजिक विज्ञानों का विकास भी उन्नीसवीं शताब्दी की एक प्रमुख विशेषता है। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप यूरोप के देशों का राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन अत्यन्त जटिल होता जा रहा था, और उसे समझने और उसकी उलझनें मिटाने के लिए समाज-व्यवस्था का वैज्ञानिक दृष्टिकोण अध्ययन करना आवश्यक हो गया था। सामाजिक ज्ञान का व्यावहारिक, दृष्टि से उपयोग करने की प्रवृत्ति लगातार बढ़ती गई है। इतिहास को अब केवल राजनीतिक घटनाओं, युद्धों और अत्याचारों को एक संग्रह-मात्र नहीं माना जाता है। इतिहास के नए दृष्टिकोण ने हमें मनुष्य की सामाजिक, बौद्धिक और औद्योगिक प्रगति में रुचि लेने की प्रवृत्ति को जन्म दिया। इतिहास लिखने का काम यों तो सभ्यता के आरंभिक काल से चला आ रहा है, परंतु उसके संबंध में एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास आधुनिक युग में ही हुआ। वाल्टेयर की रचनाओं ने ऐतिहासिक अध्ययन पर बड़ा प्रभाव डाला। उसकी 'लुई चौदहवें का युग' नाम की पुस्तक उसके अपने शब्दों में 'एक व्यक्ति के कार्यों का उल्लेख नहीं, किन्तु मानवता की आत्मा का चित्र' था। उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय संस्कृतियों के अध्ययन पर जोर दिया जाने लगा और महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय घटनाओं के सम्बन्ध में आवश्यक सामग्री को सुरक्षित रखने का महत्त्व समझा जाने लगा। इस प्रवृत्ति का आरंभ फ्रांस में हुआ, पर जर्मनी के इतिहासकारों ने उसे समुन्नत बनाया। इतिहास के अध्ययन पर जर्मनी के विश्वविद्यालयों और विद्वानों ने बहुत

सामाजिक विज्ञानों का विकास

अधिक ध्यान दिया। रांके (Ranke, 1795-1886) को आधुनिक इतिहासकारों का अग्रदूत माना जाता है। मॉमसन (Mommsen, 1817-1903) ने रोमन इतिहास की गुत्थियों को सुलझाया। इंग्लैंड के प्रमुख इतिहासकारों में कार्लाइल (Carlyle, 1795-1881), मैकाले (Macaulay, 1800-1859) और बकूल (Buckle, 1821-1862) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। समाज-शास्त्र (Sociology) के नाम से जानेवाले सामाजिक विज्ञान की तो उत्पत्ति ही उन्नीसवीं शताब्दी में हुई। इसने समाज-व्यवस्था को समझने और उसकी उन्नति के उपायों की वैज्ञानिक खोज में बहुत बड़ी सहायता दी है। समाज-शास्त्र शब्द का प्रयोग पहली बार कॉम्टे (Comte, 1798-1857) ने १८३६ में किया, पर उसे एक सामाजिक विज्ञान का रूप देने का श्रेय स्पेन्सर (Spencer) को है। आज के समाज-शास्त्री समाज की प्रक्रियाओं और संस्थाओं के विश्लेषण पर अधिक ध्यान दे रहे हैं। गिडिंग्स (Giddings), रौस (Ross) और हॉब्हाउस (Hobhouse) समाज-शास्त्र के आज के प्रमुख विद्वानों में से हैं। अर्थ-शास्त्र के क्षेत्र में यद्यपि एडम स्मिथ, माल्थस और रिकार्डो आदि विद्वानों ने बहुत कुछ अध्ययन किया था, पर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक उसके नियमों का निर्धारण आनुमानिक तर्कों के आधार पर ही अधिक किया जाता था, उसे एक वैज्ञानिक रूप नहीं मिल पाया था। इस दृष्टि से मार्शल (Marshall), वैब दम्पति (Sidney and Beatrice Webb), और हॉब्सन (Hobson) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पुरातत्त्व-शास्त्र (Archaeology) और मानव-जाति-शास्त्र (Anthropology) का विकास भी इसी शताब्दी में हुआ। प्राचीन में रुचि ने पुरातत्त्व-शास्त्र के अध्ययन की प्रेरणा दी। प्राचीन खण्डहरों और अवशेषों के आधार पर प्रागैतिहासिक काल के सांस्कृतिक इतिहास की काफी सामग्री जुटाई जा सकी है। जीव-विज्ञान और सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से किए गए मनुष्य के अध्ययन ने हमें उसके उद्‌गम से संबंध रखनेवाली प्राचीन ठठरियों और अन्य वस्तुओं की खोज और संग्रह के लिए प्रेरित किया। पुरातत्त्व-शास्त्र और मानव-जाति-शास्त्र ने मिलकर प्राचीन सभ्यताओं के विकास का एक बड़ा स्पष्ट चित्र हमारे सामने रख दिया है।

अभ्यास के प्रश्न

१—उन्नीसवीं शताब्दी मे सांस्कृतिक विकास की मुख्य प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिए।

२—यूरोप के प्रमुख आधुनिक साहित्यकारों का परिचय दीजिए।

३—यदि आपने फ्रांस अथवा रूस के लेखकों के लिखे हुए कुछ उपन्यास पढ़े हों तो उनके संबंध में अपनी सम्मति दीजिए।

४—अर्वाचीन काल में प्राकृतिक विज्ञानों की प्रगति के संबंध में संक्षेप में लिखिए।

५—सामाजिक विज्ञानों के विकास का संक्षिप्त इतिहास दीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Barnes ; An Intellectual and Cultural History of the Western World.
2. Cheney, S. ; A World History of Art.
3. Dietz, D. ; The Story of Science.
4. Murray, R. H. ; Science and Scientists in the Nineteenth Century.

भाग ३

एशिया का सर्वतोमुखी विकास

[१—भारतवर्ष]

अध्याय १९

भारत में धार्मिक तथा सामाजिक जागृति

भारत धर्मप्राण देश रहा है, परन्तु सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी में भारत के सर्वांगीण पतन के साथ साथ धार्मिक दृष्टि से भी उसका पतन हुआ। हिन्दू धर्म का दर्शन और ज्ञान मनुष्यों की दृष्टि से ओझल हो गया और अधिकांश जन समुदाय कर्मकांड और प्रचलित रूढ़ियों को ही धर्म मानने लगा। प्राचीन रूढ़ियों पर अंध श्रद्धा का देश में प्रावल्य हो गया और धार्मिक कट्टरता बढ़ गई। इसका परिणाम यह हुआ कि देश में अनेक छोटे-छोटे सम्प्रदाय उत्पन्न हो गए। धर्म के नाम पर जीवहिंसा, अछूत कहे जानेवाले जनसमुदाय को मानवीय अधिकारों से वंचित किया गया और समस्त देश में कर्मकांड और रूढ़ि को ही धर्म के स्थान पर स्थापित कर दिया गया।

जिस समय सारा देश धार्मिक अंधकार में घुट घुटकर साँस ले रहा था, उस समय राजा राममोहन राय ने उस अंधकार को मिटाने का प्रयत्न किया। राजा राममोहन ने प्रचलित रूढ़ियों, कर्मकांड और सम्प्रदायवाद के विरुद्ध अपनी आवाज उठाई और देशवासियों का ध्यान वेद, उपनिषद् और शास्त्रों की ओर आकर्षित किया। उनका कहना था कि

ब्रह्म-समाज की स्थापना

हमारे मूल शास्त्रों के अनुसार एकमात्र ईश्वर ही उपासना और पूजा के योग्य है। उन्होंने वेदान्त सूत्रों तथा उपनिषदों को हिन्दी, बँगला और अंग्रेजी में टीका सहित छपवाया। जिससे संस्कृत न जाननेवाले शिक्षित व्यक्ति भी अपने शास्त्रों के सिद्धान्तों को जान सकें।

सन् १८२८ में उन्होंने ब्रह्म-समाज की स्थापना की। ब्रह्म-समाज के मुख्य सिद्धान्त नीचे लिखे हैं :—अखिल ब्रह्मांड का स्वामी, निराकार, अनादि और अनन्त परमेश्वर ही एकमात्र पूजा के योग्य है, किसी

साम्प्रदायिक नाम से उसकी पूजा नहीं की जानी चाहिए, मनुष्यमात्र को फिर वह चाहे किसी भी धर्म, जाति, सम्प्रदाय, वर्ग या पद का क्यों न हो, परमेश्वर की उपासना करने का समान अधिकार है। उपासना में किसी प्रकार के चित्र, प्रतिमा या ऐसी वस्तु का उपयोग न किया जावेगा जिसको किसी समय ईश्वर के स्थान पर माने जाने की शंका हो। पूजा में कोई खाने-पीने की चीजें नहीं चढ़ाई जावेंगी और कोई बलिदान न किया जावेगा। किसी प्रकार की जीव-हिंसा न की जावेगी। किसी जीव या पदार्थ की जिसे कोई मनुष्य या सम्प्रदाय पूज्य मानता है, निन्दा न की जावेगी। मंदिर में केवल उसी प्रकार की कथा, प्रार्थना और सङ्गीत होगा जिससे ईश्वर का ध्यान करने की ओर रुचि बढ़े और जिससे प्रेम, दया, भक्ति और साधुता का प्रचार हो।

राजा राममोहन राय भारत में वर्तमान जागृति के प्रवर्त्तक या जनक माने जाते हैं। यों तो ब्रह्म-समाज हिन्दू-धर्म से मिलता-जुलता है किन्तु सार्वभौम उपासना का भाव ही राममोहन राय की विशेषता है। ब्रह्म-समाज यद्यपि हिन्दू-धर्म पर आधारित था किन्तु उसमें विदेशी प्रभाव भी बहुत कुछ दिखलाई पड़ता है। जब कि एक ओर पश्चिमीय सभ्यता का सुंदर रूप सामने हो और दूसरी ओर स्वदेश में अज्ञान, अन्धकार, कुरीति, रूढ़िवादिता ईर्षा, द्वेष और अत्याचार का प्राबल्य हो, तो प्रथम सुधारक संस्था में विदेशी प्रभाव आ जाना स्वाभाविक था। फिर राजा राममोहन स्वयं पश्चिमीय सभ्यता के प्रशंसक थे। यही कारण था कि ब्रह्म-समाज का देश में अधिक प्रचार नहीं हुआ और वह शिक्षित समुदाय और विशेषकर बंगाल में ही सीमित रही। किन्तु राजा राममोहन राय और ब्रह्मसमाज, तथा पीछे देवेन्द्रनाथ और केशवचन्द्र सेन द्वारा स्थापित नवीन ब्रह्मसमाज और आदि ब्रह्मसमाज और बम्बई प्रान्त में प्रार्थना-समाज ने अपनी शक्ति के अनुसार अपने सीमित क्षेत्र में जागृति उत्पन्न की।

उस समय देश में एक ऐसी संस्था की बड़ी आवश्यकता थी जो देश में प्रचलित अंधविश्वास, अज्ञान, रूढ़िवादिता, साम्प्रदायिकता का विरोध करती, किन्तु भारतीयों में जो हीनता की भावना उत्पन्न हो गई थी उसको समाप्त करके उनमें स्वाभिमान उत्पन्न करती और अपने धर्म, सभ्यता और संस्कृति के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करती। देश के सौभाग्य से इसी समय

स्वामी दयानन्द (१८२४-८३) का आविर्भाव हुआ और उन्होंने आर्य-समाज की स्थापना की। स्वामी दयानन्द ने आजीवन ब्रह्मचारी रहकर वेदों का अध्ययन किया। उनकी मान्यता थी कि वेद
ही सम्पूर्ण ज्ञान का मूल स्रोत है। वेदों पर आधारित स्वामी दयानन्द
अत्यन्त प्राचीन भारतीय शिक्षा और सभ्यता संसार में और आर्यसमाज
सर्वश्रेष्ठ है और वैदिक धर्म तथा प्राचीन भारतीय
संस्कृत और सभ्यता को स्वीकार करके ही मानव-मात्र सुखी हो सकता है। किन्तु जहाँ उन्होंने वैदिक धर्म और प्राचीन आर्य सभ्यता के पुनर्स्थापना का प्रयत्न किया, वहाँ उन्होंने हिन्दुओं में प्रचलित सम्प्रदायों, मत-मतान्तरों, मूर्त्ति-पूजा, श्राद्ध, जाति-पाँति, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, वर-विक्रय, देवी-देवताओं के पूजन, तथा अन्य सामाजिक कुरीतियों का कठोरतापूर्वक विरोध किया। उन्होंने नारी-शिक्षा और विधवा-विवाह का समर्थन किया। जो हिन्दू या मुसलमान अथवा ईसाई हो गए हैं उनको पुनः शुद्ध कर हिन्दू बनाने का क्रान्तिकारी कार्यक्रम चलाया। उन्होंने संस्कृत के महत्त्व को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया और स्वयं गुजराती भाषी होने पर भी हिन्दी का समर्थन किया। स्वामी दयानन्द ने ब्रह्मचर्य पर बहुत बल दिया और शिक्षा की गुरुकुल प्रणाली को देश में पुनः प्रचलित किया। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि स्वामी दयानन्द ने हिन्दुओं में जो हीनता की भावना उत्पन्न हो गई थी, उसको नष्ट कर दिया। वे भी यह समझने लगे कि हमारा धर्म, सभ्यता, संस्कृति और दर्शन बहुत ऊँचा है और वे संसार की महान् सभ्य जातियों में से एक हैं। स्वामी दयानन्द ने देश भर में भ्रमण करके भारत में धार्मिक और सामाजिक जागृति उत्पन्न करके अद्भुत कार्य किया। स्वामी दयानन्द के पूर्व भारत अपने को भूल चुका था, उनके इस शंखनाद से समस्त देश जाग उठा। वास्तव में भारत में जागृति उत्पन्न करने का बहुत कुछ श्रेय स्वामी दयानन्द को है।

स्वामी दयानन्द ने अपने विचारों का प्रचार करने के लिए और समाज-सुधार का कार्य करने के लिए आर्यसमाज की स्थापना की। आर्य-समाज ने गुरुकुलों और आधुनिक पद्धति की शिक्षा देने के लिए डी० ए० वी० स्कूल और कालेज स्थापित किए, बालविवाह-निषेध, विधवा-विवाह, शुद्धि, अछूतोद्धार, वेदप्रचार का प्रशंसनीय कार्य किया। आर्यसमाज

के प्रचार का फल यह हुआ कि अधिकांश हिन्दू फिर चाहे वे आर्य-समाजी न भी हों विचारों में सुधारवादी हो गए। आर्यसमाज एक सतेज और कार्यशील संस्था के रूप में देश में कार्य करती है।

इसी समय जब स्वामी दयानन्द देश में वैदिक धर्म की सर्वश्रेष्ठता को स्थापित करने का प्रयत्न कर रहे थे थियोसोफी के जन्मदाता कर्नल आल्काट भारत में आये और यहाँ थियोसोफिकल सोसायटी की स्थापना हुई (१८७६ ई०)। विश्वव्यापी भ्रातृभाव का उपदेश सुनाते हुए इस सोसायटी ने हिन्दुओं को बतलाया कि तुम्हारे पूर्वजों का धर्म वास्तव में बहुत ऊँचा है, तुम उसका महान् गौरव पहचानो, उसमें जो बुराइयाँ घुस गई हैं, उन्हें दूर कर दो, स्वधर्म पर दृढ़ रहो। ईसाई पादरियों के बहकावे में न आओ और अपने धर्म को कभी न छोड़ो। थियोसोफिकल सोसाइटी ने हिन्दू-धर्म की बहुत सी गूढ़ और रहस्य की बातों का वैज्ञानिक ढंग से प्रदिपादन भी किया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दू धर्म की बहुत सी रहस्यमयी गूढ़ बातों को जो अभी तक अंधविश्वास के कारण मानी जाती थीं और जिनका असली उद्देश्य भुला दिया गया था, वैज्ञानिक आधार प्राप्त हो गया। थियोसोफीकल सोसाइटी हिन्दुओं के अनुसार कर्मफल और पुनर्जन्म के सिद्धान्त में विश्वास करती है और उन्हें नये ढंग से युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध करती है।

थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना

भारतवर्ष में सोसाइटी की स्थापना अघ्यार (मदरास) में हुई। कुछ समय बाद श्रीमती एनीबीसेन्ट के इसमे सम्मिलित हो जाने पर उनके महान् व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इसमें बहुत से विद्वान् और नेता सम्मिलित हो गए तथा शिक्षित भारतीयों में इसका प्रभाव स्थापित हो गया। इस सोसायटी ने सेन्ट्रल हिन्दू कालेज की स्थापना की, जो बाद में हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत चला गया। इसके अतिरिक्त सोसायटी ने बहुत से स्थानों पर स्कूल तथा छात्रावास स्थापित किए। शिक्षा प्रचार के अतिरिक्त सोसायटी ने समाज-सुधार का भी कार्य किया। भारत के शिक्षित हिन्दुओं में इसका खूब स्वागत हुआ। डाक्टर एनीबीसेंट तथा जार्ज अरंडेल जैसे उत्कट कोटि के विद्वानों के व्याख्यानों, लेखों तथा पुस्तकों का उन पर बहुत प्रभाव पड़ा।

स्वामी विवेकानन्द और रामकृष्ण मिशन

विदेशों में और विशेषकर अमेरिका में हिन्दू-धर्म के प्रभाव को स्थापित करने का बहुत कुछ श्रेय परमहंस रामकृष्ण के शिष्य स्वामी विवेकानन्द (१८३३-१६०२) को है। स्वामी विवेकानन्द तथा उनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन ने जनता का वेदान्त सम्बंधी भ्रम दूर करके उसे समयोपयोगी शिक्षा दी। स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका में होने-वाले सर्व-धर्म-सम्मेलन में भाग लिया। उनके भाषणों को सुनकर अमेरिकावासी स्तब्ध रह गए। उन्हें तब ज्ञात हुआ कि हिन्दू-धर्म और दर्शन कितना ऊँचा है। इसका परिणाम यह हुआ कि अमेरिका में बहुत से योग्य स्त्री-पुरुष स्वामीजी के शिष्य हो गए और वहाँ वे लोग रामकृष्ण मठ बनाकर वेदान्त का प्रचार करने लगे।

स्वामी विवेकानन्द ने वेदान्त का प्रचार करने के अतिरिक्त भारत-वासियों को आत्मविश्वास का पाठ पढ़ाया और उनमें नवजीवन का संचार किया। उन्होंने दृढ़तापूर्वक और विश्वासपूर्वक यह घोषणा की "लम्बी से लम्बी रात्रि भी अब समाप्त होती जान पड़ती है। हमारी यह मातृभूमि अपनी गहरी नींद से जाग रही है, कोई अब उसे उन्नति करने से रोक नहीं सकता, संसार की कोई शक्ति अब उसे पीछे नहीं ढकेल सकती; क्योंकि वह अनन्त शक्तिशाली देवी अपने पैरों पर खड़ी हो रही है।"

इसी समय एक अन्य महान् वेदान्ती का जन्म हुआ। स्वामी रामतीर्थ ने वेदान्त और राष्ट्रधर्म तथा देशपूजा का खूब प्रचार किया। उनके प्रभावशाली भाषणों और लेखों से भारतीयों में वेदान्त की ओर रुचि बढ़ी और देशपूजा की भावना तीव्र हो उठी।

स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ ने यह सिद्ध कर दिया कि संसार में हिन्दू सभ्यता का बहुत ऊँचा स्थान है और हिन्दुओं का वेदान्त धर्म और तत्वज्ञान केवल हिन्दुओं के लिए ही नहीं, मनुष्य-मात्र के कल्याण के लिए है।

आज भी रामकृष्ण मठ की ओर से भारत तथा विदेशों में सेवा-आश्रम स्थापित हैं, जो वेदान्त का प्रचार करने के अतिरिक्त रोगियों की सेवा करते हैं।

ऊपर लिखी धार्मिक संस्थाओं के सदस्यों की संख्या भारत की जन-संख्या को देखते हुए अधिक नहीं है, परन्तु इन धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव भारत के जनमानस पर बहुत अधिक पड़ा है और जो लोग कि पुराने विचारों के हैं उनमें विचार क्रान्ति हुई हैं। यों अधिकांश हिन्दू आज भी सनातन धर्मी हैं। परन्तु वे भी इन धार्मिक आन्दोलनों के प्रभाव से अछूते नहीं हैं।

धार्मिक आन्दोलनों का प्रभाव

भक्ति सम्प्रदाय भारतवर्ष की प्राचीन सम्पत्ति है। इस समय भी देश में इनका ही प्राधान्य है। करोड़ों की संख्या में इन सम्प्रदायों के अनुयायी देश में मौजूद हैं और आधुनिक अशान्ति के समय इसकी वृद्धि हो रही है। मुख्यत: तीन सम्प्रदाय देश में स्थापित हैं: वैष्णव, शैव, शाक्त। इनके अनेक महात्माओं ने समय-समय पर लोगों के सामने धर्म का विशाल दृष्टि-कोण रक्खा है और जनता की अच्छी सेवा की है। परन्तु इनमें धार्मिक संकीर्णता पाई जाती है।

भक्ति सम्प्रदाय

भारत के जागृतिकाल में मुसलमानों में कोई धार्मिक सुधार का आन्दोलन नहीं हुआ, हाँ सर सैयद अहमद के नेतृत्व में मुसलमानों ने अंग्रेजी शिक्षा, अंग्रेजी पहनावे और आधुनिक जीवन को अपनाने का प्रयत्न किया। अलीगढ़ मुस्लिम विश्व-विद्यालय इसका केन्द्र बन गया। अंग्रेजों ने मुसलमानों को हिन्दुओं के विरुद्ध खड़ा करने का प्रयत्न किया और अन्ततः वे इसमें सफल हो गए और भारत का विभाजन हो गया। धार्मिक कट्टरता आज भी मुसलमानों में विद्यमान है। पाकिस्तान में पंजाब के अन्तर्गत कादियानियों पर जो अत्याचार हुए वे इस बात के प्रमाण हैं और वहाँ जो शरियत का कानून स्थापित करने का प्रयत्न हो रहा है, वह इस ओर संकेत करता है। परन्तु आधुनिक शिक्षा प्राप्त मुसलमानों में धार्मिक सहिष्णुता बढ़ रही है।

मुसलमान

ईसाई मिशन इस देश में बहुत समय से स्थापित हैं और वे ईसाई धर्म का प्रचार करते हैं। उनका मुख्य कार्य शिक्षा-संस्थाएँ स्थापित

ईसाई धर्म

करना और औषधालय स्थापित करके जनता की सेवा करना है, तथा इस सम्पर्क का उपयोग वे अन्य धर्मावलम्बियों को ईसाई बनाने में करते हैं। कहीं-कहीं पिछड़ी आदिवासी जातियों में ईसाई पादरी अराष्ट्रीय भावनाएँ उत्पन्न करने का प्रयत्न भी करते हैं। फिर भी उनके द्वारा स्थापित शिक्षण संस्थाएँ तथा चिकित्सालय जनता की अच्छी सेवा करते हैं।

बौद्ध-धर्म

एक समय था कि जब भारत में बौद्ध-धर्म की प्रधानता थी। कालान्तर में भारत में बौद्ध-धर्म क्षीण हो गया। वर्तमान समय में भारत में बौद्ध-धर्म के अनुयायियों की संख्या अधिक नहीं है। परन्तु पिछले दिनों में महाबोधि सोसाइटी की स्थापना के फलस्वरूप देश का ध्यान फिर उस ओर आकर्षित हुआ है। सारनाथ में बौद्ध-धर्म के प्रचारकों का इस देश में केन्द्र स्थापित है जहाँ से बौद्ध-धर्म का बौद्ध-विद्वान् तथा भिक्षु प्रचार करने का प्रयत्न कर रहे हैं। यहाँ से बौद्ध-धर्म के साहित्य का प्रकाशन भी होता है तथा यहाँ बौद्ध-धर्म के अध्ययन का केन्द्र भी स्थापित है।

महात्मा गांधी का धार्मिक प्रभाव

यद्यपि महात्मा गांधी ने किसी धर्म विशेष का प्रतिपादन नहीं किया किन्तु उन्होंने मनुष्य के दैनिक जीवन में ईश्वर प्रार्थना, सत्य और अहिंसा को स्वीकार करने पर विशेष बल दिया। यही नहीं, उन्होंने इस देश में धार्मिक सहिष्णुता को उत्पन्न करने का जितना महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उतना किसी व्यक्ति ने नहीं किया। हिन्दुओं में से अस्पृश्यता के कलंक को दूर करने का उन्होंने भगीरथ प्रयत्न किया।

हिन्दू समाज में सुधार कार्य

प्राचीन स्मृतिकारों ने युग धर्म अर्थात् समाज के लिए देश काल के अनुसार कर्तव्य पालन की एक सुन्दर प्रणाली निर्धारित की थी। जब तक देश उसके अनुसार आचरण करता रहा, भारतवर्ष सुखी और समृद्धशाली बना रहा। पिछली शताब्दियों में हमने युग धर्म की अवहेलना की और उसका परिणाम यह हुआ कि हमारा पतन होना आरम्भ हो गया। हम रूढ़िवादी बन गए। इस कारण समाज में घुन लग गया और वह निस्तेज हो गया। हिन्दू समाज में क्रमशः कन्या-वध, बाल-विवाह, सती-प्रथा

अस्पृश्यता, जाति-पाँति जैसी भयंकर रूढ़ियाँ स्थापित हो गईं। विधवाओं की संख्या बढ़ती गई और उनकी स्थिति दयनीय हो गई। अंधविश्वास और रूढ़िवादिता समाज पर छा गई। अनेक व्यक्ति दुराचारी, कपटी, मुफ्तखोर और नशेबाज होते हुए भी केवल ब्राह्मण होने के कारण अथवा साधु होने के कारण समाज में प्रतिष्ठा पाने लगे। नीची जाति का शुद्ध, संयमी, परोपकारी तथा अच्छे आचरण करनेवाला व्यक्ति भी समाज में नीचा गिना जाने लगा। सामाजिक जीवन में सच्चाई और ईमानदारी का बहिष्कार और आडम्बर का स्वागत होने लगा। भले आदमियों का निर्वाह होना कठिन हो गया। सामाजिक अत्याचार चरम सीमा पर पहुँच गया।

जागृति काल में समाज सुधारकों का ध्यान इन कुप्रथाओं की ओर गया और उन्होंने इनके विरुद्ध देश में वातावरण तैयार करना आरम्भ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि पिछले सौ वर्षों में हिन्दू समाज में बहुत सुधार हुए। अब हम उनका संक्षेप में वर्णन करेंगे।

अज्ञान के कारण कुछ जातियों में माता-पिता कन्या को जन्म के समय मार देते थे। कारण यह था कि उन जातियों में कन्या के विवाह में दहेज बहुत देना पड़ता था और लड़कीवाला वर पक्ष से नीचा समझा जाता था। क्रमशः समाज-सुधारकों ने इस घृणित प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाई और लार्ड विलियम बेंटिक (१८२८-३५) के शासन-काल में इसको रोकने के लिए एक कानून बनाया गया।

कन्या-वध, सती-प्रथा और विधवा-विवाह

इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक भारत में विधवा के अपने मृत पति के साथ चिता पर जलकर मर जाने की प्रथा प्रचलित थी। राजा राममोहन राय ने इस प्रथा के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया और उनके आन्दोलन से प्रभावित होकर १८२९ में गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिक ने इस कुप्रथा को कानून द्वारा बंद कर दिया।

यह तो पहले ही लिखा जा चुका है हिन्दू समाज में विधवा की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो उठी थी। विधवाओं की दुर्दशा को देखकर पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर का हृदय द्रवित हो उठा। उन्होंने इस बात का आन्दोलन किया कि विधवाओं को पुनर्विवाह करने का अधिकार मिलना

चाहिए। अन्त में उनके प्रयत्न सफल हुए और १८५६ में विधवा को कानून से पुनर्विवाह करने का अधिकार मिल गया। इसके उपरान्त स्वामी दयानन्द ने विधवा-विवाह का समर्थन करके देशवासियों के मन से इसके प्रति घृणा का भाव दूर कर दिया। यद्यपि आज भी विधवा-विवाह अधिक नहीं होते हैं; परन्तु यदि कोई विधवा-विवाह कर लेता है तो उसको घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता और न उसका बहिष्कार किया जाता है।

अंधविश्वास तथा अज्ञान के कारण हिन्दुओं में अत्यन्त छोटी उमर में विवाह कर दिया जाता था। ईश्वरचंद्र विद्यासागर तथा अन्य सुधारकों ने इसके विरुद्ध भी आन्दोलन किया। वे चाहते थे कि
इसके विरुद्ध भी कानून बना दिया जावे परन्तु सरकार बाल-विवाह
तैयार नहीं हुई। बाल-विवाह को बन्द करने की ओर
पहले ब्रह्मसमाज ने आन्दोलन किया बाद को आर्यसमाज ने बाल-विवाह के विरुद्ध आन्दोलन किया। आर्यसमाज ने ब्रह्मचर्य पर बल दिया और इस बात का प्रचार किया कि लड़के-लड़कियों का विवाह क्रमशः २५ और १६ वर्ष की आयु में होना चाहिए। १ अप्रैल १९३० को हरविलास शारदा के प्रयत्न से एक कानून बना जिसके अनुसार १४ वर्ष की आयु से कम की लड़की और १८ वर्ष की आयु से कम के लड़के का विवाह नहीं किया जा सकता। परन्तु इस कानून से कोई लाभ नहीं हुआ। अशिक्षित लोगों में अब भी बाल-विवाह होते हैं। हाँ, शिक्षित घरों में बाल-विवाह की प्रथा समाप्त हो गई है। जैसे-जैसे शिक्षा का प्रचार होता जावेगा, बाल-विवाह की प्रथा समाप्त हो जावेगी।

हिन्दू-समाज में कन्या-विक्रय और वर-विक्रय भी आरम्भ हो गया था। इसके भयंकर दोष सामने आने लगे। समाज सुधारकों ने और विशेषकर ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज तथा बाद को महिला संस्थाओं ने इसके विरुद्ध आन्दोलन किया। दहेज लेने के विरुद्ध किसी-किसी राज्य में दहेज को बन्द करने के कानून बने; परन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में कोई अखिल भारतीय कानून नहीं बना है।

अब शिक्षित हिन्दू परिवारों में क्रमशः वर-वधू एक दूसरे के चुनाव में अपनी सम्मति भी प्रकट करने लगे हैं। विवाह आज भी अधिकतर

अपनी जाति में ही होता है; परन्तु यदि कोई युवक अन्य जाति में विवाह कर लेता है तो उसको अधिक बुरा नहीं माना जाता। अब अन्तर्जातीय विवाहों की संख्या बढ़ती जा रही है। फरवरी १६४६ में अन्तर्जातीय विवाह को वैधानिक ठहरानेवाला कानून बन गया है।

अन्तर्जातीय विवाह

भारत में हिन्दुओं की ऊँची मानी जानेवाली जातियों तथा मुसलमानों में पर्दा प्रथा बहुत प्रचलित थी। ब्रह्मसमाज तथा आर्यसमाज के प्रचार के कारण, समाज-सुधार आन्दोलन, महिला-संस्थाओं के प्रयत्न के कारण तथा राष्ट्रीय जागृति और शिक्षा प्रचार के कारण पर्दा-प्रथा हिन्दुओं में क्रमशः कम हो गई है; परन्तु मुसलमानों में अभी तक उसका प्रचार है।

महिलाओं की जागृति

महिलाओं को पहले शिक्षा देना आवश्यक नहीं समझा जाता था परन्तु अब लड़कियों की शिक्षा का प्रचार तेजी से हो रहा है और माता-पिता लड़कियों की शिक्षा को भी आवश्यक मानने लगे हैं।

भारत में महिलाओं को सभी राजनैतिक अधिकार प्राप्त हैं। वे पुरुषों के समान ही मत देती हैं, वे चुनाव में खड़ी होती हैं, कई महिलाएँ तो मंत्रिमंडलों की सदस्या हैं। भारतीय संविधान में महिलाओं को वे सभी अधिकार प्राप्त हैं, जो पुरुषों को मिले हुए है। पिछले दिनों देश में अभूतपूर्व महिला जागृति उत्पन्न हुई है।

पिछली शताब्दियों में हिन्दुओं में जाति-पाँति का भेद इतना अधिक बढ़ गया था कि एक जाति का व्यक्ति दूसरी जाति से खान-पान तथा विवाह का सम्बन्ध नहीं रख सकता था। ब्रह्मसमाज ने सबसे पहले अपने उपासना मंदिर का दरवाजा सबके लिए खोल दिया और जातिवाद का विरोध किया। इसके उपरान्त आर्यसमाज ने इस जातिवाद को शिथिल करने का बहुत प्रशंसनीय कार्य किया। जात-पाँत-तोड़क-मंडल तथा अन्य संस्थाओं ने भी इस ओर अच्छा कार्य किया। राष्ट्रीय जागृति और शिक्षा के विस्तार के साथ खान-पान के बंधन टूटते जा रहे हैं। फिर भी जाति का प्रभाव समाप्त नहीं हुआ। लोग समस्त राष्ट्र के हित की दृष्टि से विचार

जाति-पाँति का भेद

न करके अपनी-अपनी जाति के हित की दृष्टि से विचार करते हैं। चुनावों में जातिवाद का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

जागृति काल में हिन्दू-समाजसुधारकों का ध्यान अपने कई करोड़ दलित भाइयों की शोचनीय दशा की ओर भी गया। राजा राममोहन राय ने अस्पृश्यता का विरोध किया और फिर स्वामी दयानन्द ने अस्पृश्यता के विरुद्ध युद्ध किया। आर्य- समाज के प्रचार का परिणाम यह हुआ कि जनता का ध्यान इस कलंक की ओर गया। राष्ट्रीय आन्दोलन ने देश का ध्यान इस समस्या की ओर बड़ी तेजी से आकर्षित किया।

अस्पृश्यता-निवारण

परन्तु अस्पृश्यता का देश से निवारण करने का महान् कार्य राष्ट्रपिता महात्मा गाधी ने किया। उन्होंने ही अस्पृश्य कहलानेवाले को 'हरिजन' नाम दिया। महात्मा गांधी ने हरिजनों के उत्थान कार्य को कांग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में स्थान दिया। तब से अस्पृश्यता निवारण में कुछ अधिक प्रगति हुई। हरिजनों को बहुत सी जगहों में कुओं से पानी भरने और मंदिरों में दर्शन करने का अधिकार मिलने लगा। महात्मा गांधी ने हरिजनों के उत्थान के लिए समस्त देश की यात्रा की और समस्त देश में हरिजनों के प्रति सद्भावना को उत्पन्न किया। स्वतंत्र हो जाने के उपरान्त अस्पृश्यता को वैधानिक दृष्टि से समाप्त कर दिया गया है, परन्तु अभी तक भी कट्टर हिन्दुओं में हरिजनों के प्रति उदार दृष्टिकोण नहीं है। परन्तु धीरे-धीरे परिस्थिति में सुधार हो रहा है। क्रमशः देश से यह कलंक दूर हो जावेगा। भारत-सरकार ने इनके लिए विशेष सुविधाएँ प्रदान की है और उन्हे शिक्षा, नौकरी इत्यादि में संरक्षण दिया जाता है।

भारत में ढाई करोड़ से अधिक ऐसे आदमी हैं जो अभी तक सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में है। इनके अनेक भेद हैं। गोंड़, कोल, भील, मीना इत्यादि इनमे मुख्य है। कुछ समय से समाज का ध्यान इन उपेक्षित जातियों की ओर भी गया है और बहुत-सी संस्थायें इनमें कार्य कर रही हैं। हरिजनों की भाँति ही सरकार ने इनको भी शिक्षा, इत्यादि के लिए सहायता देने तथा उनकी आर्थिक और सामाजिक दशा में सुधार करने का निश्चय

आदिवासी

किया है। आशा है कि भविष्य में अन्य जातियों की भाँति ही सभ्य और सुसंस्कृत बन जावेंगे।

अभ्यास के प्रश्न

१—अठारहवीं शताब्दी में भारत में धार्मिक तथा सामाजिक स्थिति कैसी थी, उसकी विवेचना कीजिए।

२—ब्रह्म-समाज और आर्यसमाज का भारत के धार्मिक और सामाजिक जागरण में क्या स्थान है, समझाकर लिखिए।

३—भारत की सामाजिक स्थिति में सुधार करने के लिए कौन-कौन से कानून बनाए गए, उनका उल्लेख कीजिए।

४—महात्मा गांधी ने भारत के सामाजिक जीवन को उन्नत बनाने के लिए क्या प्रयत्न किया, उसका विवरण दीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. भारतीय जाग्रति—श्री भगवानदास केला
2. History of Nationalism in the East by Hans Kohn.
3. महात्मा गांधी के हरिजन तथा अस्पृश्यता-सम्बन्धी लेख।

अध्याय २०

भारत का आर्थिक विकास

अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवासी अपने विभिन्न प्रकार के कला-कौशल तथा सुन्दर वस्तुओं का निर्माण करने के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। इतिहास हमें बतलाता है ईसा से ३०० वर्ष पूर्व भारत का माल बैबीलोनिया में जाता था। मिस्र देश की हजारों वर्ष पुरानी ममी (शव) भारत की बढ़िया मलमल में लिपटी हुई पाई गई हैं। भारतीय
सूती वस्त्र का उद्योग संसार-प्रसिद्ध था। इसी प्रकार प्राचीन समय मे
भारत में लोहे और इस्पात का उद्योग भी अत्यन्त भारत एक महान्
उन्नत अवस्था में था। दिल्ली के पास जो दो हजार वर्ष औद्योगिक राष्ट्र था
पुराना लोह-स्तम्भ है वह इस बात का प्रमाण है कि
भारत की कारीगरी कितनी विकसित हो चुकी थी। भारत विदेशों को इस्पात भी भेजता था। भारत बढ़िया ऊनी, सूती और रेशमी वस्तु, जवाहरात का काम, इत्र, लोहे इत्यादि के सामान के लिए संसार भर मे प्रसिद्ध था। वास्तव में यह भारतीय उद्योगों का ही प्रताप था कि उस समय भारत में व्यापार करना बहुत लाभप्रद माना जाता था और योरोपीय देशों में भारतीय माल की बड़ी माँग थी। यूरोप के व्यापारी भारत मे इसी व्यापार से आकर्षित होकर आये।

उस समय के भारत के विदेशी व्यापार का सबसे महत्त्वपूर्ण लक्षण यह था कि भारत को अन्य देश कुछ बेच नहीं सकते थे, अतः भारतीय माल के मूल्य-स्वरूप उन्हे भारतवर्ष को बहुत सा सोना या चाँदी देना पड़ता था।

भारतीय उद्योगों के जिस महत्त्व का ऊपर उल्लेख किया गया है, वह बहुत दिनों तक कायम नहीं रह सका। यद्यपि आरम्भ में ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारतीय उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन दिया, क्योंकि उसका निर्यात व्यापार इसी बात पर निर्भर था; परन्तु थोड़े ही समय के पश्चात् ब्रिटिश

पूँजीपतियों के कारण कंपनी को अपनी यह नीति छोड़नी पड़ी।

भारतीय उद्योगो का पतन

ईस्ट इंडिया कंपनी को जब राजनैतिक सत्ता प्राप्त हुई तो उसका उपयोग भारतीय उद्योग-धंधों को नष्ट करने में किया गया। सन् १८५७ में भारत का शासन जब सीधा ब्रिटिश सरकार के हाथ मे आ गया, तब भी भारतीय उद्योगों के प्रति कंपनी की जान-बूझकर उदासीनता दिखाने और उनको नष्ट करने की जो नीति थी, उसमें कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ।

इसके अतिरिक्त ब्रिटिश मिलों के सस्ते माल की प्रतिस्पर्द्धा, देशी शासकों के नष्ट हो जाने के कारण राज्य का आश्रय समाप्त हो जाने, विदेशी प्रभाव के कारण भारतीयों के रहन-सहन और रुचि में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो जाने के कारण भी भारतीय उद्योग-धंधे अवनति करते गए। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार ने भारत के नष्ट होते हुए धंधों की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। इसके विपरीत सरकार ने यह गलत प्रचार किया कि भारत की उपजाऊ भूमि और यहाँ की जलवायु ही ऐसी है कि यहाँ कच्चे माल का उत्पादन हो और उसके बदले बाहर से तैयार माल मँगवाया जावे। यह कहा जाता था कि भारतीय मजदूर बहुत ही अयोग्य है, वहाँ की गरम जलवायु मनुष्य को शिथिल बनाती है और लोगों में साहस की कमी है, इसलिए भारत औद्योगीकरण की दृष्टि से अनुपयुक्त है।

उन्नीसवीं शताब्दी की पिछली दो दशाब्दियों में राजनैतिक चेतना के साथ-साथ देश के नेताओं तथा अर्थ-शास्त्रियों का ध्यान हमारी

औद्योगिक अवनति की ओर देश का ध्यान

औद्योगिक अवनति की ओर भी गया। स्वर्गीय दादाभाई नौरोजी तथा रानाडे ने भारत की गरीबी को दूर करने के लिए उद्योग-धंधों की उन्नति करने पर बहुत बल दिया। भारतीय अर्थ-शास्त्रियों ने इस विचार का जोरदार शब्दों में खंडन किया कि प्रकृति ने भारत को एक कृषि प्रधान राष्ट्र ही बनाया है। जापान ने थोड़े से समय में जिस तेजी से औद्योगिक उन्नति की उसने भारत की आर्थिक निर्बलता को और भी स्पष्ट कर दिया। रानाडे ने भारतीय पूँजीपतियों से अनुरोध किया कि वे अधिकाधिक पूँजी उद्योग-धंधों में लगावें। १६०५ में बंग-भंग आन्दोलन के फल-स्वरूप जो स्वदेशी आन्दोलन हुआ उसने भी भारतीय उद्योग-धंधों को विकसित करने की ओर देश का ध्यान खींचा।

इसका यह अर्थ कदापि भी नहीं है कि भारत में आधुनिक ढंग के उद्योग-धंधों की स्थापना ही नहीं हुई। ब्रिटिश पूँजीपतियों ने चाय के बागों, कोयले की खानों, रेलों तथा जूट (पटसन) के
उद्योग में यथेष्ट पूँजी लगाई थी। बात यह थी कि भारत में विदेशी अंग्रेज पूँजीपतियों ने केवल उन्हीं धंधों मे अपनी पूँजी पूँजी
लगाई कि जो ब्रिटेन के धंधों से कोई प्रतिस्पर्द्धा नहीं
करते थे अथवा जो ब्रिटेन के लिए कच्चा माल देने में सहायक हो सकते थे। १९५१ में बम्बई मे सी० एन० डावर नामक एक पारसी सज्जन ने सबसे पहली सफल सूती कपड़े की मिल की स्थापना की और बाद को भारतीय उद्योग-पतियों ने तेजी से सूती मिलों की स्थापना शुरू कर दी। सूती वस्त्र-व्यवसाय ही ऐसा धंधा था, जिसमे भारतीयों ने रुचि ली और बहुत सी मिलें स्थापित हुई। भारतीय सूती वस्त्र के कारखानों से लका-शायर और मैंचेस्टर-शायर के कारखानों को खतरा था, इस कारण भारतीय सूती वस्त्र-व्यवसाय को न बढ़ने देने के लिए ब्रिटिश सरकार ने बहुत प्रयत्न किया। परन्तु आर्थिक परिस्थितियाँ अनुकूल होने के कारण यह धंधा उन्नति करता गया। मगर १९१४ तक भारत औद्योगिक दृष्टि से अत्यन्त पिछड़ा हुआ राष्ट्र था।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत में सुव्यवस्थित और बड़े पैमाने पर चलनेवाले केवल निम्नलिखित उद्योग-धंधे थे। बम्बई में सूती कपड़े का उद्योग, बंगाल में जूट (पटसन) का उद्योग, बिहार,
उड़ीसा तथा बंगाल का कोयले का उद्योग तथा आसाम प्रथम महायुद्ध के का चाय का उद्योग। प्रथम महायुद्ध के कुछ ही पूर्व पश्चात्
१९०७ में टाटा के लोहे के विशाल कारखाने की
स्थापना भारतीय औद्योगिक उन्नति के इतिहास में एक विशेष घटना थी। यह पूर्णतया भारतीय उद्योग था। इसी काल में टाटा के प्रयत्नों से जलविद्युत उत्पन्न करने का उद्योग भी देश में स्थापित हो गया। इनके अतिरिक्त कुछ छोटे मोटे उद्योगों का भी देश में आरम्भ हुआ। जैसे पटसन और कपास के पेंच, कागज की मिलें, चावल और शक्कर के उद्योग, चमड़े के उद्योग तथा इंजीनियरिंग के कारखानें आदि। पर इन उद्योगों की संख्या कम थी और उनका कोई विशेष महत्त्व नहीं था।

प्रथम महायुद्ध के समय भारतीय उद्योग-धंधों को अपनी उन्नति के लिए स्वर्ण अवसर मिला, क्योंकि विदेशों से माल आना वंद हो गया था। परन्तु भारत इस अवसर से लाभ उठाने के लिए बिलकुल तैयार न था। भारत में मशीन तैयार करनेवाले कोई उद्योग नहीं थे और विदेशों से मशीन मँगाना कठिन था। इसके अतिरिक्त टेकनिकल विशेषज्ञों का भी अभाव था। फिर भारत-सरकार तो उदासीन थी ही। इन समस्त कारणों से युद्ध के समय भारत औद्योगिक दृष्टि से कोई विशेष प्रगति न कर सका। हमारे देखते देखते जापान तथा अमेरिका जैसे खेतिहर राष्ट्रों ने इसी समय तेजी से औद्योगिक उन्नति की और भारत के वाजारों पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

परन्तु इससे एक लाभ अवश्य हुआ। युद्ध ने जनता और सरकार को सावधान अवश्य कर दिया। जनता ने पहली बार यह अनुभव किया कि जीवन के लिए आवश्यक पदार्थों के मामले में विदेशों पर निर्भर रहने का क्या अर्थ है। अंग्रेजी सरकार ने भी यह देखा कि यदि भारत एक औद्योगिक राष्ट्र होता तो पूर्वीय युद्ध-क्षेत्रों में उससे अधिक सहायता मिल सकती थी। अस्तु सरकार को भी देश की औद्योगिक उन्नति के लिए कुछ न कुछ करना अनिवार्य जान पड़ा। १९१६ में सरकार ने औद्योगिक कमीशन की नियुक्ति की। कमीशन ने इस बात पर विशेष जोर दिया कि देश के औद्योगीकरण में सरकार को अधिक क्रियात्मक सहयोग देना चाहिए जिससे कि देश अधिक स्वावलम्बी बन सके। औद्योगिक कमीशन की सिफारिश के अनुसार केन्द्र तथा प्रान्तों में औद्योगिक विभागों की स्थापना भी हुई।

प्रथम महायुद्ध के बाद के समय में हमारे देश के औद्योगिक इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना भारत की तत्कालीन सरकार द्वारा अक्टूवर १९२१ में स्थापित अर्थ आयोग (फिस्कल कमीशन) की सिफारिश पर विवेचनात्मक औद्योगिक संरक्षण (डिस्क्रिमिनेटिंग प्रोटैक्शन) की नीति का अपनाना था। इस संरक्षण के फलस्वरूप कुछ उद्योगों को संरक्षण मिला और उनको युद्धोत्तर मंदी का सामना करने में सहायता मिली। इस प्रकार के उद्योगों में लोहे और इस्पात का उद्योग, दियासलाई का उद्योग, सूती कपड़े का उद्योग, शक्कर का उद्योग, कागज का उद्योग विशेष उल्लेखनीय है। संरक्षण मिलने से इन धंधों का विशेष रूप

से विस्तार हुआ। दूसरे महायुद्ध के समय तक इन धंधों का खूब विस्तार हो गया।

दूसरा महायुद्ध और औद्योगिक उन्नति

जैसा कि स्वाभाविक था, दूसरे महायुद्ध के कारण भारतीय उद्योग-धंधों के विकसित होने का एक अच्छा अवसर फिर इस देश को प्राप्त हुआ। इस बार की स्थिति प्रथम महायुद्ध की अपेक्षा कुछ अंशों में अधिक अच्छी भी थी। जापान के युद्ध में शामिल होने से और वर्मा तथा दक्षिण पूर्वीय एशिया तक उसके बढ़ आने से पूर्वीय युद्धक्षेत्र को अपने आप में स्वावलम्बी होना आवश्यक था और पूर्वीय युद्धक्षेत्र में भारत का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इस सबका परिणाम यह होना चाहिए था कि भारत के उद्योग-धंधों मे जल्दी से जल्दी और प्रगति की जाती पर वास्तव मे ऐसा नहीं हुआ। भारत की विदेशी सरकार का अब भी वही पुराना संकुचित दृष्टिकोण था। सरकार का केवल यही दृष्टिकोण रहा कि भारत को यथासम्भव युद्ध-सामग्री के मामले में स्वावलम्बी बनाया जा सके। उन उद्योगों को स्थापित करने का कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया, जो भावी औद्योगिक उन्नति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थे।

भारत सरकार की इस उदासीनता के साथ ही मशीनों का तथा टैकनिकल विशेषज्ञों का भी प्रभाव था। इस कारण जितनी औद्योगिक उन्नति इस देश में हो सकती थी उतनी अवश्य नहीं हो सकी। फिर भी एक सीमा तक युद्ध ने औद्योगिक उन्नति में सहायता पहुँचाई। पुराने उद्योगों में उत्पादन बहुत बढ़ गया और प्रत्येक कारखाने में एक से अधिक पाली काम होने लगा। जिन पुराने उद्योगों को प्रोत्साहन मिला उनमें से उल्लेखनीय नाम ये हैं—वस्त्र-उद्योग, जूट-उद्योग, कागज का उद्योग, चाय का उद्योग, शक्कर का उद्योग, लोहे और इस्पात का उद्योग, कोयले का उद्योग तथा सीमेंट का उद्योग। इनके अतिरिक्त कुछ आधारभूत नवीन उद्योगों की भी स्थापना हुई। छोटी मात्रा के उद्योग-धंधों का भी यथेष्ट प्रसार हुआ और अनेक प्रकार का सामान तैयार होने लगा। नवीन उद्योगों में निम्नलिखित धंधे उल्लेखनीय हैं। हवाई जहाज तैयार करने वाली एयरक्रैफ्ट फैक्टरी, एलूमीनियम की उद्योग, म्यूनिशन्स (युद्ध-सामग्री) का उद्योग, रासायनिक पदार्थों की तैयार करने के उद्योग, मशीन तथा टूल्स बनाने का उद्योग, मोटरकार, बाइसकिल तथा रेलवे इंजन

बनाने का उद्योग सभी युद्धकाल में स्थापित हुए। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि सरकार की धीमी नीति तथा दूसरी कठिनाइयों के होते हुए भी महायुद्ध के कारण भारतीय उद्योगों का विस्तार हुआ।

गत महायुद्ध के पश्चात् इस देश के जीवन में दो ऐसी ऐतिहासिक और महत्त्वपूर्ण घटनाएँ घटी हैं, जिनका असर हमारे आर्थिक और औद्योगिक जीवन पर बहुत गहरा पड़ा है और आगे भी पड़ेगा। एक घटना है देश के स्वतंत्र होने की और दूसरी घटना है देश के विभाजन की। जहाँ देश की स्वतंत्रता के कारण अपने भाग्य के हम स्वयं निर्माता बन गए हैं और अपनी इच्छा के अनुसार राष्ट्र की प्रगति कर सकते हैं, वहाँ देश के विभाजन के कारण हमारे राष्ट्रीय जीवन को बड़ी हानि हुई है और उसकी प्रकृतिदत्त सम्पूर्णता को धक्का लगा है। विभाजन के कारण लाखों आदमी एक देश से दूसरे देश को अत्यन्त अशान्त और विवशता की हालत में आये। इसका असर दोनों ही देशों की जनसंख्या के पेशेवार बँटवारे पर पड़ा और लाखों मनुष्यों को आर्थिक बरबादी का सामना करना पड़ा। स्पष्ट है कि इसका असर आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से बहुत बुरा हुआ। देश के बँटवारे का दूसरा बुरा असर यह पड़ा कि कपास तथा जूट-जैसे महत्त्वपूर्ण कच्चे माल के लिए भारत पाकिस्तान पर बहुत कुछ निर्भर हो गया। जूट की सारी मिलें हिन्दुस्तान में आ गईं; पर जूट पैदा करनेवाली अविभाजित भारत की केवल एक-चौथाई भूमि हिन्दुस्तान को मिली। इसी प्रकार अविभाजित भारत की ९९ प्रतिशत मिलें हिन्दुस्तान में हैं पर लम्बे तथा बीच के रेशे की कपास के लिए भारत पाकिस्तान पर निर्भर हो गया। पश्चिमी पंजाब और सिंध के पाकिस्तान में होने से सिंचाई की बड़ी-बड़ी नहरें भारत से निकल गईं और सिंध तथा पश्चिमी पंजाब-जैसे खाद्यान्न उत्पन्न करनेवाले प्रदेशों के भारत से पृथक् हो जाने का प्रभाव हमारी खाद्य स्थिति पर बुरा पड़ा। खनिज-पदार्थों का जहाँ तक सम्बन्ध है ९७ प्रतिशत भारत और केवल ३ प्रतिशत पाकिस्तान में मिलते हैं। पाकिस्तान में कोयले और लोहे का बहुत अभाव है। सारांश यह कि देश के बँटवारे से भारत के औद्योगिक विकास के लिए कई प्रश्न उपस्थित हो गए हैं।

भारत के विभाजन का प्रभाव

यद्यपि कुल उद्योग-धंधों के ६१ प्रतिशत कारखाने भारत में और केवल ६ प्रतिशत पाकिस्तान में हैं।

देश के इस बँटवारे की पृष्ठभूमि में यदि हम युद्धोत्तर भारत की औद्योगिक प्रगति का विचार करें, तो हम देखेंगे कि युद्ध के समय उद्योग धंधों को जो प्रोत्साहन मिला, वह बाद में स्थायी नहीं रह सका। इसका कारण यह था कि उद्योग-पतियों और मजदूरों के आपसी सम्बन्धों में खिचाव पैदा हो गया, यातायात की कठिनाई उत्पन्न हो गई, कच्चे माल की कमी हो गई, मशीनें तथा इमारती सामान मिलना कठिन हो गया तथा टेकनिकल लोगों की कमी हो गई। इधर देश के स्वतंत्र होने के उपरान्त राष्ट्रीय नेताओं ने जो वक्तव्य समय-समय पर दिए, उनसे पूँजीपति सशंकित हो गए। एक प्रकार से औद्योगिक संकट पैदा हो गया, उत्पादन गिरने लगा। दिसम्बर १९४७ में जो औद्योगिक सम्मेलन हुआ, उसने यह अनुभव किया कि चारों ओर उत्पादन-क्रिया में शिथिलता आ रही है। सम्मेलन ने कुछ सुझाव सरकार के सामने रक्खे और यह सिफारिश की कि सरकार को अपनी औद्योगिक नीति की स्पष्ट घोषणा कर देनी चाहिए और व्यक्तिगत तथा राजकीय उत्पादन के क्षेत्रों को सुनिश्चित कर देना चाहिए। इसी उद्देश्य को लेकर ६ अप्रैल १९४८ को भारत-सरकार ने औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव प्रकाशित किया।

भारत की औद्योगिक नीति

इस प्रस्ताव में सरकार ने एक ऐसी समाज व्यवस्था के आदर्श को स्वीकार किया कि जिसमें सब व्यक्तियों को सामान रूप से न्याय और विकास का अवसर मिल सके। पर तत्काल उसका उद्देश्य लोगों के रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा उठाना और इस दृष्टि से देश के प्राकृतिक साधनों का समुचित उपयोग करना, उत्पादन बढ़ाना और सबको राष्ट्र की सेवा मे काम देना है। सरकार ने इसके लिए आर्थिक योजना के महत्त्व को स्वीकार किया और एक प्लानिंग कमीशन नियुक्त करने का निश्चय किया जो बाद में नियुक्त कर दिया गया और उसने पंचवर्षीय योजना बनाई।

जहाँ तक राजकीय और व्यक्तिगत उत्पादन क्षेत्रों के बँटवारे का प्रश्न है, उद्योग-धंधों को तीन श्रेणियों में बाँट दिया गया है। पहली

श्रेणी में वे उद्योग आते हैं, जो केवल राज्य द्वारा ही संचालित किए जावेंगे—जैसे शस्त्र और सैनिक सामग्री सम्बन्धी उद्योग, एटोमिक शक्ति का उत्पादन और नियंत्रण तथा रेलवे यातायात। संकटकाल में राज्य को हमेशा यह अधिकार होगा कि राष्ट्रीय रक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण किसी भी उद्योग को वह अपने अधिकार में कर ले। दूसरी श्रेणी में उन उद्योगों की गिनती होती है जो जहाँ तक उनके क्षेत्र में नये कारखाने खोलने का प्रश्न है राज्य के लिए ही सुरक्षित है। यद्यपि राज्य को, यदि राष्ट्र के हित में आवश्यक मालूम पड़े तो आवश्यक नियंत्रण के साथ व्यक्तिगत उत्पादन का सहयोग लेने का भी अधिकार होगा। कोयला, लोहा, इस्पात, हवाई जहाज निर्माण, समुद्री जहाज निर्माण, टेलीफोन, टेलीग्राफ, वायरलेस, एपरेटस का उत्पादन और खनिज तेल सम्बन्धी उद्योग इस श्रेणी में आते है। इन उद्योगों से सम्बन्ध रखनेवाले जो मौजूदा कारखाने आदि हैं, उनका दस वर्ष तक राष्ट्रीयकरण नहीं होगा। दस वर्ष के वाद इस वारे मे विचार किया जावेगा और यदि सरकार किसी कारखाने का राष्ट्रीयकरण करेगी, तो उसका उचित मुआवजा दिया जावेगा। राजकीय उद्योगों के पब्लिक कारपोरेशन स्थापित किए जावेंगे, जिन पर सरकार का आवश्यक नियंत्रण होगा।

बिजली की शक्ति का उत्पादन और वितरण इस सम्बन्ध में बने कानून के अनुसार होगा। इस कानून के अन्तर्गत सेन्ट्रल इलेक्ट्रीसिटी कमीशन कायम किया जा चुका है।

तीसरी श्रेणी में शेष सभी उद्योग सम्मिलित हैं और व्यक्तिगत उत्पादन के लिए उनमें पूरी स्वतंत्रता है। परन्तु राज्य भी इस क्षेत्र में अधिकाधिक भाग लेगा और यदि उद्योग-धंधों की भावी उन्नति के लिए यह आवश्यक मालूम पड़े, तो राज्य को हस्तक्षेप करने में संकोच नहीं होगा। इस सम्बन्ध में दामोदर घाटी योजना, हीराकुंड बाँध आदि का उल्लेख किया गया था।

उपर्युक्त तीनों श्रेणियों के अलावा कई ऐसे अधारभूत धंधे थे, जिनका नियंत्रण राष्ट्रीय हित में केन्द्रीय सरकार द्वारा होना आवश्यक समझा गया। नमक, मोटर, ट्रेक्टर, इलैक्ट्रीक इंजीनियरिंग मशीन, टूल्स, भारी रासायनिक पदार्थ, खाद, ऊनी-सूती वस्त्र उद्योग, सीमेंट, शक्कर, कागज,

खनिज पदार्थ रक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले उद्योग, हवाई और समुद्री यातायात, अलोह धातु आदि उद्योगों का समावेश इस श्रेणी में होता है। इन उद्योगों के सम्बन्ध में भारत सरकार राज्य की सरकारों तथा उद्योग-पतियों और मजदूरों के प्रतिनिधियों से भी सलाह लिया करेगी।

औद्योगिक नीति सम्बन्धी इस प्रस्ताव में गृह और छोटे पैमाने के उद्योग-धंधों के महत्त्व को स्वीकार किया गया और केन्द्र में गृह-उद्योग मंडल स्थापित करने का निश्चय किया गया। केन्द्रीय सरकार ने इस समय तीन मंडल स्थापित किए है, (१) खादी तथा ग्राम-उद्योग मंडल, (२) हैंडीक्रैफ्ट वोर्ड, तथा (३) हाथ करघे की बुनाई का वोर्ड। जो इन गृह-उद्योग धंधों के लिए प्रयत्नशील है।

मजदूर और मालिकों के सम्बन्धों को ठीक करने पर भी जोर दिया गया। इस दृष्टि से मजदूर को उचित मजदूरी तथा लाभ में हिस्सा, और पूँजी को उचित पुरस्कार मिले, यह आवश्यक माना गया। इसके लिए न्यूनतम मजदूरी कानून बनाए गए तथा मजदूरों को लाभ में हिस्सा मिलने की व्यवस्था की गई। प्रस्ताव में एक केन्द्रीय सलाहकार समिति स्थापित करने का प्रस्ताव किया गया और उसी प्रकार राज्यों में समितियाँ बनाने की बात सोची गई। केन्द्रीय और राज्य की सलाहकार समितियों के नीचे देश भर या राज्य भर के लिए खास-खास उद्योगों के लिए कमेटी बनाने का निश्चय हुआ। प्रान्तीय समितियों के नीचे प्रत्येक बड़े कारखाने के साथ एक मजदूर समिति और एक उत्पादन समिति स्थापित करने का निश्चय किया गया। प्रस्ताव में स्थायी इंडस्ट्रियल ट्रिब्यूनल बनाने का भी निश्चय किया गया। औद्योगिक मकान-व्यवस्था में सुधार करने पर भी बल दिया गया। विदेशी पूँजी की देश को आवश्यकता है इसको स्वीकार किया गया। इस सम्बन्ध में एक कानून बनाने का प्रस्ताव किया गया, जिसमें इस बात का अवश्य समावेश हो कि विदेशी पूँजी लगे; पर उद्योगों का वास्तविक नियंत्रण और स्वामित्व भारतीय हाथों में रहे। इस प्रस्ताव में अन्तिम बात टैरिफ नीति के बारे में कही गई कि अनुचित विदेशी प्रतिस्पर्द्धा से भारतीय उद्योगों को संरक्षण दिया जावेगा और उपभोक्ताओं पर बिना अनुचित भार डाले भारत के साधनों का उपयोग किया जावेगा।

इस प्रस्ताव के अनुसार भारत सरकार ने प्लानिंग कमीशन की स्थापना कर दी और पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित किया जा रहा है। उद्योग-धंधों के नियंत्रण के लिए कानून बना दिया गया। मजदूरों और मालिकों के सम्बन्धों में सुधार करने के लिए आवश्यक संगठन स्थापित कर दिए गये। छोटी मात्रा के धंधों तथा ग्राम-उद्योगों की उन्नति के लिए बोर्ड बना दिए गये तथा १९५१ में फिसकल कमीशन नियुक्त किया गया, जिसकी रिपोर्ट को सरकार ने स्वीकार कर लिया है। गृह-उद्योग धंधों को सरकार संरक्षण दे रही है।

पंचवर्षीय योजना

यह तो पहले ही लिख चुके हैं कि भारतीय जनसंख्या के आर्थिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए इस बात की आवश्यकता अनुभव हुई कि एक आर्थिक योजना तैयार की जावे। प्लानिंग कमीशन ने १९५२ के दिसम्बर मास में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसके अनुसार कार्य हो रहा है। पंचवर्षीय योजना की मुख्य बातें नीचे लिखी हैं।

रिपोर्ट के अनुसार आर्थिक योजना का तात्कालिक उद्देश्य जनसंख्या के रहन-सहन के दर्जे को ऊँचा उठाना है। उसके लिए देश के मानवीय और भौतिक साधनों का उचित उपयोग होना आवश्यक है, जिससे धन की उत्पत्ति में वृद्धि हो। इसके अतिरिक्त आय और धन की असमानता दूर करना भी आवश्यक है।

पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य अधिकतम उत्पादन, पूरा काम, आर्थिक समानता और सामाजिक न्याय है। इस योजना का कुल व्यय २०६९ करोड़ रुपया है। अभी हाल में इसमें १५० करोड़ रुपए की और वृद्धि की गई है।

धन की उत्पत्ति को बढ़ाने के लिए कृषि, सिंचाई, जलविद्युत्, यातायात, उद्योग-धंधों, समाज-सेवा के कार्यों (शिक्षा, चिकित्सा आदि) की एक विस्तृत योजना कमीशन ने तैयार की है जो कार्यान्वित की जा रही है। इन कार्यों पर कुल व्यय २०६९ करोड़ रुपए के लगभग होगा जो इस प्रकार बाँटा गया है।

	करोड़ रु०	प्रतिशत
१—कृषि और सामुदायिक उन्नति	३६०·४३	१७·४
२—सिंचाई तथा जलविद्युत	५६१·४१	२७·२
३—यातायात	४९७·१०	२४·०
४—उद्योग-धंधे	१७३·०४	८·४
५—समाजसेवा के कार्य	३३९·८१	१७·०
६—पुनर्वास	८५·००	४·१
७—विविध	५१·९९	२·१

अब हम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत जो उत्पादन वृद्धि होगी उसका ब्योरा देते हैं।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उत्पादन वृद्धि

	१९५०-५१		१९५५-५६
कृषि			
खाद्यान्न (लाख टनों में)	५२७	—	६१६
कपास (लाख गाँठों में)	२९·७	—	४२·२
जूट (लाख गाँठों में)	३३	—	५३·९
गन्ना (लाख टनों में)	५६	—	६३
तिलहन (लाख टनों मे)	५१	—	५५
सिंचाई और शक्ति			
बड़ी सिंचाई की योजनाएँ छोटी सिचाई की योजनाएँ } (लाख करोड़ों में)	५००	—	८५०
जलविद्युत (लाख किलोवाटों में)	२३	—	११२
उद्योग-धंधे			
पिग आयरन (लोहा) (लाख टनों मे)	३ ५	—	६·६
इस्पात (स्टील) (लाख टनों में)	९·८	—	१३·७
सीमेंट (लाख टनों में)	२६·९	—	४८

	१९५०-५१		१९५५-५६
अलूमीनियम (हजार टनों में)	३·७	—	१२
खाद-अमोनिया सलफेट (हजार टनों मे)	४६·३	—	४५०
सुपर फास्फेट (हजार टनों में)	५५·१	—	१८०
रेल के इंजन (संख्या) ...	नहीं	—	१७०
मशीन टूल्स (संख्या में) ...	११००	—	४६००
पैट्रोलियम का शुद्ध करना (लाख गैलनों में)	—	—	४०३०
सूत (लाख पौंडों में) ...	११७९०	—	१६४००
सूती वस्त्र (लाख गजों में) ...	८१००	—	१७०००
जूट का सामान (हजार टनों में)	८९२	—	१२००
कृषि-यंत्र			
शक्ति संचालित पम्प (हजारों में) ...	३४·३	—	८५
डिजेल ऐंजिन (हजारों में) ...	५·५	—	५०
साइकिलें (हजारों में) ...	१०१	—	५३०
पावर ऐलकाहल (लाख गैलनों में)...	४७	—	१८०
यातायात			
समुद्री जहाज (टनेज) ...	२११	—	३१५
सड़कें (राष्ट्रीय महत्त्व की हजार मीलों में)	११.९	—	१२·५
राज्यों की सड़कें (हजार मीलों में)	१७·६	—	२०.६
शिक्षा			
छात्र प्राइमरी स्कूलों में (लाख) ...	१५१·१	—	१८७·९
" जूनियर बेसिक स्कूल (लाख) ...	२९	—	५२·८
" सेकिण्डरी स्कूल (लाख) ...	४३·९	—	५७·८
" औद्योगिक स्कूल (हजार) ...	१४·८	—	२१·८
" अन्य टैकनिकल स्कूल (हजार)	२६·७	—	४३·६
स्वास्थ्य			
अस्पताल (शय्या हजारों में) ...	१०६·५	—	११७·२
ग्रामीण अस्पताल ...	५२२९	—	५८४०
शहरी अस्पताल ...	१३५८	—	१६१५

पंचायतें तथा सहकारी समितियाँ

	१९५०-५१—१९५५-५६
पंचायतें (हजारों में)	५५·१—६६·१
सहकारी साख समितियाँ (हजारों में)	८७·८—११२·५
स० क्रय-विक्रय समितियाँ (हजारों में)	१४·७—२०·७
स० बहुउद्देशीय समितियाँ (हजारों में)	३१·५—४०·५
स० सिंचाई समितियाँ (संख्या)	१९२—५१४
सहकारी खेती (संख्या)	३५२—९७५
अन्य सहकारी समितियाँ (हजारों में)	२७·३—३५·८

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उपर्युक्त उत्पादन वृद्धि के फलस्वरूप भारत खाद्यान्न, कपास और जूट की दृष्टि से लगभग स्वावलम्बी हो जावेगा। यद्यपि ३० लाख टन खाद्यान्न की फिर भी कमी रहेगी। प्रथम पंचवर्षीय योजना में खेती की उन्नति पर तथा उन आधारभूत धंधों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। आशा है कि पंचवर्षीय योजना के कार्यरूप में परिणित हो जाने पर भारत की आर्थिक स्थिति में पर्याप्त सुधार होगा।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत निम्नलिखित बहुउद्देशीय सिंचाई तथा जलविद्युत योजनाएँ तैयार की जा रही हैं। १—दामोदरघाटी योजना—इन योजनाओं में दामोदरघाटी योजना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे ७½ लाख एकड़ भूमि बर्दवान सिंचाई तथा जल-जिले में सींची जावेगी और ३ लाख किलोवाट विद्युत योजनाएँ जलविद्युत् उत्पन्न होगी। आज जो दामोदर नदी में भयंकर बाढ़ें आती हैं तथा जन धन की अपार क्षति होती है उसको रोका जा सकेगा, जल नियंत्रण हो जावेगा और दामोदर नदी एक प्रमुख जलमार्ग बन जावेगी जिससे उस क्षेत्र के व्यापार मे वृद्धि होगी।

भाखरा बाँध—पूर्व पंजाब में झेलम नदी पर इस बाँध को बाँधा जा रहा है। इसके द्वारा ४५ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी तथा २ लाख किलोवाट बिजली तैयार होगी।

तुंगभद्रा योजना —इस योजना के बनकर तैयार हो जाने पर मद्रास तथा हैदराबाद में पाँच लाख एकड़ भूमि सींची जावेगी और थोड़ी जलविद्युत प्राप्त होगी।

हीराकुंड —उड़ीसा में महानदी के जल का उपयोग करने के लिए हीराकुंड योजना बनाई जा रही है। यह भी बहुमुखी योजना है। इससे लगभग ११ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होगी और ३½ लाख किलोवाट जलविद्युत उत्पन्न होगी।

इन योजनाओं के अतिरिक्त बिहार की कोसी योजना, उत्तरप्रदेश का रिहांड बाँध तथा नाया बाँध पूर्वीय पंजाब की हरिखे तथा नांगल योजना तथा राजस्थान की चम्बल योजना भी पंचवर्षीय योजना में हैं जिनके बनकर तैयार हो जाने पर बिजली की बहुतायत हो जावेगी और उसके द्वारा गृह-उद्योग-धंधे, बड़ी मात्रा के धंधे सभी की उन्नति होगी। सिंचाई की सुविधा होने से खेती की भी उन्नति होगी।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत गाँवों के विकास, खेती की उन्नति करने तथा ग्रामवासियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा करने के लिए भारत सरकार ने समाज विकास कार्यक्रम को स्वीकार किया है और प्रत्येक राज्य से सामुदायिक योजना गत वर्ष से कार्यान्वित की जा रही है। इस समाज विकास कार्यक्रम का प्रभाव १७,५०० गाँवों और लगभग एक करोड़ बीस लाख ग्रामवासियों पर पड़ेगा।

समाज-विकास कार्यक्रम

सामुदायिक योजना के अन्तर्गत ग्राम, मंडीकेन्द्र, डेवलेपमेंट ब्लाक, तथा सामुदायिक योजना केन्द्र होगा। एक सामुदायिक योजना के अन्तर्गत ३०० ग्राम होंगे। एक योजना में ३ डेवलेपमेंट ब्लाक होंगे, जिनमें प्रत्येक में १०० ग्राम होंगे, प्रत्येक ब्लाक में कई मंडी-केन्द्र होंगे, एक मंडी-केन्द्र के अन्तर्गत १५ या २० ग्राम होंगे।

प्रस्तावित कार्यक्रम का लक्ष्य स्थूल रूप से प्रत्येक ग्राम में निम्न-लिखित होगा—

पीने के साफ पानी की व्यवस्था करने के लिए कुयें खुदवाना, सिंचाई के लिए नलकूप, साधारण कुयें, तालाब अथवा नहर की व्यवस्था

की जावेगी, जिससे कि ग्राम में कम से कम आधी भूमि पर सिंचाई की व्यवस्था हो सके। इसके अतिरिक्त यथासम्भव अधिक से अधिक परती भूमि को जोता जावेगा, गाँवों में सफाई रखने और पानी निकालने की नालियों का प्रबंध किया जावेगा। प्रत्येक बच्चे के लिए प्राथमिक शिक्षा का प्रबन्ध किया जावेगा तथा प्रौढ़ों को शिक्षा दी जावेगी। गाँव को पक्की सड़क से मंडी तथा अन्य गाँवों से मिला दिया जावेगा।

मंडीकेन्द्र में मिडिल स्कूल, एक अस्पताल, एक यातायात केन्द्र, टेलीग्राफ, पोस्ट आफिस, पशु चिकित्सालय, ट्रैक्टर या कृषि यंत्रालय, खेती की उन्नति के लिए बीज भंडार, खाद भंडार, इत्यादि रखे जावेंगे। वहाँ एक स्वास्थ्य केन्द्र होगा जो गश्ती अस्पताल चलावेगा, इसके साथ दाइयाँ एवं स्वास्थ्य निरीक्षक भी होंगे तथा मंडी होगी।

उसी प्रकार डेवलेपमेंट-ब्लाक तथा सामुदायिक योजना-केन्द्र में विशेषज्ञों को रक्खा जावेगा। जो कृषि, पशु, उद्योग-धंधों के विकास में सम्वन्धित गाँवों में सहायता दे सकें, तथा साधारण शिक्षा, टेकनिकल तथा कृषि सम्बन्धी शिक्षा का वहाँ प्रवन्ध होगा। यही नहीं, वहाँ खेती तथा गाँवों सम्बन्धी समस्याओं पर अनुसंधान भी होगा।

पाँच गाँवों के बीच एक ग्राम कार्यकर्ता रक्खा जावेगा, जो गाँवों में कार्य करेगा। वे ग्रामवासियों को आधुनिक ढंग से खेती करना तथा आधुनिक यंत्रों, उत्तम बीजों, रासायनिक खाद का उपयोग गाँववालों को बतायेंगे।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि उस कार्य-क्रम के द्वारा पाँच वर्षों में इन गाँवों में खाद्यान्न का उत्पादन ५० प्रतिशत बढ़ जावेगा और प्रत्येक गाँव की नकद आमदनी में ३५ प्रतिशत वृद्धि होगी। सभी राज्यों में यह सामुदायिक योजनाये उस समय कार्यान्वित की जा रही है।

बेकारी

इस समय भारतवर्ष में बेकारी भयंकर रूप धारण करती जा रही है। इसके मुख्य कारण नीचे लिखे हैं:—जनसंख्या का तेजी से बढ़ना, उत्पादन कार्यों का उस अनुपात में विकास न हो सकना, युद्ध के समय जो गृहउद्योग-धंधों का युद्ध-जनित माँग के कारण विकास हुआ था, उसमें युद्ध के उपरान्त शैथिल्य आ जाना खेती में बहुत अधिक जनसंख्या का लगा होना जिसके कारण अब अधिक जनसंख्या का खेती में काम न पा

सकना। जहाँ तक शिक्षितों की बेकारी का प्रश्न है उसका मुख्य कारण यह है कि देश में सरकारी नौकरियाँ इतनी है नहीं कि वे उनको खपा ले और वे स्वयं कोई कार्य कर सके, उसकी उनको कोई शिक्षा नहीं दी जाती। यहाँ तक कि भारत में इंजिनियरिंग कालेजों तथा अन्य पेशों की शिक्षा पाये हुए शिक्षित व्यक्ति भी बेकार है। इसका कारण यह है कि उनका उपयोग बड़ी बड़ी औद्योगिक संस्थाओं तथा कारखानों मे ही हो सकता है। परन्तु इस समय बड़े उद्योग-धंधों की स्थापना प्रायः रुकी हुई है।

बड़े उद्योग धंधों की स्थापना न होना भी बेकारी का एक कारण है। बड़े धंधों की स्थापना का मुख्य कारण यह है कि पूँजीपति आज सशंक है। वह धंधों के राष्ट्रीयकरण के भय से तथा बढ़ते हुए करों के बोझ के कारण अपनी पूँजी को धंधों में नहीं लगाना चाहता। विदेशी पूँजी भी भारत मे नहीं आ रही है। इन्ही सब कारणों से आज बेकारी अधिक हो गई है।

इस बेकारी का हल अस्सी हजार अध्यापक नियुक्त करके नहीं किया जा सकता। इसके लिए हमें देश के आर्थिक ढाँचे मे सुधार करना होगा। खेती में और अधिक जनसंख्या को लगा सकना सम्भव नहीं है। यह अवश्य है कि गहरी खेती का विकास करके, खेती की उन्नति करके, तथा खेती से सम्बन्धित अन्य सहायक धंधों को विकसित करके हम खेती मे लगे हुए किसानों तथा खेत-मजदूरों को पूरा काम दे सकते हैं। आज देश के बड़े उद्योग-धंधों में देश की केवल एक प्रतिशत जनसंख्या लगी हुई है। यह आशा करना कि बड़े-बड़े कारखाने बहुत जल्दी बड़ी संख्या में बेकार व्यक्तियों को कार्य दे सकेंगे उचित न होगा। इसके लिए बहुत अधिक साधनों की आवश्यकता होगी, जिनके प्राप्त होने की निकट भविष्य में आशा कम है। फिर भी इन बड़े-बड़े धंधों के विकसित होने से कुछ लोगों को काम अवश्य मिलेगा। बेकारी की समस्या को हल करने के लिए हमें छोटे तथा मध्यम श्रेणी के गृहउद्योग-धंधों पर अधिक बल देना होगा। परन्तु गृह-उद्योग-धंधे तभी पनप सकेंगे, जब हम उनकी कार्यक्षमता को बढ़ा सके। आज की भाँति यदि उनकी कार्यक्षमता कम रही, तो वे जीवित नहीं रह सकेंगे। इसके लिए हमें उनकी उत्पादन-क्रिया में सुधार करना होगा, जलविद्युत का

विस्तार करके उनको यांत्रिक शक्ति की सुविधा देनी होगी, उनके औजारों तथा यंत्रों में सुधार करना होगा। पूँजी और साख की व्यवस्था करनी होगी तथा कच्चे माल की प्राप्ति और तैयार माल की बिक्री का उचित प्रवन्ध करना होगा। तभी यह गृह-उद्योग-धंधे पनप सकेंगे और वे देश की बहुत बड़ी जनसंख्या को काम दे सकेंगे। शिक्षित वर्ग भी इनमे काम पा सकेगा। यदि भविष्य में इन छोटे धंधों के अनुरूप इंजीनियरिंग तथा अन्य पेशों की शिक्षा दी जावे तो शिक्षितों की बेकारी की समस्या भी हल हो सकेगी।

स्वतंत्र हो जाने के उपरान्त देश में भूमि के स्वामित्व के सम्बन्ध में जो परिवर्त्तन हुआ है, वह देश के आर्थिक जीवन पर विशेष प्रभाव डालेगा।

भूमि की समस्या और भूमि-सुधार

देश के अन्तर्गत सभी राज्यों में जमींदारी अथवा जागीरदारी प्रथा का अन्त हो चुका है और किसान अपनी भूमि का स्वामी बन गया है या उसको उस भूमि पर विशेष अधिकार प्राप्त हो गए हैं। इसका परिणाम यह होगा कि किसान का शोषण समाप्त हो जावेगा और वह खेती में किए गए अपने श्रम का पूरा प्रतिफल प्राप्त कर सकेगा। इससे वह अधिक श्रम और सतर्कता के साथ खेती करेगा।

खेती की उन्नति के लिए पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत योजना-आयोग ने भविष्य में सहकारी-ग्राम-प्रबंध का लक्ष्य निर्धारित किया है। इसके अन्तर्गत खेती की व्यवस्था तथा ग्रामीण उद्योग-धंधों का प्रबंध गाँव की पंचायत करेगी। किसान को अपनी भूमि सहकारी ग्राम-प्रबंध-समिति को सौंप देनी होगी। उसे उसके उपलक्ष्य मे स्वामित्व लाभ (प्रति बीघा) जो भी राज्य द्वारा निर्धारित हो, मिलता रहेगा; परन्तु खेती की व्यवस्था और प्रबंध समिति करेगी। भूस्वामी किसान अथवा खेत-मजदूर जो भी चाहे उस सामूहिक खेत पर काम कर सकेंगे और उसके लिए उनको मजदूरी दी जावेगी। समिति वैज्ञानिक ढंग से गाँव में उन्नतिशील खेती का तथा गाँव के उद्योगों का प्रबंध करेगी।

इस देश मे खेती पर जनसंख्या का भार बढ़ने के कारण भूमिरहित खेत-मजदूरों का एक बहुत बड़ा वर्ग गाँवों में उत्पन्न हो गया है। आचार्य विनोवा भावे ने उनकी दयनीय स्थिति को देखकर भू-दान-यज्ञ का एक क्रान्तिकारी आन्दोलन आरम्भ किया है। उनका ध्येय है कि प्रत्येक

भूमिरहित व्यक्ति को जो स्वयं खेती करना चाहता है, पाँच एकड़ भूमि मिलनी चाहिए। इसके लिए वे उन लोगों से जिनके पास अधिक भूमि है, भूमि माँगते हैं और जिनके पास भूमि नहीं है, उन्हे बाँट देते हैं। आचार्य विनोवा भावे के इस नैतिक आन्दोलन का बहुत प्रभाव हुआ है और पचास लाख एकड़ से अधिक भूमि उन्हे प्राप्त हो चुकी है। उनका लक्ष्य पाँच करोड़ एकड़ प्राप्त करना है। अब वे कूपदान, श्रमदान, सम्पत्तिदान तथा ज्ञानदान की माँग भी करने लगे है। एक प्रकार से श्री विनोवा का आन्दोलन बिना वर्ग-संघर्ष किए सम्पत्ति की उत्पत्ति के साधनों तथा सम्पत्ति के समाज में उचित वँटवारे का आन्दोलन है।

भू-दान यज्ञ

अभ्यास के प्रश्न

१—प्राचीन काल में भारत के उद्योग-धंधों की स्थिति पर प्रकाश डालिए।

२—भारत के औद्योगिक पतन के क्या कारण थे, समझाकर लिखिए।

३—भारत में आधुनिक ढंग के उद्योग-धंधों के प्रारम्भ का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

४—प्रथम महायुद्ध का भारत के आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा, बतलाइए।

५—द्वितीय महायुद्ध का देश के उद्योग-धंधों पर क्या प्रभाव पड़ा ?

६—भारत के विभाजन का हमारे आर्थिक जीवन पर क्या प्रभाव पडा ?

७—भारत सरकार की औद्योगिक नीति क्या है, विस्तारपूर्वक लिखिए।

८—पंचवर्षीय योजना पर एक छोटा सा लेख लिखिए।

९—सामुदायिक योजनाओं से आप क्या समझते है ? उसकी संक्षिप्त चर्चा कीजिए।

१०—गृह-उद्योग धंधों को जीवित रखने के लिए किन बातों की आवश्यकता है ?

११—भू-दान-यज्ञ के सम्बन्ध में अपने विचार लिखिए।

विशेष अध्ययन के लिए

१—भारतीय अर्थशास्त्र की रूपरेखा : दो भाग—लेखक: श्रीशंकरसहाय सक्सेना तथा श्री प्रेमनारायण माथुर।

2. Our Economic Problems—By Wadia and Merchant.

३—पंचवर्षीय योजना-रिपोर्ट

4. Indian Economics by Dr. Banerji.

अध्याय २१

राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति

राष्ट्रीयता की परिभाषा देना कठिन है। बहुत से ऐसे तत्त्व हैं जो मिलकर राष्ट्रीयता की भावना को जन्म देते हैं। परन्तु इनमें से किसी एक अथवा कई तत्त्वों के मौजूद होने से ही राष्ट्रीयता
का निर्धारण नहीं किया जा सकता। जाति की एकता राष्ट्रीयता की
राष्ट्रीयता के लिए आवश्यक मानी जाती है; परन्तु परिभाषा .
संसार की सभी जातियों का रक्त एक दूसरे में इतना
घुलमिल गया है कि जातीय शुद्धता नाम की कोई वस्तु आज कहीं भी अस्तित्त्व में नहीं है। भाषा की एकता को प्राय: राष्ट्रीयता का आधार माना गया है, परन्तु हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर अंग्रेज और अमरीकी दो भिन्न राष्ट्र होते हुए भी एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं, दूसरी ओर हम स्विस राष्ट्र के मुट्ठी भर व्यक्तियों को तीन या चार विभिन्न भाषाओं का उपयोग करते हुए पाते हैं। यह भी कहा जाता है कि राष्ट्र के सभी व्यक्तियों में सामान्य स्वार्थ का होना उनके एक राष्ट्र माने जाने के लिए आवश्यक है; परन्तु आज तो यह देखा जा रहा है कि प्रत्येक समाज मे वर्ग-संघर्ष की भावना प्रमुख है और एक देश के पूँजीपति और दूसरे देश के पूँजीपति के बीच अधिक सामान्य स्वार्थ हैं, एक ही देश के पूँजीपति और मजदूर के मुकाबिले में। ऐसी स्थिति में सामान्य स्वार्थ का सिद्धान्त भी ठीक नहीं उतरता। धर्म को भी प्राय: राष्ट्रीयता का आधार माना गया है, परन्तु धर्म यदि सचमुच राष्ट्रीयता का एक ठोस आधार होता, तब तो हम एक ओर सारे यूरोप में एक ही राष्ट्र के व्यक्तियों को बसा हुआ पाते और दूसरी ओर दक्षिणी यूरोप, उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया में फैले हुए करोड़ों मुसलमानों को एक दर्जन से अधिक राष्ट्रों में बँटा हुआ नहीं देखते। भौगोलिक सामीप्य भी राष्ट्रीयता की भावना को

बढ़ाने का एक कारण अवश्य है; परन्तु पड़ोस में रहनेवाले सभी व्यक्तियों को सदा ही हम एक राष्ट्रीयता के सूत्र में बँधा हुआ नहीं पाते। सच तो यह है कि जाति, भाषा, सामान्य स्वार्थ, धर्म और भौगोलिक समीपता राष्ट्रीय भावना को सुदृढ़ बनाने में सहायक होते हैं; परन्तु राष्ट्रीयता का जन्म इन सबसे परे कुछ दूसरी ही परिस्थितियों मे होता है। रेनान के शब्दों में, "राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक सिद्धान्त है जिसका निर्माण दो वस्तुओं से होता है—एक तो प्राचीन काल के वैभव की एक सुखद स्मृति और दूसरी वर्त्तमान मे समझौते की भावना, साथ रहने की इच्छा और मिल-जुलकर अपने सामान्य वैभव को आगे बढ़ाने की आकांक्षा।" राष्ट्रीयता मे और बातें हों या न हों; पर प्राचीन में गौरव, वर्त्तमान में समझौते की भावना और भविष्य के लिए समान आकांक्षाओं का होना आवश्यक है।

भारतीय राष्ट्रीयता का सूत्रपात

हमारे देश में राष्ट्रीयता की इस भावना का आरम्भ कब हुआ? अठारहवीं शताब्दी के अंत तक हम अपने प्राचीन गौरव की कहानियों को बिलकुल भूल गए थे। हममें न तो स्वाभिमान रह गया था और न किसी प्रकार की महत्त्वाकांक्षा। पतन के एक गहरे गर्त्त में हम डूबे हुए थे। एक राष्ट्र बनानेवाले सभी तत्त्व हममें मौजूद थे; पर अपने इतिहास से संपर्क हम खो बैठे थे। हमारे नवयुवक धीरे-धीरे अंग्रेजी सभ्यता के प्रभाव में आते गए और अपनी संस्कृति से उनका सम्बन्ध टूटता गया। ऐसे अवसर पर कुछ विदेशी लेखकों ने हमारे प्राचीन साहित्य की खोज की, उसका अध्ययन किया, पश्चिमी भाषाओं में उसका अनुवाद किया और मुक्त-कंठ से उसकी प्रशंसा की। हमने जब इन पश्चिमी विद्वानों को अपनी सभ्यता की प्रशंसा करते हुए देखा, तब उसके सम्बन्ध मे अधिक जानकारी प्राप्त करने की हमारी उत्सुकता भी बढ़ी। जहाँ हम एक ओर उन पश्चिमी विद्वानों के प्रति ऋणी है, हम राष्ट्र-निर्माण के इस कार्य में राममोहन राय, द्वारकानाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, दयानंद सरस्वती, आदि अपने उन धार्मिक और सामाजिक सुधारकों के योगदान को भी नहीं भूल सकते, जिन्होंने हमें हमारी प्राचीन संस्कृति की महानता से परिचित कराया और हममें आत्मविश्वास की भावना जागृत की। राष्ट्रीय भावना को आगे बढ़ाने की दिशा में हमें

पश्चिमी विचार-धाराओं के उस संपर्क को भी नहीं भूल जाना है, जो हमें अंग्रेजी भाषा के शिक्षा का माध्यम बन जाने के कारण उपलब्ध हुआ। यूरोप के दूसरे साम्राज्यवादी देशों, हॉलेंड आदि ने अपने अधीनस्थ देशों को पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से सर्वथा मुक्त रखने का प्रयत्न किया। उन्होंने उनके स्वास्थ्य की देखरेख की, उनकी खेती-बाड़ी में पश्चिमी वैज्ञानिक साधनों का प्रवेश कराया, उनकी आर्थिक स्थिति को सुधारा, पर उनमें पश्चिमी विचारों को नहीं फैलने दिया। अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को पश्चिमी संस्कृति के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया और अंग्रेजी भाषा के द्वारा अंग्रेजी साहित्य, राजनीति, विज्ञान और तत्त्व-दर्शन सभी के दरवाजे हमारे लिए खोल दिए। हमने ह्यूम और कांट के तत्त्व-दर्शन का अध्ययन किया और बर्क, मिल, पेन और स्पेन्सर की रचनाओं से स्वतंत्रता, समानता और उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तों को सीखा। जनतंत्र के सिद्धान्तों को जान लेने के बाद हमारे मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि जनतंत्र यदि अंग्रेजों के लिए शासन की सबसे अच्छी व्यवस्था हो सकती है तो हिन्दुस्तानियों के लिए क्यों नहीं।

एक ओर तो हम पश्चिम की इन प्रगतिशील विचार-धाराओं के संपर्क में आते गए और दूसरी ओर हमें अपनी बढ़ती हुई गरीबी, बेबसी और भुखमरी का सामना करना पड़ रहा था। हमने देखा कि जो अंग्रेज अपने देश में एक आदर्श शासन-तंत्र की स्थापना करने में सफल हुए हैं, वही हमारे देश के शोषण में लगे हुए हैं।

राष्ट्रीयता के विकास के अन्य कारण

टैक्सों में वे हमसे इतना वसूल कर लेते हैं जितना इस देश की किसी अन्य सरकार ने कभी नहीं किया था; परन्तु उसका अधिकांश अंग्रेजों के हित में ही खर्च होता है और हिन्दुस्तानियों के लिए न तो शिक्षा की समुचित व्यवस्था है और न उनके स्वास्थ्य के लिए सरकार कोई चिन्ता करती है, और न बार-बार पड़नेवाले अकालों से उन्हें बचाने का ही कोई इलाज उसके पास है। दादाभाई नौरोजी और रमेशचन्द्र दत्त आदि अर्थ-शास्त्रियों ने तथ्यों और आँकड़ों के द्वारा यह सिद्ध किया कि हिन्दुस्तान कभी इतना गरीब नहीं था, जितना अंग्रेजी राज्य में, और अकाल में लोगों के मरने का कारण यह नहीं था कि उन्हें अनाज नहीं मिल सकता था; पर यह था कि सरकार उनसे टैक्सों

से ही इतना अधिक रुपया ले लेती थी कि उनके पास अनाज खरीदने के लिए कुछ नहीं बचता था। इस प्रकार, एक ओर तो हममे आत्मविश्वास की भावना बढ़ती जा रही थी और दूसरी ओर अंग्रेज शासकों की नीति के प्रति हममें कड़वाहट आती जा रही थी। इस कड़वाहट को आगे बढ़ाने का एक मुख्य कारण अंग्रेजों द्वारा हिन्दुस्तानियों के साथ किया जानेवाला दिन प्रतिदिन का बर्त्ताव था। इस बर्त्ताव के पीछे अंग्रेजों की यह दृढ़ भावना थी कि वे एक सभ्य जाति के प्रतिनिधि हैं और इस देश के रहनेवाले असभ्य, असंस्कृत और पिछड़े हुए हैं। अंग्रेजों का सामाजिक जीवन हिन्दुस्तानियों से बिलकुल भिन्न था। उनके क्लब-घरों और होटलों में हिन्दुस्तानियों के लिए स्थान नहीं था। हिन्दुस्तानी केवल गुलाम की हैसियत से उनसे मिल सकते थे। अपने प्राचीन गौरव के प्रति हममें ज्यों-ज्यों ममत्व और अहंकार बढ़ता गया, अंग्रेजों के इस अमानुषिक व्यवहार के प्रति हममें खीझ, क्रोध और विद्रोह की भावना का बढ़ते जाना भी स्वाभाविक था। इन विभिन्न परिस्थितियों में हमारे देश के राष्ट्रीयता की भावना ने जन्म लिया।

विवेकानंद और शक्ति का संदेश

राष्ट्रीयता की भावना का सूत्रपात तो उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में, जब पश्चिमी संपर्क की प्रतिक्रिया के रूप में एक नई सामाजिक चेतना हमारे देश में जागृत् हो रही थी, पड़ चुका था; पर उसका अधिक विकास इस शताब्दी के अंतिम वर्षों और बीसवीं शताब्दी के आरंभ में हुआ। राष्ट्रीयता की इस भावना को एक प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति स्वामी विवेकानन्द के व्यक्तित्व में मिली। विवेकानन्द १८९६ में एक सर्व धर्म-सम्मेलन में शामिल होने के लिए शिकागो गए थे। हिन्दुस्तान से जाने से पहले उनके मन में पश्चिमी सभ्यता का बड़ा आकर्षण था। हिन्दुस्तान से वह चीन और जापान के रास्ते अमरीका गए थे। इन देशों में जब उन्होंने भारतीय संस्कृति का प्रभाव देखा, तब सहज ही उनके मन में अपनी संस्कृति के प्रति एक ममत्व और गौरव की भावना का आविर्भाव हुआ। अमरीका पहुँचकर जब उन्होंने सर्व धर्म-सम्मेलन में भाग लिया, तब उनके धर्म-सम्बन्धी ज्ञान, उनकी अद्भुत वक्तृत्व-शक्ति और उनके दीर्घकाय और प्रतिभाशाली व्यक्तित्व का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। वह सहज ही इस सम्मेलन में भाग लेनेवालों के लिए आकर्षण

और श्रद्धा का एक बड़ा केन्द्र बन गए। सम्मेलन की समाप्ति पर उन्हें अमरीका के विभिन्न स्थानों से भाषण देने के निमंत्रण मिले। आरंभ में स्वामी विवेकानन्द का विश्वास था कि पूर्वी संस्कृति का आधार अध्यात्मवाद में और पश्चिमी संस्कृति की महानता कर्म के क्षेत्र में है। उनका विश्वास था कि इन दोनों संस्कृतियों का समन्वय संसार के लिए आवश्यक है। परन्तु ज्यों-ज्यों वह अमरीका के जीवन के निकट संपर्क में आते गए, पश्चिमी संस्कृति की हीनता और भारतीय संस्कृति की महानता में उनका विश्वास बढ़ता गया। १८९७ में विवेकानन्द हिन्दुस्तान लौटे और उन्होंने सारे देश का भ्रमण किया। इस भ्रमण में उनका मुख्य उद्देश्य लोगों को यही बताना था कि किस प्रकार हिन्दुस्तान के पास अध्यात्म विद्या का एक अटूट खजाना है और बाहर की दुनिया उसके अभाव मे कैसी दुःखी, बेचैन और पथभ्रष्ट हो रही है। हिन्दुस्तानियों से उन्होंने कहा, "इस बात की चिन्ता न करो कि एक पार्थिव शक्ति के द्वारा तुम जीत लिए गए हो और अपनी आध्यात्मिक शक्ति से तुम विश्व पर विजय प्राप्त करो।" यह एक नया संदेश और बड़ा आकर्षक आह्वान था। हमने यह अनुभव किया कि राजनीतिक दृष्टि से गुलाम होते हुए भी जीवन के और क्षेत्रों में हम धनी हैं। हमने यह भी अनुभव किया कि भटकी हुई दुनिया को रास्ता बताने की एक बड़ी जिम्मदारी हमारे कंधों पर है। राष्ट्रीय स्वाभिमान के साथ हमें एक राष्ट्रीय कार्यक्रम भी मिला।

जिन दिनों स्वामी विवेकानन्द हमारे छिपे हुए आत्म-गौरव को अपने प्रभावशाली लेखों और भाषणों के द्वारा उभाड़ रहे थे, उन्हीं दिनों कुछ अन्य शक्तियाँ भी इसी दिशा में काम कर रही थीं। यह समय हमारे देश में एक बड़े संकट का समय था। एक बहुत बड़ा अकाल देश के अधिकांश भाग में फैला हुआ था और उसके साथ ही
पश्चिमी और दक्षिणी भारत में प्लेग और दूसरी अन्य प्रेरक शक्तियाँ
बीमारियाँ भी फैल रही थीं। सरकार ने इस संबंध
में जो नीति धारण की, उससे जनता में और भी क्षोभ बढ़ा। दक्षिण भारत में लोकमान्य तिलक ने इन भावनाओं का उपयोग जनता में एक नया राजनीतिक जीवन संगठित करने की दिशा में किया। बंगाल में बंकिम बाबू का 'आनन्द मठ', जिसमें 'वन्दे मातरम्' का लोक-प्रसिद्ध राष्ट्रगीत

सम्मिलित था, प्रान्त के नवयुवकों को राजनीतिक संस्थाएँ निर्माण करने और मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए अपना सब कुछ बलिदान कर देने के लिए प्रेरित कर रहा था। उन्हीं दिनों बंगाल और दूसरे प्रान्तों में भी 'गीता अनुशीलन समिति' और इस प्रकार की दूसरी संस्थाएँ बन रहीं थीं, जिनका ध्येय देश भर में एक क्रान्तिकारी संगठन को जन्म देना था। पंजाब में लाला लाजपतराय और उनका समाज-सुधारक दल राजनीतिक कामों में जुटा हुआ था। इस विक्षुब्ध वातावरण में लॉर्ड कर्जन की नीति ने आग में घी का काम दिया। बंगाल के विभाजन के उनके निश्चय ने देश की समस्त राजनीतिक शक्तियों को एक बड़ी चुनौती दी थी और उसकी सीधी प्रतिक्रिया यह हुई कि देश में स्वदेशी और बहिष्कार के आन्दोलन उठ खड़े हुए। सभी प्रकार के अंग्रेजी माल पर विशेषकर कपड़े का बहिष्कार होने लगा, और स्वदेशी को प्रोत्साहन दिया जाने लगा। सरकार ने दमन के सहारे इस आन्दोलन को कुचलना चाहा। 'वन्दे मातरम्' की आवाज उठाने पर नन्हे बालकों को बेतों से पीटा गया, बहिष्कार में भाग लेनेवाले व्यक्तियों की कड़ी सजाएँ दी गईं और क्रान्तिकारी आन्दोलन से सहानुभूति रखनेवाले अनेकों व्यक्तियों को फाँसी के तख्ते पर लटकाया गया। सरकार ने दूसरी ओर नरम दल के राजनीतिक नेताओं को फोड़ने का प्रयत्न किया और १९०९ के सुधारों के द्वारा उसे इस काम में सफलता भी मिली। परिणाम यह हुआ कि राजनीतिक आन्दोलन वैसे तो रुक-सा गया; पर भीतरी रूप में अनेकों क्रान्तिकारी दलों का संगठन होने लगा। इन दलों की शाखाएँ न केवल बंगाल, पंजाब और हिन्दुस्तान के अन्य प्रान्तों में थीं; पर इंग्लैंड और जर्मनी में भी खुल गई थीं। राष्ट्रीय आन्दोलन की जो आग एक बार सुलगी; वह विदेशी शासन की लाख कोशिशों के बाद भी बुझाई नहीं जा सकी।

अंग्रेज अधिकारी इस बात को समझ गए थे कि भारतीय राष्ट्रीयता से सीधा मोर्चा लेना उनके लिए संभव नहीं होगा। इस कारण उन्होंने प्रतिक्रियावादी दलों को अपने साथ लेने की नीति को अपनाया। 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति पर चलना प्रत्येक विदेशी सत्ता के लिए आवश्यक होता है। अंग्रेजों को हिन्दुस्तान में हिन्दू और मुसलमानों में जो धार्मिक और सामाजिक भेद-भाव मिला, उसका मिट

जाना वे नहीं चाहते थे। गदर के जमाने तक तो उन्हें मुसलमानों से अधिक खतरा था। बहुत से अंग्रेज राजनीतिज्ञों का यह विश्वास था कि गदर के पीछे भी मुसलमानों का ही अधिक हाथ था।

राष्ट्रीयता पर पहला बड़ा आक्रमण

परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के बाद के वर्षों में, जब हिन्दुओं में राजनीतिक जागृति बढ़ने लगी, अंग्रेजों ने हिन्दुओं के साथ पक्षपात करने की नीति को छोड़कर मुसलमानों का पक्ष पकड़ा। बीसवीं शताब्दी का आरंभ होते होते मुसलमानों के साथ पक्षपात की यह नीति बिलकुल स्पष्ट हो गई थी। बंगाल के विभाजन के पीछे भी यही नीति काम कर रही थी। कर्जन बंगाल के मुसलिम बहुसंख्यक भाग को अलग करके मुसलमानों में मुसलिम राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करना चाहता था। मुसलमानों को बढ़ावा देने की इस नीति के परिणाम-स्वरूप ही १९०७ में आगाखाँ के नेतृत्व में मुसलमान नेताओं का एक दल लॉर्ड मिन्टो से मिला और मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन की माँग की। लॉर्ड मिन्टो ने फौरन ही उस माँग को स्वीकार कर लिया। यह स्पष्ट है कि अंग्रेज हिन्दुस्तान के मुसलमानों को राष्ट्रीय आन्दोलन के विरुद्ध एक बड़े मोर्चे के रूप में संगठित कर लेना चाहते थे। भारतीय राष्ट्रीयता को छिन्न-भिन्न करने की दृष्टि से किया जानेवाला साम्राज्यवाद का यह पहला बड़ा षड्यन्त्र था।

भारतीय राष्ट्रीयता ने इस षड्यन्त्र का मुकाबिला किया और उस पर विजयी सिद्ध हुई, एक लम्बे अर्से तक मुसलमान धर्मांधता की बाढ़ में बहने से बचे रहे। कुछ ऐसे मुसलमान इन दिनों सामने आए, जिन्होंने मुसलिम-समाज में राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन दिया। मौलाना अबुल कलाम आजाद ने अपने जोरदार भाषणों और

और उसकी प्रतिक्रिया

'अल हिलाल' की प्रभावपूर्ण टिप्पणियों के द्वारा मुसलमानों में एक नया जोश फूँका। मौलाना मुहम्मद अली ने वही काम अपने 'कॉमरेड' और हमदर्द नाम के पत्रों के द्वारा किया। मौलाना जफर अली का 'जमींदार' तो अपने राष्ट्रीय विचारों के लिए इतना प्रसिद्ध था कि बहुत से लोगों ने केवल उसे पढ़ने के लिए उर्दू सीखी। डॉक्टर अनसारी, हकीम अजमल खाँ और चौधरी खलीकुज्जमाँ आदि नेता भी इन्हीं दिनों

सामने आए। प्रथम महायुद्ध के छिड़ जाने से हिन्दुस्तान के मुसलमानों में फैलनेवाली इस राष्ट्रीय भावना को और भी प्रोत्साहन मिला। युद्ध में टर्की अंग्रेजों के खिलाफ था और टर्की के सुलतान के खलीफा माने जाने के कारण हिन्दुस्तान के मुसलमान उसके प्रति अपनी वफादारी छोड़ने के लिए तैयार नहीं थे। लड़ाई के समाप्त हो जाने पर इसी प्रश्न को लेकर खिलाफत का आन्दोलन उठा। उधर, लड़ाई के दिनों में ही राष्ट्रीय आन्दोलन एक वार फिर बढ़ चला था। लोकमान्य तिलक और श्रीमती एनी बीसेंट ने 'होमरूल-लीग' की स्थापना की। इस आन्दोलन के फलस्वरूप अंग्रेजों ने १६१७ की सम्राट् की घोषणा के द्वारा हिन्दुस्तान में धीरे-धीरे उत्तरदायी शासन स्थापित करने की प्रतिज्ञा तो की; परन्तु उनके व्यवहार में कोई विशेष परिवर्त्तन नहीं आया और लड़ाई समाप्त होने के बाद ही कुछ ऐसे कानून बनाए गए, जिनका स्पष्ट उद्देश्य राष्ट्रीय आन्दोलन को कुचल डालना था। जागृत और शसक्त भारतीय राष्ट्रीयता उन्हें चुपचाप मान लेने के लिए तैयार नहीं थी। इन्हीं दिनों दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह में एक बड़ी विजय प्राप्त करके महात्मा गांधी हिन्दुस्तान लौटे थे। इस बेचैनी, कसमसाहट और विक्षोभ के वातावरण में देश का नेतृत्व उन्होंने अपने शक्तिशाली हाथों में लिया। सरकार जो नए कानून बना रही थी, देश भर में उनके विरुद्ध हड़ताल व सभाएँ हुईं। इसी सिलसिले में पंजाब में जलियाँवाला बाग का रक्त-रंजित नाटक खेला गया और जगह-जगह मार्शल लॉ की स्थापना हुई। इसकी देश भर में बड़ी भीषण प्रतिक्रिया हुई। खिलाफत और राजनीतिक स्वाधीनता दोनों के आन्दोलन एक दूसरे में घुल मिल गए, और गांधीजी के महान् नेतृत्व में हिन्दू और मुसलमान दोनों, कंधे से कंधा मिला कर, देश की आजादी के लिए अहिंसा के आधार पर लड़े जानेवाले एक महान् युद्ध में जूझ पड़े। हिन्दू मुस्लिम एकता के जो दृश्य १६२०-२१ के दिनों में देखने में आए, वे आज भी एक मीठी स्मृति के रूप में हमारे हृदयों में सुरक्षित हैं। अंग्रेजों की भेद डालने की नीति के विरुद्ध राष्ट्रीयता का यह एक बड़ा सफल और विजयी मोर्चा था।

१६२०-२१ के सत्याग्रह आन्दोलन ने भारत में अंग्रेजी राज्य की जड़ों को झकझोर डाला। इस आन्दोलन में लगभग चालीस हजार व्यक्ति

जेल गए और लाखों व्यक्तियों ने आन्दोलन से सम्बन्ध रखनेवाली कई प्रवृत्तियों में भाग लिया। विदेशी कपड़े का
वड़ा सफल वहिष्कार किया गया। फरवरी १६२२ सत्याग्रह आन्दोलन।
में आन्दोलन को सविनय अविनय अवज्ञा आन्दोलन और उसके बाद
के रूप में परिणत करने का निश्चय किया गया था।

६ फरवरी को वाइसराय ने भारत-मंत्री को सूचना दी—"शहरों में निम्न मध्यम श्रेणी के भागों पर असहयोग आन्दोलन का बहुत ज्यादा असर पड़ा है। कुछ भागों में, विशेषकर आसाम-घाटी, संयुक्त-प्रान्त, उड़ीसा और बंगाल में किसानों पर भी असर पड़ा है। पंजाव में अकाली आन्दोलन गाँवों के सिखों में प्रवेश कर चुका है। देश भर में मुस्लिम आवादी का एक वड़ा भाग कड़वाहट और विक्षोभ की भावना से भरा हुआ है, स्थिति वहुत खतरनाक है। अव तक जो कुछ हुआ है, उससे भी अधिक व्यापक अशान्ति की संभावना मानकर भारत सरकार तैयारी कर रही है।" कुछ स्थानों में, जैसे गुन्तूर के जिले में, किसानों ने कर न देने का आन्दोलन भी शुरू कर दिया था। इन्हीं दिनों चौरीचौरा में एक ऐसी घटना हुई, जिसने गांधीजी को यह विश्वास दिला दिया कि देश अभी एक वड़ी अहिंसात्मक क्रान्ति के लिए तैयार नहीं था और उन्होंने फौरन आन्दोलन को वन्द कर देने की आज्ञा दे दी। एक महान् आन्दोलन के एक ऐसे अवसर पर जव वह सफलता के विलकुल नजदीक पहुँचा हुआ दिखाई दे रहा हो, अचानक रोक दिए जाने से नेताओं व जनसाधारण में निराशा का फैल जाना विलकुल स्वाभाविक था। परन्तु गांधीजी भारतीय समाज के किसी भी वर्ग को उस समय तक राजनीतिक आन्दोलन में लाना नहीं चाहते थे, जव तक उसमें अहिंसा पर चलने की क्षमता न हो। १६२०-२१ के आन्दोलन में राजनीतिक चेतना का प्रवेश निम्न मध्यमश्रेणी की जनता में, जिसमें छोटे मोटे दूकानदार, क्लर्क, शिक्षक, विद्यार्थी आदि शामिल थे, हुआ और उसने गांधीजी के सिद्धान्तों पर चलने की उचित योग्यता का प्रदर्शन किया परंतु इस राजनीतिक चेतना की परिधि ज्यों-ज्यों तेजी के साथ वढ़ने लगी मजदूर और किसान भी एक वड़ी संख्या में उसमें शामिल होने लगे और उन्होंने अनुशासन मानने के वदले कानून और व्यवस्था को अपने हाथ में ले लिया। कलकत्ता, वम्वई आदि शहरों के मजदूर-वर्ग

ने और चौरीचौरा में गाँव के लोगों ने जैसा प्रदर्शन किया, उससे गांधीजी को यह विश्वास हो गया कि जब तक समाज के इन वर्गों में उचित ढंग से राजनीतिक शिक्षा का प्रचार नहीं हो पाता, तब तक उन्हें राजनीतिक संघर्ष में लाने से लाभ कम हो सकेगा और खतरा ज्यादा रहेगा। इसी कारण गांधीजी ने देश की शक्ति को राजनीतिक क्षेत्र से हटाकर रचनात्मक कार्यक्रम में मोड़ना चाहा। परंतु अधिकांश कार्यकर्त्ताओं के मन में राजनीतिक संघर्ष और क्रान्तिकारी आन्दोलनों के लिए जो दिलचस्पी थी, वह रचनात्मक कार्यक्रम के प्रति नहीं और देश के कुछ प्रमुख राजनीतिक नेता तो, जो अब अंग्रेजी साम्राज्य से मोर्चा ले रहे थे, सो साम्प्रदायिक उलझनों में पड़ते गए।

राष्ट्रीय उत्थान की दूसरी लहर

गांधीजी का रचनात्मक कार्यक्रम सभी राजनीतिक कार्यकर्त्ता अपना नहीं सके थे, यह स्पष्ट था। साम्प्रदायिक झगड़ों से उन नेताओं का ध्यान हटाने के लिए, जो केवल राजनीतिक कार्य में ही रुचि ले सकते थे, मोतीलाल नेहरू और चित्तरंजन दास ने स्वराज्य-दल का निर्माण किया। अपरिवर्त्तनवादियों के विरोध के बावजूद भी उन्हे कांग्रेस के अधिकांश नेताओं का समर्थन मिल सका। १६२३ में स्वराज्य-पार्टी ने धारा सभाओं में प्रवेश किया; परन्तु कांग्रेस के इस नीति-परिवर्त्तन पर भी भारतीयता राष्ट्रीय पर अंग्रेजी साम्राज्यवाद का आक्रमण लगातार जारी रहा। इन्हीं दिनों, स्वराज्य पार्टी के विरोध करने पर भी, भारत-सरकार ने कुछ ऐसे कानून बनाए, जो भारतीय हितो के खिलाफ जाते थे, और १६२७ में विधान-निर्माण पर अपनी सम्मति देने के लिए एक ऐसे कमीशन की नियुक्ति की जिसमें एक भी हिन्दुस्तानी सदस्य नहीं था। उधर जनता में राजनीतिक जागृति का लगातार विकास हो रहा था। एक ओर तो श्रमिक-वर्ग में गिरनी कामगार सघ, लाल झंडा सघ आदि संस्थाओं के द्वारा जागृति फैलाई जा रही थी और दूसरी ओर जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचन्द्र बोस के यूरोप-प्रवास से लौट आने पर देश में नवयुवकों को एक सशक्त नेतृत्त्व मिल गया था। इन परिस्थितियों में देश ने साइमन कमीशन के बहिष्कार का निश्चय किया और जब साइमन कमीशन ने हिन्दुस्तान का दौरा किया, तब जगह-जगह काले झंडों, 'साइमन लौट जाओ' के नारों

और लंबे-लंबे जुलूसों के द्वारा जो विरोधी प्रदर्शन हुए, उनसे उन वर्षों में समाज के विविध वर्गों में फैल जानेवाली राष्ट्रीय भावना का अच्छा परिचय मिलता है। अंग्रेजी सरकार जब अपनी कट्टर साम्राज्यवाद की नीति से टस से मस न हुई तो १९२९ के लाहौर-कांग्रेस के ऐतिहासिक अवसर पर युवक नेता पं० जवाहरलाल नेहरू के सभापतित्व में, कांग्रेस ने पूर्ण स्वाधीनता को अपना लक्ष्य बनाने की घोषणा की। इस लक्ष्य का जनता में प्रचार करने के लिए २६ जनवरी १९३० को पहला स्वाधीनता दिवस मनाया गया। इन परिस्थितियों में गांधीजी ने एक बार फिर देश के भाग्य की बागडोर अपने हाथ में ली और मार्च १९३० की ऐतिहासिक दांडी-यात्रा और ६ अप्रैल १९३० को समुद्र-तट पर नमक कानून के कार्यक्रम से महान् जन-आन्दोलन का सूत्रपात किया। नमक कानून के बाद स्थान-स्थान पर दूसरे अवांछनीय कानूनों को भी तोड़ा गया। विदेशी कपड़े व शराब की दूकानों पर धरना दिया गया। लगभग नब्बे हजार व्यक्तियों ने कारागृह का आवाहन किया और हजारों ने अपना सर्वस्व राष्ट्रीय स्वाधीनता की वेदी पर भेंट चढ़ा दिया। पेशावर में गढ़वाली सिपाहियों ने मुसलमान आन्दोलन-कारियों पर गोली चलाने से इनकार कर दिया और शोलापुर में एक सप्ताह तक वहाँ के मजदूरों ने राज्य-शासन अपने हाथ में रखा। इस आन्दोलन में सबसे बड़ी क्षति अंग्रेजी उद्योग-धंधों और व्यापार को हुई। यह अंग्रेजी साम्राज्य का सबसे कोमल स्थल भी था और इसका परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजी साम्राज्य एक बार फिर हिल उठा। जनवरी १९३१ में सरकार को महात्मा गांधी और कांग्रेस की कार्य समिति के दूसरे सदस्यों को बिना शर्त्त के छोड़ देने पर मजबूर होना पड़ा और ४ मार्च को गांधी-इर्विन समझौते पर दस्तखत किए गए। यह पहला अवसर था, जब अंग्रेजी सरकार को एक बागी संस्था के नेता से समझौता करने पर विवश होना पड़ा था। भारतीय राष्ट्रीयता के लिए निःसंदेह यह एक महान् विजय थी।

१९३१ तक के भारतीय राष्ट्रीयता के इतिहास पर जब दृष्टि डालते हैं तो हमें दिखाई देता है कि राजनीतिक चेतना क्रमशः समाज के ऊँचे वर्गों से आरम्भ होकर नीचे के वर्गों तक फैलती चली गई है। १८८५ में कांग्रेस की स्थापना के पीछे समाज के ऊँची श्रेणी के लोगों

का हाथ था। १६०५-६ में राष्ट्रीय चेतना ने मध्यम श्रेणी के ऊपर के स्तर का स्पर्श किया। १६२०-२१ तक प्रायः समस्त मध्यम श्रेणी में यह चेतना व्याप्त हो चुकी थी और १६३०-३१ में मजदूर और किसानों का एक बड़ा वर्ग उसके प्रभाव में आ चुका था। प्रत्येक आन्दोलन में लोगों ने पहले से अधिक त्याग, बलिदान और कष्टसहिष्णुता का परिचय दिया। प्रत्येक आन्दोलन को हम एक तूफान के समान उठते हुए पाते हैं, जिसके पीछे कई बड़े राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कारण होते है। प्रत्येक आन्दोलन ने अंग्रेजी साम्राज्यवाद की जड़ों को अधिक गहरे जाकर झकझोर डाला; परन्तु जब यह दिखाई देने लगा कि अभी या तो राष्ट्रीय चेतना इतनी व्यापक नहीं है या अंग्रेजी साम्राज्यवाद अभी इतना कमजोर नहीं हुआ है कि वह जड़ से उखाड़ा जा सके, तभी आन्दोलन की गति कुछ धीमी पड़ चली। इन सभी आन्दोलनों के प्रणेता, गांधीजी ऐसा जान पड़ता है, राजनीतिक जागृति को अधिक से अधिक व्यापक बनाने और अंग्रेजी साम्राज्य से संघर्ष करने में कोई अन्तर नहीं देखते थे। स्वराज्य अथवा पूर्ण स्वाधीनता से किसी प्रकार कम लक्ष्य न रखते हुए भी गांधीजी ने अपने आन्दोलन के सिलसिले में जब कभी भी यह देखा कि अब आन्दोलन के द्वारा राष्ट्रीय भावना का अधिक विकास सम्भव नहीं रह गया है, तभी बिना इस बात की चिन्ता किए कि राजनीतिक लक्ष्य की दिशा में वैधानिक दृष्टि से वह कितना आगे बढ़े थे, उन्होंने आन्दोलन को बन्द कर दिया। वह तो इस बात की चिन्ता करते हुए भी दिखाई नहीं देते थे कि जनता पर उनके इस निर्णय की क्या प्रतिक्रिया होगी। राजनीतिक आन्दोलन को बन्द करते ही, बल्कि बन्द करने के दौरान में ही गांधीजी देश की समस्त शक्तियों को रचनात्मक कार्यक्रम की ओर मोड़ देने का प्रयत्न करते थे, उनकी दृष्टि में राजनीतिक आन्दोलन और रचनात्मक कार्यक्रम के बीच का कोई मार्ग नहीं था; परन्तु वह रचनात्मक कार्यक्रम न तो सभी राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को अपील करता था और न जनता काफी उत्साह से उसमें भाग लेती थी। वे लोग इस बात की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते रहते थे कि फिर किसी राजनैतिक कार्यक्रम पर चलने का उन्हें अवसर मिले। उनकी इस इच्छा की पूर्ति गांधीजी

निरन्तर बढ़ती जानेवाली राष्ट्रीय चेतना

के अलावा किसी अन्य राजनीतिक नेता को करनी पड़ती थी। १९२३-२४ में मोतीलाल नेहरू और चित्तरंजनदास ने यह काम किया।' १९३४ के बाद कांग्रेस के तत्त्वावधान में ही पार्लियामेण्टरी कार्यक्रम का आयोजन किया गया। १९३६ में कांग्रेस ने प्रान्तीय चुनाओं में भाग लिया जिसके परिणामस्वरूप ग्यारह में से आठ प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रि-मंडल बने। कांग्रेस चाहे एक बड़ा आन्दोलन चला रही हो, चाहे रचनात्मक कार्य-क्रम में जुटी हुई हो और चाहे धारा सभाओं के चुनाव में लगी हो या प्रान्तीय शासनों का नियंत्रण कर रही हो, उसका लक्ष्य सदा यही रहा कि वह जनता में राजनीतिक जीवन का प्रसार व संगठन करती रहे। इस प्रकार हम देखते हैं कि राष्ट्रीय चेतना का प्रसार अपने जन्म के बाद से कभी रुका नहीं है। वह एक अबाध गति और क्रम से सदा ही आगे ही बढ़ता रहा है।

अभ्यास के प्रश्न

१—राष्ट्रीयता का अर्थ समझाते हुए यह बताइए कि आधुनिक भारत में राष्ट्रीयता का विकास किन परिस्थितियों में हुआ?

२—भारतीय राष्ट्रीयता के प्रमुख उन्नायकों और उनके विचारों के सम्बन्ध में संक्षेप में लिखिए।

३—अंग्रेजों ने भारतवर्ष में राष्ट्रीयता के विकास को रोकने के लिए किन उपायों का सहारा लिया और अपने उद्देश्य में उन्हें कहाँ तक सफलता मिली?

४—भारतीय राष्ट्रीय महासभा का संक्षिप्त इतिहास दीजिए। राष्ट्रीय भावनाओं के प्रचार में उसकी सेवाओं का उल्लेख कीजिए।

५—राष्ट्रीय आन्दोलन के इतिहास में महात्मा गांधी का स्थान निर्धारित कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Singh, G. N : Landmarks in the Political and Constitutional History of India.

2. Verma, S. P : Problem of Democracy in India

3. " " हमारी राजनैतिक समस्याएँ।

4. " " स्वाधीनता की चुनौती।

अध्याय २२

स्वतन्त्र भारत का निर्माण

युद्धकालीन राजनीति : गत्यवरोध

१९३७ में जब कांग्रेस ने विभिन्न प्रान्तों में मंत्रिमंडल बनाने का निश्चय किया तब उसे यह विश्वास होने लगा था कि अंग्रेज शायद बिना किसी बड़े संघर्ष के, धीरे-धीरे पर निश्चित रूप से, सत्ता उसके हाथ में सौंप देंगे। २७ महीनों के कांग्रेस के शासन-काल में गवर्नरों और मंत्रिमंडलों में बड़े अच्छे संबंध रहे, उधर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे फासीवाद और जनतंत्र के बीच जो अन्तर बढ़ता जा रहा था, उसमे हमारी समस्त सहानुभूति जनतंत्र के पक्ष में होने के कारण भी हमें यह विश्वास था कि हमारे और ब्रिटेन के बीच सद्भावना अधिक बढ़ेगी। दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होने पर हमारी समस्त सहानुभूति फासिस्ट देशों के विरुद्ध और जनतांत्रिक देशों के पक्ष में थी; परन्तु हमें यह देखकर बड़ा क्षोभ हुआ कि हिन्दुस्तान की अंग्रेजी सरकार ने हमारे नेताओं और हमारी धारासभा की राय लिए बिना ही हिन्दुस्तान के युद्ध में शामिल होने की घोषणा कर दी, और शासन-विधान में युद्ध-कालीन परिवर्त्तन करके और एक के बाद एक आर्डिनेंस निकालकर यह जाहिर करना चाहा कि उसे हमारे विचारों या दृष्टिकोण को जानने की तनिक भी इच्छा नहीं है। कांग्रेस यह नहीं चाहती थी कि युद्ध का संकट जब अंग्रेजी सरकार पर छाया हुआ था, तब वह उसके रास्ते में किसी प्रकार की रुकावट डालती। परन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, यह स्पष्ट होता गया कि जनतंत्र के बड़े-बड़े सिद्धान्तों के प्रचार करते रहने के बावजूद भी अंग्रेज वास्तविक सत्ता किसी भी रूप में हिन्दुस्तानियों के हाथ में सौंपने के लिए तैयार नहीं थे। अगस्त १९४० में वाइसराय ने अपनी कार्यकारिणी में कुछ हिन्दुस्तानियों को लेने व एक भारतीय रक्षा-समिति की स्थापना का प्रस्ताव रखा। इस अपमानजनक प्रस्ताव ने राष्ट्रीय विक्षोभ की भावना को बहुत बढ़ा दिया। इस भावना की संयत

और प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति के लिए गांधीजी ने व्यक्तिगत सत्याग्रह का आन्दोलन चलाया। गांधीजी इस सम्बन्ध में अधिक से अधिक सावधानी ले रहे थे कि युद्ध के संचालन मे किसी प्रकार की रुकावट न पड़े। अंग्रेजी सरकार ने गांधीजी की इस नेकनीयती को अविश्वास की दृष्टि से देखा और आन्दोलन को संयमित रखने के उनके प्रयत्न को कमजोरी का चिह्न माना। इन दिनों, दुर्भाग्यवश भारत-मंत्री के रूप में एक ऐसा व्यक्ति ब्रिटेन की भारत-सम्बन्धी नीति का संचालन कर रहा था, जो सदा से भारतीय राष्ट्रीयता के प्रति विरोध और वैमनस्य का भाव रखता आया था। एमरी की राजनीति का सीधा लक्ष्य कांग्रेस और मुस्लिम लीग के आपसी मतभेदों को बढ़ाते रहना था। गांधीजी ने बहुत दु:खी होकर लिखा, "संकट में प्राय: लोगों के दिल नरम पड़ जाते हैं और उनमें वस्तुस्थिति को समझने की तत्परता आ जाती है; परन्तु ब्रिटेन के संकट का, जान पड़ता है, मि० एमरी पर तनिक भी असर नहीं पड़ा है।"

क्रिप्स-प्रस्ताव और उसकी प्रतिक्रिया

दिसम्बर १९४१ मे युद्ध का एक दूसरा दौर शुरू हुआ और जापानी सेनाएँ हांगकांग, फिलीपीन, मलाया, बरमा आदि यूरोपीय और अमरीकी साम्राज्यों के गढ़ एक के बाद और तेजी से, जीतती हुई, मार्च १९४२ तक हिन्दुस्तान की अरक्षित उत्तर-पूर्वी सीमा तक आ पहुँचीं। तीन सदियों में धीरे-धीरे फैलनेवाला पश्चिम का एशिया पर आधिपत्य तीन महीनों में मिटता दिखाई दिया। इन परिस्थितियों में अंग्रेजी सरकार ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को हिन्दुस्तानी नेताओं से एक बार फिर बात करने के लिए नियुक्त किया। क्रिप्स ने, इस बातचीत के बाद अपने प्रस्तावों को देश के सामने रखा। उन्होंने घोषणा की कि हिन्दुस्तान यदि चाहेगा तो युद्ध के बाद उसे औपनिवेशिक स्वराज्य का दर्जा फौरन मिल जायगा और साम्राज्य से सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार भी उसे प्राप्त होगा। क्रिप्स ने इस बात का भी आश्वासन दिया कि युद्ध के समाप्त होते ही एक विधान निर्मात्री सभा का निर्माण होगा, जिसमें मुख्यत: जनता के चुने हुए प्रतिनिधि होंगे और जिसके काम में अंग्रेजी सरकार किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगी। क्रिप्स-प्रस्तावों में प्रान्तों के इस अधिकार को मान लिया गया था कि यदि वे भारतीय संघ में न शामिल होना चाहें, तो वे अपनी स्वतन्त्र स्थिति

रख सकेंगे, या यदि वे चाहें तो अंग्रेजी सरकार से अपना सीधा सम्बन्ध स्थापित कर सकेंगे। उनमें विधान निर्मात्री सभा के द्वारा अंग्रेजी सरकार से एक सन्धि कर लेने की बात भी थी, जिसमें जातीय और धार्मिक अल्पसख्यकों के उन विशेषाधिकारों का समावेश किया जाना था, जिन्हें अंग्रेजी सरकार ने समय-समय पर स्वीकार किया था। कुछ खराबियों के बावजूद भी भविष्य के लिए ये प्रस्ताव बुरे नहीं थे। उनकी असफलता का मुख्य कारण यह था कि उनके पीछे निकट वर्त्तमान में हिन्दुस्तानियों के हाथ में रंच मात्र भी सत्ता न सौंपने का दृढ़ निश्चय था। वर्त्तमान की दृष्टि से सर स्टैफर्ड क्रिप्स अगस्त १९४० की लिनलिथगो-घोषणा से तनिक भी आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं थे। दूसरी ओर कांग्रेस किसी ऐसे प्रस्ताव को मानने के लिए तैयार नहीं थी, जिसमें वर्त्तमान के सम्बन्ध में किसी ठोस कदम के उठाए जाने का आश्वासन न हो। क्रिप्स-प्रस्ताव अंग्रेजी सरकार की ओर से समझौते का अन्तिम प्रस्ताव था। उसकी असफलता पर देश भर में निराशा, असन्तोष और विक्षोभ की एक आँधी सी उठ खड़ी हुई। कुछ प्रखर-बुद्धि राजनीतिज्ञों ने उलझन से निकलने की वैधानिक चेष्टाएँ कीं। श्री राजगोपालाचार्य ने अपनी पाकिस्तान-सम्बन्धी योजना के द्वारा कांग्रेस और मुस्लिम लीग को कुछ निकट लाने का प्रयत्न किया; परन्तु क्रिप्स-प्रस्ताव के खोखलेपन ने गांधीजी के धैर्य को डिगा दिया था और उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए विवश कर दिया था कि अब इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह गया था कि अंग्रेजों से स्पष्ट शब्दों में हिन्दुस्तान छोड़ने के लिए कह दिया जाए। गांधीजी के आदेश पर कांग्रेस ने ८ अगस्त १९४२ की रात को 'भारत छोड़ो' का अपना ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया और ९ अगस्त की महत्त्वपूर्ण प्रभात-वेला में गिरफ्तारी के समय स्वयं गांधीजी ने 'करो या मरो' के मंत्र से देश की नवोत्थित आत्मा को दीक्षित किया।

९ अगस्त १९४२ को नेताओं की गिरफ्तारी के बाद ही बिना किसी मार्ग-निर्देश और बिना किसी तैयारी के एक महान् जन-विद्रोह अपनी समस्त शक्ति के साथ देश भर में फैल गया। नेताओं के अभाव में जनता ने जो ठीक समझा, किया। ९ अगस्त की रात को ही अपने एक ब्रॉडकास्ट भाषण में भारत-मंत्री मि० एमरी ने सूचना दी कि

कांग्रेस रेल की पटरियाँ उखाड़ने, बिजली और तार के खंभे नष्ट करने और सरकारी इमारतों को जला देने का एक बृहद् कार्यक्रम तैयार कर रही थी। भारत-मंत्री के इस भाषण ने नेताओं की
गिरफ्तारी से क्षुब्ध भारतीय देशभक्तों को अपनी राष्ट्रीय उत्थान की भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए एक रास्ता तीसरी लहर
दिखाया। यूरोप में जर्मनी के अधिकार में जो देश
आ गए थे, उनमें भी प्रतिरोध की भावना इसी प्रकार के कामों में अभिव्यक्ति पा रही थी। रेल की पटरियाँ उखाड़ने और सरकारी इमारतों को नष्ट कर देने की घटनाएँ हम आए दिन अखबारों में पढ़ा करते थे। जापान के अधीनस्थ देशों में सुभाषचन्द्रजी और जो दूसरे भारतीय नेता काम कर रहे थे, उन्होंने भी हमें इसी मार्ग पर चलने का बढ़ावा दिया। १९४२ का महान् जन-आन्दोलन भारतीय जनता की विक्षुब्ध और सहज ही उमड़ उठनेवाली भावनाओं का परिचायक था। ९ अगस्त और ३१ दिसम्बर के बीच, सरकारी आँकड़ों के अनुसार, साठ हजार से अधिक व्यक्ति गिरफ्तार किए गए, अठारह हजार भारत-रक्षा कानून के अन्तर्गत नियंत्रण में रखे गए और क्रमशः ९४० और १६३० पुलिस और फौज की गोलियों से मारे गए और घायल हुए। सरकारी आँकड़ों के अनुसार १९४२ के आन्दोलन में कुल १०२८ व्यक्ति मारे गए और ३२०० घायल हुए; पर यह देखते हुए कि जब स्वयं सरकारी विज्ञप्तियों के अनुसार ५३८ अवसरों पर गोली चलाई गई, दस हजार से कम व्यक्तियों के मारे जाने का कोई भी अनुमान सही नहीं हो सकता—यों जनसाधारण में तो इस आन्दोलन में अपने प्राणों की भेंट चढ़ानेवाले व्यक्तियों की संख्या पचीस हजार आँकी जाती है। पर १९४२ के आन्दोलन की व्यापकता का अन्दाजा हम गिरफ्तार होने, मारे जाने या घायल किए जानेवाले लोगों की संख्या से नहीं लगा सकते। सरकारी दमन के शिकार वही लोग हुए, जो सिद्धान्त अथवा परिस्थितियों के कारण उससे बच नहीं सके। दूसरे लोगों ने सत्य और अहिंसा को एक ओर रखकर गुप्त ढंग से विदेशी शासन के विरुद्ध अधिक से अधिक घृणा और विद्रोह की भावना का प्रचार किया। कई स्थानों पर, विशेषकर बिहार, बंगाल के मिदनापुर जिले, उत्तर-प्रदेश के बलिया आदि दक्षिण-पूर्वी जिलों में विदेशी शासन

चकनाचूर कर दिया गया और राष्ट्रीय शासन की स्थापना की गई। महाराष्ट्र के कई भागों में भी यही हुआ। १९४२ के आन्दोलन की विशेषता यह थी कि मुस्लिम लीग को छोड़कर देश की सभी राजनीतिक संस्थाओं के कार्यकर्त्ता प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उसमें सहयोग दे रहे थे—यह कांग्रेस का आन्दोलन नहीं रह गया था, जन-साधारण का आन्दोलन बन गया था—और देशी राज्यों में भी वह उतनी ही तेजी से फैला जितना ब्रिटिश भारत में। परन्तु अंग्रेजी सरकार की नृशंस दमन नीति और नेताओं के प्रभाव के कारण कुछ समय के बाद उसका शिथिल पड़ जाना स्वाभाविक था।

राजनीतिक गत्यवरोध को सुलझाने के लिए मई १९४५ में भूलाभाई देसाई और लियाकतखाँ में एक समझौता हुआ जिसे लेकर तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड वेवल मंत्रि-मंडल से सलाह लेने के लिए इंग्लैंड गए और वहाँ से लौटकर उन्होंने शिमला कान्फ्रेन्स का आयोजन किया। समझौते का यह प्रयत्न सफल नहीं हो सका; पर इससे यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय राष्ट्रीयता के बढ़ते हुए वेग से समझौता करने के लिए अंग्रेजी सरकार को विवश होना पड़ेगा। उन्हीं दिनों इंग्लैंड में नए चुनाव हुए जिनके परिणाम-स्वरूप चर्चिल की अनुदार सरकार के स्थान पर मजदूर दल के हाथ में शासन की बागडोर आई। मजदूर दल की सरकार बनने के कुछ ही दिनों के बाद एक ऐसी घटना हुई, जिससे भारतीय राष्ट्रीयता को बढ़ती हुई शक्ति का परिचय एक बार फिर संसार को मिला। यह घटना दिल्ली के लाल किले में आजाद हिन्द फौज के तीन नेताओं का, जिनमें एक हिन्दू, एक मुसलमान और एक सिख थे, मुकदमा था। यह मुकदमा जिन दिनों दिल्ली में चल रहा था, उन्हीं दिनों देश में चुनाव हो रहे थे। संयोग से मिल जानेवाली इन दोनों बातों ने देश के वातावरण में एक विचित्र कम्पन, स्फूर्ति और उत्साह भर दिया। आजाद हिंद फौज के वीरतापूर्ण कार्यों की घर-घर में चर्चा होने लगी। सुभाष बोस के व्यक्तित्व के प्रति हमारे मन में अचानक श्रद्धा और ममत्व की एक अनोखी भावना का उदय हुआ और हिन्दू और मुसलमानों में भाईचारे का जोश एक बार फिर उमड़ पड़ा। यह राष्ट्रीय उत्साह जब अपने पूरे जोर पर था, तभी अंग्रेजी पार्लियामेंट के एक शिष्ट-मंडल ने

१९४५-४६ की क्रान्ति

हिन्दुस्तान में दौरा किया। इस उत्साह की उन पर भी गहरी प्रतिक्रिया हुई। यह भावना नागरिकों तक ही सीमित नहीं थी, सेना में भी फैलती जा रही थी। फरवरी १९४६ में सरकारी जहाजी बेड़े के नाविकों ने विद्रोह की घोषणा की और यह खुली बगावत धीरे-धीरे बंबई, कराची और मद्रास आदि सभी स्थानों में फैल गई। विद्रोह आरम्भ होने के २४ घंटों के भीतर बम्बई और उसके आसपास के नगरों के बीस हजार नाविकों और बन्दरगाह के बीस जहाजों में उसकी लपटें फैल चुकी थीं। इन लोगों ने जहाजों के मस्तूलों पर से यूनियन जैक को हटाकर कांग्रेस और लीग के झंडे को साथ-साथ लहराया। जिन दिनों नाविकों का यह विद्रोह चल रहा था, उन्हीं दिनों ब्रिटेन ने भारतीय राजनीतिक गुत्थी को अन्तिम रूप से सुलझाने के विचार से, कैबिनट के प्रमुख मन्त्रियों का एक मिशन हिन्दुस्तान भेजने की घोषणा की। मार्च १९४६ में केबिनट-मिशन हिन्दुस्तान पहुँचा और विभिन्न राजनीतिक दलों के साथ एक लंबी बातचीत के बाद १६ मई १९४६ को उसने एक निश्चित योजना देश के सामने रखी। जैसा केन्द्रीय धारासभा के यूरोपीय दल के नेता ने अपने एक भाषण में कहा, "कैबिनट मिशन के हिन्दुस्तान आने के पहले हिन्दुस्तान बहुत से लोगों की राय में, एक क्रान्ति के किनारे पर था, कैबिनट-मिशन योजना ने इस क्रान्ति को स्थगित करने की दिशा में बहुत बड़ा काम किया।"

माउंटबेटन-योजना और स्वाधीनता का उदय

कैबिनट मिशन योजना का आधार देश को संयुक्त और अविभाजित रखने पर था, पर उसमें एक निर्बल केन्द्रीय शासन की कल्पना की गई थी। आरंभ में तो कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने इस योजना को मान लिया; पर एक बार स्वीकार कर लेने के बाद मुस्लिम लीग ने केबिनट-मिशन योजना को ठुकरा दिया और देश के विभाजन की माँग को दुहराया। इसके परिणामस्वरूप सांप्रदायिक तत्त्व देश में एक बार फिर प्रबल हो उठे और कलकत्ता, नोआखाली और टिपेरा, बिहार और गढ़मुक्तेश्वर, और पश्चिमी पंजाब की हृदय को हिला देनेवाली घटनाएँ हमारे सामने आती गईं। इधर, अंग्रेज शासक इस बात को बिलकुल स्पष्ट रूप से समझ गए थे कि भारतीय राष्ट्रीयता अब इतनी बड़ी शक्ति बन गई है कि उसे कुचला नहीं जा सकता। मजदूर दल के

व्यवहारकुशल नेताओं ने यह भी देख लिया कि भारतीय राष्ट्रीयता को यदि उन्होंने एक बार फिर चुनौती दी, तो अपने क्षीण होते जानेवाले आर्थिक साधनों और ढहते हुए साम्राज्य की समस्त शक्ति लगाकर भी वे उसे दबा नहीं सकेंगे। उनके सामने यह स्पष्ट हो गया था कि भारतीय राष्ट्रीयता के साथ समझौता कर लेने के अतिरिक्त-कोई दूसरा मार्ग उनके पास रह नहीं गया था। उन्होंने यह देख लिया था कि साम्राज्यवाद एक खोखली और निस्सार वस्तु रह गई है और यह भी समझ लिया था कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के तेजी से बदलते हुए घटना-चक्र में वह एक खतरनाक वस्तु भी हो सकती है। वस्तुस्थिति को ठीक से पहचानकर उन्होंने जून १९४८ तक हिन्दुस्तान को आजाद कर देने की एक साहस-पूर्ण घोषणा कर दी। ३ जून १९४७ को प्रकाशित माउंटबेटन योजना में इस निश्चय के क्रियात्मक रूप को सामने रखा गया, और निश्चित अवधि से दस महीने पहले, १४ अगस्त १९४७ की मध्य-रात्रि को भारतवर्ष की स्वाधीनता की घोषणा कर दी गई और तीस करोड़ व्यक्तियों का यह देश अंग्रेजी साम्राज्यवाद की दासता के जुए को अपने कंधों से उतारकर एक बड़े और स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में संसार के सामने आ गया।

पर विभाजन क्यों?

परन्तु जहाँ हमें एक ओर वह आजादी मिली जिससे अपने भाग्य के हम स्वयं विधाता बने, वहाँ दूसरी ओर भौगोलिक, आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक दृष्टि से सदियों से एक रहनेवाले इस देश के बँटवारे को भी हमें स्वीकार करना पड़ा। एकता की बड़ी कीमत पर हमें आजादी प्राप्त हुई। पिछले साठ वर्षों से कांग्रेस के भीतर व बाहर के हमारे राष्ट्रीय नेता जिस आजादी के लिए संघर्ष कर रहे थे, वह इस प्रकार की कटी-बँटी आजादी नहीं थी। हमारे देश के असंख्य नौनिहालों ने जिस आजादी के लिए अपने मूल्यवान् प्राणों की भेंट चढ़ाई थी, वह अटक से अराकान तक और हिमालय से कन्याकुमारी तक समूचे देश की आजादी थी। एकता की कीमत पर हमने आजादी के इस मार्ग को क्यों चुना? राष्ट्र के प्रखर नेतृत्व में देश के बँटवारे को क्यों स्वीकार किया और एक अखंड, अविभाज्य हिन्दुस्तान की आजादी के लिए अपने प्रयत्न क्यों जारी न रखे? इस प्रकार के प्रश्न हमारे मन में

उठना स्वाभाविक है। इनका संतोषजनक उत्तर तो भविष्य ही दे सकेगा; पर यह स्पष्ट है कि जून १९४७ में राष्ट्रीय नेतृत्व के सामने इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मार्ग नहीं रह गया था। अंग्रेजों ने हिन्दुस्तान को छोड़कर चले जाने का निश्चय कर लिया था। कांग्रेस और मुस्लिम-लीग के मतभेदों को देखते हुए और यह देखते हुए कि कांग्रेस के राष्ट्रीय होने के दावे के सही होने के बावजूद भी देश के करोड़ों मुसलमानों का विश्वास कायदे-आजम और मुस्लिम-लीग में है, अंग्रेजी सरकार इस स्थिति में नहीं थी कि वह कांग्रेस के हाथ में सारे हिन्दुस्तान की राज्य-सत्ता सौंप दे। कांग्रेस और मुस्लिम-लीग में समझौते के सभी प्रयत्न असफल हो चुके थे। एक वर्ष पहले केबिनट-मिशन योजना के अन्तर्गत जिस मिले-जुले शासन की व्यवस्था की थी, वह मुसलमानों को मंजूर नहीं थी और केन्द्रीय शासन के भीतर मुस्लिम-लीग का जो रवैया रहा, उससे कांग्रेस के नेताओं को यह विश्वास हो गया था कि वे वहाँ केवल उनके काम में अड़ंगा डालने के लिए हैं, परिस्थितियों ने इस प्रकार कांग्रेस के नेतृत्व के द्वारा देश के बँटवारे की माँग को स्वीकार करना अनिवार्य बना दिया। इस प्रकार हमे आजादी तो मिली—एक बड़े साम्राज्य के समस्त पाशविक बल का आततायी बोझा हमारे सिर पर से हट गया—पर उसके साथ धार्मिक आधार पर देश का बँटवारा भी हमें मिला। और आजादी और विभाजन के इस अनोखे मिश्रण से कुछ विचित्र समस्याएँ हमारे सामने खड़ी हो गईं, जिनके परिणाम-स्वरूप उस समय के लिए तो हमारा राष्ट्रीय अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया था।

हमने साहस के साथ न केवल उन परिस्थितियों पर काबू ही पाया, एक धर्म-निरपेक्ष लोक-राज्य की स्थापना के लिए एक प्रगतिशील गणतंत्रात्मक संविधान का निर्माण भी किया और
स्वाधीनता के इस शैशव-काल में ही अन्तर्राष्ट्रीय स्वतंत्र भारत की राजनीति पर एक गहरा प्रभाव डालने में समर्थ हुए। समस्याएँ
पिछले सात वर्षों में जहाँ हमने बहुत कुछ किया है,
बहुत कुछ और करना अभी शेष है। हमारे सामने आन्तरिक पुनर्निर्माण के बड़े-बड़े कार्यक्रम हैं। डेढ़ सौ वर्षों तक एक हृदयहीन विदेशी सत्ता के द्वारा हमारा जो आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक निःसत्त्वीकरण हुआ है, उसकी चोट से हमें उभरना है। अंग्रेजी शासन के कारण

हमारा औद्योगीकरण जो पिछड़ गया है, तेजी के साथ हमें उसकी पूर्ति करना है। एक बड़े देश की अपार जनसंख्या को शिक्षित और स्वस्थ बनाना है और जनतंत्र के सिद्धान्तों में उसे दीक्षित करना है। अभी तो हमने एक ही प्रकार की गुलामी से मुक्ति पाई है। एक विदेशी शासन के जुए को हम अपने कंधे से उतारकर फेंक सके हैं और अपने देश में एक ऐसे देश की स्थापना करने में सफल हुए हैं जिसका आधार राजनीतिक दृष्टि से इस देश में रहनेवाले प्रत्येक नागरिक की समानता में है। परन्तु दूसरे देशों का इतिहास हमें बताता है कि किसी भी ऐसे देश में जहाँ केवल राजनीतिक स्वतंत्रता हो, पर सामाजिक और आर्थिक समानता न हो, राजनीतिक समानता भी धीरे-धीरे अपना मूल्य गँवा बैठती है। हमारा समाज आज भी ब्राह्मण-अब्राह्मण, कुलीन-अकुलीन, सवर्ण और अस्पृश्य आदि में बँटा हुआ है। समृद्ध जमींदार और भूखा किसान, महलों में रहनेवाला पूँजीपति और सर्दी से ठिठुरता हुआ मजदूर, ये विषमताएँ भी आज हमारे समाज में मौजूद हैं। सामाजिक असमानताओं के इस वातावरण में सच्चा जनतंत्र पनप नहीं सकता। सामाजिक समानता के साथ ही आर्थिक समानता के प्रश्न को भी हमें लेना होगा। देश के प्राकृतिक साधनों का समाजीकरण और उत्पत्ति का इस ढंग से बँटवारा करना होगा कि वे अधिक से अधिक लोगों के सुख का साधन बन सकें। दूसरे शब्दों में भारतीय जनतंत्र के आधार को इतना व्यापक बनाना होगा कि उसमें राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक सभी प्रकार की समानता का समावेश हो सके।

अभ्यास के प्रश्न

१—दूसरे महायुद्ध के अवसर पर भारत में उत्पन्न होनेवाले राजनीतिक गत्यवरोध के कारणों पर प्रकाश डालिए।

२—क्रिप्स-प्रस्तावों का संक्षिप्त विवरण दीजिए और बताइए कि भारतीय नेताओं ने क्यों उन्हे अस्वीकृत कर दिया?

३—१९४२ की क्रान्ति की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख कीजिए। इस क्रान्ति की असफलता के क्या कारण थे?

४—उन परिस्थितियों का संक्षेप मे उल्लेख कीजिए, जिन्होंने अंग्रेजी शासन को भारतवर्ष से हट जाने पर विवश किया।

५—भारत के विभाजन के कारणों और परिस्थितियों पर प्रकाश डालिए।

६—स्वतंत्र भारत की प्रमुख समस्याओं का उल्लेख कीजिए और यह बताइए कि उनके सुलझाने में हम कहाँ तक सफल हो रहे हैं।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Crupland : Report on the Constituional Problem in India.
2. Palme Dutt: India Today.
3. Varma, S. P : Problem of Democracy in India.
4. ,, ,, स्वाधीनता की चुनौती

अध्याय २३

भारतीय कला

भारतीय चित्रकला अपनी विशेषता के लिए प्रसिद्ध है। इसमें धार्मिक तथा मानव-हृदय की भावनाओं का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है। अजंता की गुफाओं में जो दीवारों पर सुन्दर चित्रकारी मिलती है वह ईसा से एक सौ वर्ष पूर्व से लेकर सातवीं शताब्दी के समय की है। यह चित्रकारी वास्तव में भारत की प्राचीन सभ्यता का एक नाटक है, जो कि दीवारों पर चित्रित किया गया है। भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग की सभ्यता और संस्कृति को मानो चित्रकारों ने दीवार पर अंकित कर दिया है। इन चित्रों की सुन्दरता और रङ्गों की ताजगी इतनी मनोमोहक है कि अजंता की चित्रकारी वास्तव में भारत की राष्ट्रीय चित्रशाला है। अजंता की चित्रकला का प्रभाव केवल भारत की चित्रकला पर ही नहीं पड़ा, वरन उसका प्रभाव भारत के पड़ोसी मध्य एशिया, बरमा, लका, चीन और जापान पर भी पड़ा। इन महान चित्रकारों ने इन चित्रों में भगवान् बुद्ध की महानता का वास्तविक चित्रण सफलतापूर्वक किया है। अजंता का सर्वोत्तम चित्र "अवलोकितेश्वर पद्मपाणि" है।

अजंता शैली की चित्रकला

अजंता शैली का हमारी चित्रकला पर कितना अधिक प्रभाव पड़ा, यह तो इसी से स्पष्ट है कि कई स्थानों पर उसका अनुकरण किया गया। ग्वालियर राज्य के बाघ की चित्रकला, दक्षिण भारत के सित्तानावासल और लंका की सिगिरिया की दीवारों पर अंकित चित्रकारी इसी शैली के उत्कृष्ट नमूने है।

आठवीं शताब्दी के उपरान्त दीवारों पर चित्रकला का रिवाज कम हो गया और छोटे चित्रों की ओर झुकाव अधिक बढ़ा। बंगाल में

पाल शैली

पाल-शैली (६वीं ईसवी से १२वीं ईसवी तक) और गुजरात-शैली (११वीं ईसवी से १५वीं ईसवी तक) की चित्रकला इसी श्रेणी की है। यह छोटी चित्रकारी बहुधा हस्त-लिखित ग्रन्थों पर होती थी। प्रसिद्ध बौद्ध हस्तलिखित ग्रन्थ "प्रजनापरामित्ता" के कुछ ताड़ पत्र जिन पर यह सुन्दर छोटे चित्र बने हैं, आज भी उपलब्ध हैं।

गुजरात-शैली

पश्चिम भारत में पाल-शैली के समान ही गुजरात शैली की छोटी चित्रकारी का उदय हुआ। यह चित्रकारी ताड़-पत्र और कागज दोनों पर ही मिलती है। सर्वोत्तम चित्रकारी उस परिवर्त्तन काल (ईसवी १३५० से १४५० ईसवी तक) की है जब कि ताड़-पत्र का स्थान कागज ले रहा था। इस शैली की विशेपता मुख लम्बा, नुकीली नासिका, वाहर निकली हुई आँखें और अत्यधिक सजावट थी। अधिकांश चित्र सवा दो इंच लम्बे और उतने ही चौड़े हैं। पहले के चित्रों में लाल पृष्ठभूमि और सादे रङ्गों का समावेश है, परन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के चित्रों में नीले और सुनहले रङ्गों का अधिक उपयोग किया गया है। यह चित्र जैन धर्म और कृष्ण-लीला से अधिक सम्बन्ध रखते हैं। "वसन्त विलास" नामक कपड़े पर की हुई चित्रकारी वसन्त की शोभा का अद्वितीय नमूना है। यह ईसवी १४५१ की चित्रकारी है। इस चित्रकला की विशेपता यह है कि इसमें सूक्ष्म कला का सुन्दर चित्रण किया गया है।

राजस्थानी चित्रकला

राजस्थानी चित्रकला (सोलहवीं और सत्रहवीं ईसवी) में भारतीय कला का शुद्ध रूप उद्भासित होता है। इसमें प्रेम और देव आराधना ही मुख्य विषय मिलते हैं। यदि राजस्थानी चित्रकला के साथ हम पश्चिमीय हिमालय (१७वीं और १८वीं ईसवी) की कलम को और सम्मिलित करलें तो राजस्थानी चित्रकला का स्थान संसार की चित्रकला में बहुत ऊँचा माना जावेगा। प्रेम का जैसा उत्कट चित्रण राजस्थानी कला में मिलता है, वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है।

इन चित्रों में स्त्रियों के आदर्श-सौंदर्य को प्रदर्शित किया गया है। बड़ी-बड़ी कमल की पंखुड़ियों जैसी आँखें, लम्बे केश, उन्नत उरोज,

पतली कमर और गुलाब जैसे हाथों का बहुत सुन्दर चित्रण मिलता है। इन चित्रों में हिन्दू स्त्री के हृदय की भावनाओं का भी अत्यन्त सजीव चित्रण है। इन चित्रों में तेज सुन्दर रंगों का बड़ी चतुराई से उपयोग किया गया है। राजस्थानी चित्रकला के विषयों में कृष्ण-लीला, शृंगार, प्रेमी और प्रेमिका, शिव-पार्वती, रामायण, महाभारत, हम्मीर हठ, नल-दमयन्ती, बारह मास और रागमाला मुख्य हैं। रागमाला भारत की विशेषता है। इसमें रागों को भावपूर्ण चित्रों में चित्रित किया गया है। संगीत और चित्रकला का यह सम्बन्ध भारतीय कला की अपनी विशेषता है।

राजस्थानी चित्रकला और विशेषकर रागों के चित्रण ने हिमालय पर्वतीय चित्रकला को जन्म दिया है। यह चित्रकला हिमालय प्रदेश, जम्मू, बासोहली, चम्बा, नुरपुर, कांगड़ा, कुलू, मंडी, सुकेत और गढ़वाल में पनपी और विकसित हुई। हिमालय-कला का मुख्य विषय कृष्ण की बाल-लीला और राधा है।

हिमालय शैली

मुगल सम्राट् कला प्रेमी थे, इस कारण उनके शासन-काल में चित्रकला का खूब विकास हुआ। अकबर ने भारत के सभी प्रान्तों और विशेषकर गुजरात और राजस्थान से सैकड़ों चित्रकारों को बुलाकर उन्हें संस्कृत और फारसी के महत्वपूर्ण हस्तलिखित ग्रन्थों में चित्र बनाने का काम सौंपा। इनमें तैमूर-वंश का इतिहास जिसकी प्रति बाँकीपुर में मौजूद है; महाभारत जिसमें १६६ सुन्दर चित्र हैं, जो जयपुर में सुरक्षित है; हजनामा प्रेम कथाओं की पुस्तक, जिसमें १३७५ चित्र हैं; रामायण, अकबरनामा, इयारे-दानिश मुख्य है। अकबर के संरक्षण में यह एक नवीन चित्रकला की शैली का जन्म हुआ, जिसमें राजस्थानी और ईरानी कला का मिश्रण था। इन चित्रों में मुगल दरबार, महलों के जीवन, सम्राट् और उनके सरदारों के मित्र रहते थे।

मुगल चित्रकला

जहाँगीर के शासन-काल में भी चित्रकला का विकास हुआ। उस समय के चित्रों में रेखाओं का सौंदर्य और हलके रंगों का मिश्रण एक विशेषता थी। अधिकांश चित्र उसके जीवन से सम्बन्धित हैं अथवा

चिड़ियों और पशुओं के हैं, क्योंकि जहाँगीर को यह प्रिय थे। उसके आदेश पर उस्ताद मंसूर ने बहुत से सुन्दर चित्र बनाये थे।

यद्यपि शाहजहाँ का ध्यान चित्रकला की ओर इतना नहीं था जितना भवन निर्माण की ओर, फिर भी वह चित्रकारों को प्रोत्साहन देता रहा। उसके समय में दरबार, संत और फकीरों तथा सरदारों के चित्र बहुत बने। औरंगजेब के समय में चित्रकला को धक्का लगा।

मुगल-काल की चित्रकला में अधिकतर महलों के जीवन का चित्रण रहता था, जिसमें सम्राट् स्त्रियों के सहवास में गाना सुनते हुए और मदिरा पीते हुए दिखाई देते थे।

दक्षिण की चित्रकला

दक्षिण में गोलकुंडा और बीजापुर दरबारों के प्रोत्साहन से दक्षिण चित्रकला की शैली का उदय हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी भारतीय चित्रकला का पतन-काल था। मुगल साम्राज्य का पतन हुआ तो चित्रकला का भी पतन हुआ। केवल देहली, लखनऊ और पटना में थोड़ी चित्रकारी होती थी; किन्तु वह सस्ती कला थी और भारत के पतन का उस पर पूरा प्रभाव था। कांगड़ा (पहाड़ी) चित्रकला १९०५ में वहाँ भयंकर भूचाल आने से बिलकुल लुप्त हो गई।

भारतीय चित्रकला का पतन

१८५४ में कलकत्ता जो कि उस समय अंग्रेजों की सत्ता का प्रमुख केन्द्र था, वहाँ कलकत्ता स्कूल आव आर्टस स्थापित हुआ, जिस पर अंग्रेजी चित्रकला का पूरा प्रभाव था। इस पतन-काल में केवल 'राजा रवि वर्मा' ने भारतीय चित्रकला को जीवित रक्खा और कुछ सुन्दर चित्र तैयार किए। उस समय भारतीय चित्रकला में विदेशी चित्रकला की नकल करने की प्रवृत्ति जागृत हो उठी थी।

भारत मे चित्रकला का पुनः उदय

भारतीयों को इस नकल से बचाने और भारतीय चित्रकला को पुनः जीवित करने का श्रेय श्री ई० बी० हैवल को है, जो कलकत्ता स्कूल आव आर्ट्स के अध्यक्ष थे। उनको इस कार्य में श्री अवीन्द्रनाथ टैगोर से पूरी सहायता मिली। टैगोर ने कुछ तरुण चित्रकारों को जमा किया और इन्हीं लोगों ने बंगाल की नवीन चित्रकला की नींव डाली।

इन चित्रकारों ने फिर अजंता, राजपूत और मुगल चित्रकला से प्रेरणा ली और वे रामायण, महाभारत, गीता, पुराण, कालिदास और उमरखय्याम तथा भारतीय इतिहास की घटनाओं का चित्रण करने लगे। इन बंगाली चित्रकारों ने यूरोपीय ढंग के तैलचित्रों को छोड़ दिया और 'वाटर कलर' को अपनाया। साथ ही उन्होंने चीनी, जापानी और ईरानी चित्रकला से भी प्रेरणा ली। श्री अवीन्द्रनाथ टैगोर के अतिरिक्त श्री नन्दलाल बोस ने अजंता के चित्रकारों की भावना को अपने चित्रों में उतारना आरम्भ किया और उनके चित्रों में बौद्धकाल की चित्रकला के दर्शन हुए। इसके अतिरिक्त श्री असितकुमार हल्दार, समारेन्द्रनाथ गुप्त, अब्दुर रहमान चगताई इस शैली के प्रसिद्ध कलाकार हैं। देवीप्रसाद राय चौधरी ने पूर्वीय और पश्चिमीय चित्रकला का सुन्दर समन्वय किया है, जो उनकी भूटिया स्त्री तथा तिब्बती युवती के चित्रों में लक्षित होता है। पुलिन बिहारी मित्र ने सिद्धार्थ तथा मीरा को अपनी तूलिका का विषय बनाया, प्रमोदकुमार चटर्जी ने हिमालय के जीवन को अपनी तूलिका से चित्रित किया है। इन्हीं कलाकारों ने देश के भिन्न प्रान्तों में जाकर आर्ट्स स्कूल या कालेजों के अध्यक्ष पद को सुशोभित किया और इस प्रकार इस शैली का प्रभाव समस्त भारतवर्ष में फैल गया।

बंगाली-चित्रकला

बम्बई स्कूल आव आर्ट्स में अवश्य ही इस बात का प्रयत्न किया गया कि पश्चिमीय ढंग की कला का भी उपयोग किया जावे। परन्तु उन्होंने भारतीय परम्परा को भी बनाये रक्खा। बाम्बे स्कूल आफ आर्ट्स ने अजन्ता को भुलाया नहीं और अजंता की कला को अपनाया। बम्बई स्कूल आव आर्ट्स के विद्यार्थियों ने श्री जान ग्रिफिथ (स्कूल के आचार्य) की देख-रेख में अजंता के फ्रैस्को पेंटिंग की सुन्दर नकल की है और उनके द्वारा अंकित देहली के सचिवालय (सेक्रेटैरियट) की दीवारों पर बनाये गए चित्रों में उसका स्पष्ट प्रभाव लक्षित होता है।

बम्बई स्कूल आव आर्ट्स

भारतीय चित्रकला में आधुनिकवाद के प्रवर्त्तकों और उन्नायकों में श्री गगेन्द्रनाथ टैगोर, श्री रवीन्द्रनाथ टैगोर, श्री जैमिनी राय और श्रीमती

अमृत शेरगिल मुख्य हैं। इन चित्रकारों का उद्देश्य यह था कि केवल प्राचीन विषयों और प्राचीन परम्परा से ही चिपके रहना उचित नहीं है। यद्यपि श्रीमती अमृत शेरगिल भारतीय चित्रकला 'अजंता' की चित्रकला की परम प्रशंसक थीं और में आधुनिकवाद उसको वे सर्वकालीन चित्रकला का शुद्ध रूप मानती थीं।

आज भारतीय-चित्रकला में संसार की सभी प्रमुख चित्रकला शैलियों का प्रभाव पड़ता दिखलाई देता है।

ईसा से हजारों वर्ष पहले भारत में मूर्त्तिकला विकसित हो चुकी थी। सिंध घाटी में स्थित मोहनजोदड़ो (सिंध मे) और हरप्पा (पश्चिमीय पंजाब) के भग्नावशेषों से यह पता चलता है कि ईसा के हजारों वर्ष पूर्व भी मूर्त्तिकला का इस देश में भारत में मूर्त्तिकला विकास हो चुका था। इन प्राचीन नगरों की खुदाई से जो हमें घर में प्रतिदिन काम आनेवाली वस्तुएँ मिली हैं, उनकी सुन्दरता और बनावट से उनके बनानेवालों की सुन्दर रुचि और कला का आभास मिलता है। मोहनजोदड़ो तथा हरप्पा की खुदाई में जो सुन्दर मिट्टी के वर्तन मिले हैं, उनकी बनावट और उन पर बनी हुई सुन्दर चित्रकारी इस बात का सबल प्रमाण है। मिट्टी के अतिरिक्त पत्थर पर खुदाई करने और धातु की मूर्त्ति बनाने की कला भी उस समय विकसित हो चुकी थी। ब्रांज की बनी हुई नर्त्तकी की मूर्त्ति जो मोहनजोदड़ो से प्राप्त हुई है, और हरप्पा से मिले पुरुष के धड़ की मूर्त्ति, तत्कालीन मूर्त्तिकला के सुन्दर प्रमाण हैं। सिंध की घाटी के इन प्राचीन नगरों की खुदाई में मिली हुई मुहरों पर जिन पशुओं के चित्र अंकित हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं कि भारत में ईसा से चार पाँच हजार वर्ष पहले मूर्त्तिकला यथेष्ट विकास पा चुकी थी।

दुर्भाग्यवश सिंध नदी की घाटी की इस कला का क्रम हमें आगे नहीं मिलता। मोहनजोदड़ो के पश्चात् यदि हमें मूर्त्तिकला के सुन्दर अवशेष मिलते हैं, तो वे मौर्यकाल (ईसा के चार सौ वर्ष पूर्व) के हैं। मौर्यकाल में मूर्त्तिकला बहुत अधिक विकसित हो चुकी थी। उस काल की मूर्त्तिकला में सौंदर्य, भावप्रदर्शन और कारीगरी का इतना सुन्दर प्रदर्शन हुआ है कि उसका भारतीय कला के इतिहास में बहुत ऊँचा स्थान है।

सारनाथ के स्तम्भ पर वने हुए चारों सिंह (जो आज भारत का राजचिह्न है) मौर्यकाल की मूर्त्तिकला का उत्कृष्ट नमूना है। यह ऐसा प्रतीत होता है, मानो किसी महान् कलाकार ने पत्थर पर कविता अंकित की है। इसमें चार सिंह बने है, जो शक्ति के महान् प्रतीक है। उसके नीचे चार दौड़ते हुए पशु है और उनके वीच में चक्र हं, वे मानवजीवन के उतार-चढ़ाव के अन्दर छिपे हुए एकत्व को व्यक्त करते हैं। यह दौड़ते हुए पशु, चक्र और ऊपर चार सिह एक कमल के ऊपर स्थापित है, जिसकी पंखुड़ियाँ नीचे की ओर हैं—जो जीवन के आदि स्रोत और रचनात्मक भावना का द्योतक है। और इस समस्त स्तम्भ के ऊपर 'धर्मचक्र' है।

विहार में स्थित रामपुरवा में जो सम्राट् अशोक द्वारा निर्मित वड़ा स्तम्भ मिला है और जिस पर एक विशाल पत्थर का वृषभ बना था, वह भी मौर्यकाल की मूर्त्तिकला का एक अत्यन्त सुंदर नमूना है।

इन राज्याश्रित मूर्त्तिकला के नमूनों के अतिरिक्त उस काल में धार्मिक मूर्त्तिकला भी वहुत सजीव थी। यक्ष और यक्षिणी की मूर्त्तियाँ इस वात की प्रमाण है कि उस समय भारतीय जीवन में तेज और स्वतंत्रता की भावना बहुत वलवती थी। यह देव मूर्त्तियाँ वास्तव में तत्कालीन स्त्रियों और पुरुषों को चित्रित करती हैं। अपने वातावरण पर विजय प्राप्त करने की भावना तथा विघ्न को नष्ट करने का उल्लास तत्कालीन जीवन की विशेषता थी, वही यक्ष और यक्षणी की मूर्त्तियों में व्यक्त हुई है। पटना जिले के अन्तर्गत दीदारगंज में स्थित यक्षिणी की मूर्त्ति जिसका मुख अत्यन्त चमकदार है, इस भाव को बहुत अच्छी तरह से व्यक्त करती है। भारत की इस प्राचीन मूर्त्तिकला में वैराग्य की भावना देखने को नहीं मिलती, वरन् उसमें व्यवस्था, शक्ति, आशा और सौंदर्य का प्रदर्शन मिलता है।

ईसा के दो सौ वर्ष पूर्व वुद्ध धर्म के प्रभाव से भारत में मूर्त्तिकला और अधिक सजीव हो उठी। साँची और भारहट के स्तूपों और परकोटे पर, और गुफाओं में जो हमें विभिन्न प्रकार का चित्रण (राजाओं, साधारण किसानों, पशुओं और पौधों का) मिलता है, वह इस कला के उत्कृष्टतम नमूने हैं। अमरावती के स्तूप के सुन्दर संगमर्मर के पत्थरों की खुदाई (ईसा से सौ से तीन सौ वर्ष बाद) भी इसी कला का सुन्दर उदाहरण है।

ईसा की मृत्यु के सौ वर्ष बाद मथुरा में भी मूर्त्तिकला का विकास हुआ और मथुरा की कला गुप्तकाल (ईसा से ४००-५०० वर्ष बाद) में अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई। इस काल की कला के उत्कृष्ट नमूने मथुरा, सारनाथ और अजंता की भगवान् बुद्ध की मूर्त्तियाँ हैं। इन मूर्त्तियों का मुख आध्यात्मिक ज्योति से प्रकाशित प्रतीत होता है। गुप्तकाल की यह एक विशेषता है। गुप्तकाल की कला की एक विशेषता यह भी है कि उसमें धार्मिक भावना का सौन्दर्य के साथ सुन्दर समन्वय किया गया है।

मध्य युग (ईसा के बाद आठवीं से बारहवीं शताब्दी तक) की मूर्त्ति-कला में यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत मे बौद्ध-धर्म का प्रभाव कम हो गया था और हिन्दू धर्म का प्रभाव बढ़ गया था। इलोरा और ऐलीफैन्टा के मंदिरों मे जो मूर्त्तियाँ हैं और समुद्र तट पर स्थित महाबालीपुरम की चट्टानों को काटकर बनाए हुए मंदिरों मे बनी मूर्त्तियाँ इस बात के प्रमाण हैं। महाबालीपुरम में तपस्या करते हुए भागीरथ और अर्जुन की जो मूर्त्तियाँ बनी हैं, वे इस कला की शक्ति और सौन्दर्य के उत्तम उदाहरण हैं। इन मंदिरों में देवासुर-संग्राम की कथा का सुन्दर चित्रण किया गया है, जिसमें शिव और विष्णु द्वारा देवताओं की रक्षा करने की दैवी घटनाएँ बहुत सुन्दर ढंग से अंकित की गई हैं।

धार्मिक भावनाओं और कथाओं को अंकित करने के अतिरिक्त मध्य-युग के मूर्त्तिकारों ने सौन्दर्य और प्रेम को भी मूर्त्ति में अंकित करने का प्रशंनीय प्रयत्न किया। उड़ीसा के भुवनेश्वर के मंदिर में जो एक तरुण सुन्दरी प्रेम-पत्र लिखती हुई, माता बालक को खिलाती हुई, और युवती अपने सौन्दर्य को दर्पण मे देखती हुई बनाई गई है, वे भारतीय मूर्त्तिकला के सुन्दरतम नमूने हैं।

इस काल में दक्षिण मे भी मूर्त्तिकला में प्रेम, सौन्दर्य, संगीत और नृत्य को अंकित किया गया। शिकार करती हुई सुन्दर स्त्री और कृष्ण की मूर्त्ति इस कला के सर्वोत्कृष्ट नमूने हैं। सरस्वती की संगमर्मर की सुन्दर मूर्त्ति राजस्थान की तत्कालीन कला का उत्कृष्ट नमूना है।

कालान्तर में भारत की यह मूर्त्तिकला भी गिर गई। जो भी मूर्त्तिकला आज जीवित है, वह देवताओं की मूर्त्तियों और प्रसिद्ध महापुरुषों की मूर्त्तियाँ बनाने तक सीमित है।

भारतीय स्थापत्य कला

(Indian Architecture)

किसी भी देश की स्थापत्य-कला उस देश के जीवन, सामाजिक स्तर और संस्कृति का प्रतिविम्ब होती है। हम किसी भी देश की इमारतों को देखकर उस देश के उस काल के सामाजिक जीवन और संस्कृति के सम्बन्ध में बहुत कुछ जान सकते हैं। प्राचीन-काल में भारत की स्थापत्य-कला बहुत अधिक विकसित हो चुकी थी, इससे यह प्रतीत होता है कि भारत उस समय समृद्धिशाली और उन्नत देश था। अब हम भारत की स्थापत्य-कला के इतिहास का अध्ययन करेंगे।

भारत में आज वैदिक काल की स्थापत्य-कला के कोई भी चिह्न अवशेष नहीं है। अतएव बहुत से विद्वानों का मत है कि उस काल में स्थापत्य-कला अविकसित दशा मे थी और भवन-निर्माण में सम्भवतः चिकनी मिट्टी का पलास्तर, बांस और लकड़ी काम में लाई जाती थी। इस कारण आज वैदिक काल की स्थापत्य-कला का कोई चिह्न शेष नहीं रहा।

वैदिक काल

आज जो भारतीय प्राचीन स्थापत्य-कला के नमूने मौजूद हैं और जो कुछ प्राचीन साहित्य मे हमें प्राचीन स्थापत्य-कला के सम्बन्ध में लिखा मिलता है उसके आधार पर हम भारतीय स्थापत्य-कला का नीचे लिखे अनुसार काल-विभाजन कर सकते हैं।

(१) बौद्ध-स्थापत्य-कला (ईसा से २५० वर्ष पूर्व से ईसा से ७५० वर्ष बाद तक)

(२) जैन-स्थापत्य-कला (ईसा से १००० वर्ष बाद से लेकर १३०० वर्ष बाद तक)

(३) हिन्दू स्थापत्य-कला।

(४) उत्तरीय हिन्दू स्थापत्य-कला

(५) चालुक्य स्थापत्य-कला

(६) द्राविड़ स्थापत्य-कला

(७) मुस्लिम (सारसेनिक) स्थापत्य-कला

आज बौद्ध-स्थापत्य-कला का कोई नमूना पूरे भवन अथवा मन्दिर के रूप में मौजूद नहीं है। परन्तु उस समय की स्थापत्य-कला के सम्बन्ध में बहुत कुछ अनुमान पहाड़ी चट्टानों को
काटकर बनाये गए गुफाओं के मंदिरों को देखकर बौद्ध स्थापत्य-कला
लगाया जा सकता है। कारण यह है कि इन
गुफाओं की चट्टानों को काटकर बनाए गए मंदिर केवल अभिमुख हैं और चट्टानों के सामने के हिस्से को काटकर बनाए गए हैं। इनको देखकर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि वे लकड़ी के काम की नकल हैं, जो कि पत्थरों पर बनाया गया है। इनमें अन्दर के स्तम्भों और छतों पर अत्यन्त सुन्दर कारीगरी का काम है। ऐसा प्रतीत होता है कि खम्भों और छतों को सुन्दर आभूषणों से सजाया गया हो। खम्भे मोटे तथा अधिक ऊँचे नहीं हैं और उन पर अत्यन्त सुन्दर कारीगरी की गई है। छतें अर्द्धगोलाकार हैं।

इस काल के जो स्थापत्य-कला के नमूने मिलते हैं, उनका नीचे लिखे अनुसार वर्गीकरण किया जा सकता है, (१) स्तम्भ, (२) स्तूप (३) रेल (४) चैत्य (५) विहार।

प्रयाग का प्रसिद्ध स्तम्भ जो कि ईसा के २०० स्तम्भ
वर्ष पूर्व का बना हुआ है, इस काल की स्थापत्य-कला
का सुन्दर नमूना है। इन स्तम्भों पर लेख खोदे जाते थे और शेर अथवा हाथी अंकित किए जाते थे।

नर्मदा नदी के उत्तर में इस प्रकार के बहुत से स्तूप बनाए गए थे। इन स्तूपों को उन पवित्र स्थानों को महत्त्व देने के लिए बनाया गया था, जिनका बौद्ध धर्म से गहरा सम्बन्ध था। इन स्तूपों का
सबसे सुन्दर और महत्त्वपूर्ण नमूना साँची का स्तूप स्तूप
है। यह स्तूप १४ फीट ऊँचे एक विशाल प्लैटफार्म पर
बनाया गया है। इसके चार फाटक हैं। यह ठोस ईंटों का बना हुआ है, जिसके बाहरी तरफ पत्थर जड़ा हुआ है। इसका व्यास १०६ फीट है और ऊँचाई ४२ फीट है।

साँची के स्तूप के चारों ओर जो रेल बनाई गई है, रेल
वह स्तूप को घेरे हुए है। उससे भी यह स्पष्ट ज्ञात होता
है, मानो वह लकड़ी के काम की नकल हो। इसके प्रवेश-द्वार ३५ फीट

ऊँचे और ३० फीट चौड़े हैं। इस पर बुद्ध भगवान् के जीवन के सुन्दर दृश्य अंकित हैं।

चैत्य

नासिक, कारली, इलोरा और ऐलीफैन्टा चैत्य मिलते हैं। यह ठोस चट्टानों को काटकर गुफा के रूप में बनाए गए है। इन चैत्यों में अन्त मे बुद्ध भगवान् की मूर्त्ति स्थापित है। छतें अर्द्धगोलाकार और गहरी है। इन चैत्यों का प्रवेश-द्वार घोड़े के नाल के समान धनुषाकार बना है।

विहार अथवा भिक्षुगृह भवन-निर्माण के सुन्दर नमूने है। यह सम्भवत: सन् ४०० ईसवी में निर्मित हुए। इनमे से कुछ में बुद्ध भगवान् की मूर्त्ति के सामने बड़ा आँगन है, कुछ चैत्यों के पास बने हुए है, जिनको चट्टानों को काट कर बनाया गया है, और मध्य मे चौकोना बड़ा स्थान बैठने के लिए बना है।

विहार

जैन-स्थापत्य-कला का आधार बौद्ध स्थापत्य-कला है। अधिकांश जैन स्थापत्य-कला के नमूने धार्मिक स्थानों और मंदिरों के रूप में मिलते हैं। इन मंदिरों में बड़े-बड़े स्तम्भों पर पोर्च बने हुए है और अन्त में विमानगृह अर्थात् देवगृह होता है, जहाँ महावीर भगवान् की मूर्त्ति स्थापित होती है। उसके ऊपर स्तूप के आकार के शिखर होते हैं।

जैन-स्थापत्य कला

माऊंट आबू पर अत्यन्त सुन्दर जैन (दिलवारा के) मंदिर बने हुए हैं। जैन-स्थापत्य-कला के वे सुन्दरतम नमूने हैं। माऊंट आबू के अतिरिक्त पालिताना, पारसनाथ, ग्वालियर, ॠषभदेव और खाजिनाहो के मंदिर भी जैन-स्थापत्य-कला के मुख्य और सुन्दर नमूने हैं।

माऊंट आबू के दिलवारा के मंदिर १०३२ ईसवी में विमल शाह द्वारा निर्मित हुए। दिलवारा के मंदिर संगमर्मर के बने हुए हैं। इन मंदिरों में बहुत विशाल खुले हुए हाल बने है, जिनमें सुन्दर स्तम्भ हैं, जिन पर सुन्दर कारीगरी अंकित है। शिखर के अन्दरूनी भाग में भी कल्पनातीत सुन्दर कारीगरी अंकित है। उसमें १६ मूर्त्तियाँ बनी है और बीच में सुन्दर गोल चक्र अंकित है।

मेवाड़ में सादड़ी के समीप रनपूर में जो प्रसिद्ध जैन मंदिर है, वह अरावली पर्वत श्रेणी के एक ओर बना हुआ है। इसको १४३६ ईसवी में बनाया गया। सम्भवतः भारत में यह सबसे विशाल और पूर्ण जैन मंदिर है। इसमें ८६ देवगृह हैं, जिन पर शिखर बने हैं। इसमे पाँच देवमंदिर है। केन्द्रीय मंदिर मे श्री आदिनाथ की मूर्त्ति स्थापित है। मंदिर में ४०० स्तम्भों पर वीस गोलाकार स्तूप बने है, जिनका व्यास २१ फीट है। बीच के स्तूप मे तीन मंजिल बनी हैं और उसका व्यास ३६ फीट है। अन्दर जो अद्भुत कारीगरी की गई है, उसे देखकर ऐसा प्रतीत होता है, मानो बनानेवाले ने उसको पत्थर पर अंकित नहीं किया है, वरन कागज पर या वस्तु पर अंकित किया है। इतनी सुन्दर कारीगरी बहुत कम देखने को मिलती है।

हिन्दू स्थापत्य-कला

हिन्दू स्थापत्य-कला के तीन नमूने हमें देखने को मिलते हैं। इनमें स्थानीय भेद होते हुए भी साम्य है। प्रत्येक मंदिर मे एक छोटा विमान होता है और प्रवेश मार्ग के लिए पोर्च बना होता है। इन पर इतनी अधिक नक्काशी और कारीगरी अंकित होती है जो कि और कहीं मिलना कठिन है। ऐसा प्रतीत होता है कि कारीगरों ने तन्मय होकर अपने श्रम और कारीगरी की भेंट देवता को चढ़ाई हो। प्रत्येक हिन्दू-मंदिर में कारीगरी की बहुलता दिखलाई पड़ती है। इतना साम्य होते हुए भी हिन्दू स्थापत्य-कला के तीनों नमूनों में स्थानीय भेद हैं। (१) उत्तरीय हिन्दू कला में छत पिरामिड के आकार की कुछ गोलाकार होती है। द्रविड़ कला में छत सीढ़ियों के समान बनी होती है। (२) चालुक्य कला मे उत्तर हिन्दू-कला और द्रविड़ कला का सम्मिश्रण है। (३) द्रविड़-कला मे विमान के ऊपर सीढ़ी के समान पिरामिड के आकार की छत होती है। प्रत्येक मंजिल में छत को कारीगरी से अंकित करके सजाया गया है। मंदिर का प्रवेशद्वार छोटा होता है।

उत्तरीय हिन्दू-कला के मंदिरों (ईसवी ८०० से १२०० तक) चौकोर होते है। विमान की छत गोलाकार पिरामिड के आकार की होती है। इन मदिरों का मुख्य आकर्षण प्रत्येक पत्थर पर अंकित सुन्दर

नक्काशी या खुदाई का काम है, जो वर्णनातीत है। वास्तव में यह उन कारीगरों की कुशलता, भक्ति और श्रद्धा मिश्रित श्रम से ही सम्भव हो सका होगा।

खजुराहो का प्रसिद्ध कंडरिया महादेव का मंदिर ३० मंदिरों के समूह का अत्यन्त प्रसिद्ध मंदिर है, जो कि ईसवी ६५० में बनाया गया। जिस प्रकार से अन्य हिन्दू मंदिरों के दो भाग होते हैं : एक देवगृह तथा एक बाहरी भाग, इसी प्रकार इसमें भी दो भाग हैं, जो कि ऊँचे चबूतरे पर बने हुए हैं। इसमें लगभग एक हजार मूर्त्तियाँ जो तीन पंक्तियों में विभाजित हैं, बनाई गई हैं। इन मूर्त्तियों की कारीगरी बहुत सुन्दर है। ऊपर लिखे हुए मंदिरों के अतिरिक्त इस शैली के मंदिरों में पुरी, चंद्रावती, पट्टादकल और उदयपुर के मंदिर मुख्य हैं।

उत्तरीय हिंदू-कला

इस शैली के मंदिरों में अम्बर, हुलाबिद और बेलूर के मठ मुख्य है। इनमें तारे के समान विमान का आकार होता है और कोण के समान सीधी पार्श्ववाली छत होती है, जिस पर अत्यन्त सुन्दर खुदाई अंकित है। मंदिर की दीवारों पर हाथी, शेर तथा घुड़सवार के सुन्दर चित्र अंकित किए गए हैं।

चालुक्य स्थापत्य-कला

महावल्लीपूर (ईसवी ७५० से ६५० के बीच में बना) और इलोरा के मंदिर वास्तव में चट्टानों को काटकर बनाए गए है। परन्तु इनमें तथा अन्य चट्टानों के कटे मंदिरों में अन्तर यह है कि इसमें समीपवर्ती सारी चट्टान काट दी गई है, अतएव मूर्त्ति चट्टान से जुड़ी नहीं है। मंदिर चारों ओर से खुला हुआ दृष्टिगोचर होता है। इन मंदिरों के विमान चौकोर है और उन पर कई मंजिल की पिरामिड के आकार की छतें है, जिन पर सुन्दर खुदाई है।

द्रविड़ स्थापत्य-कला

तंजौर के मंदिर (ईसवी १३००) का शिखर १३ मंजिल का है और मदुरा के मंदिर (ईसवी १६२३) का गोपुरम ३३३ फीट लम्बा और १०५ फीट चौड़ा है। श्रीरंगम के मंदिर में १५ विशाल गोपुरम है।

मुस्लिम स्थापत्य-कला भारत में ईरान से आई और तत्कालीन हिन्दू स्थापत्य-कला के प्रभाव से उसकी यथेष्ट उन्नति हुई। भारत में हिन्दू स्थापत्य-कला के प्रभाव के कारण उसका बहुत विकास भी हुआ। मुस्लिम स्थापत्य-कला अथवा सारसेनिक स्थापत्य कला का काल ११९३ से १८५७ तक माना जाता है। जब ११९३ ईसवी में पठान वंश इस देश मे सत्तारूढ़ हुआ तब से लेकर मुगल साम्राज्य के पतन-काल के समय तक देश की स्थापत्य-कला में मुस्लिम स्थापत्य-कला की प्रधानता रही।

मुस्लिम स्थापत्य-कला

पठान-काल की इमारतें बहुत बड़ी हैं और उनको देखने से यह ज्ञात होता है कि उस समय के कारीगरों ने भवन-निर्माण की समस्याओं को हल करने मे आश्चर्यजनक क्षमता दिखलाई थी। इसमें देहली स्थित कुतुब उद्दीन की मस्जिद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसके बड़े आँगन में प्रसिद्ध कुतुबमीनार खड़ी है, जिसकी ऊँचाई २४० फीट है। इसकी विशेषता यह है कि ऊपर यह पतली होती गई है, और इसकी डिजाइन बहुत सुन्दर है। कोई भी दूसरी मीनार इसकी प्रतिस्पर्द्धा नहीं कर सकती।

इस काल की दूसरी महत्त्वपूर्ण इमारतें नीचे लिखी हैं:—जौनपुर की जामा मस्जिद, अहमदाबाद, चम्पानेर, मांडू, बीजापुर, गोलगुम्बज की मस्जिदें और इब्राहीम का रोजा (बीजापुर)।

मुगल-सम्राटों ने जो इमारतें बनाईं, उनमें सारसेनिक स्थापत्य-कला का ऐसा सुन्दर प्रदर्शन हुआ कि पिछली सारसेनिक स्थापत्य-कला के नमूने इनके सामने फीके और धुँधले पड गए। मुगल-सम्राटों के मकबरे उनके जीवन-काल में उनकी मजलिसों के काम आते थे और मृत्यु के उपरान्त उनका शव उनमें रख दिया जाता था। यही कारण था कि वे इतने भव्य बनाए जाते थे।

मुगल-काल (१५२६-१८५७) की स्थापत्य-कला

फतहपुर सीकरी की मस्जिद बहुत सुन्दर और महत्त्वपूर्ण इमारतों का एक समूह है। यह इस काल की स्थापत्य-कला का एक सुन्दर नमूना है। यह २९० फीट लम्बी और ८० फीट चौड़ी है जिस पर अत्यन्त भव्य तीन गुम्बज बने हुए हैं। इसका विशाल फाटक १७० फीट ऊँचा है जो दर्शक को चकित कर देता है। सारी इमारत बहुत आकर्षक और शानदार है।

इस काल की स्थापत्य-कला का एक अत्यन्त सुन्दर नमूना देहली के महल हैं। यह महल ३२०० फीट लम्बे और १६०० फीट चौड़े क्षेत्र में बने हुए हैं। सम्भवत: यह महल भारत के सभी बादशाही महलों से अधिक आकर्षक और शानदार हैं।

ताजमहल (ईसवी १६३०-५३) संसार की अत्यन्त सुन्दर और प्रसिद्ध इमारतों में से है। यह एक ऊँचे और चौकोर प्लैटफार्म पर बना हुआ है। इस प्लैटफार्म का क्षेत्रफल ३१५ वर्ग फीट और ऊँचाई १८ फीट है। इसके चारों किनारों पर चार मीनारें हैं, जिनकी ऊँचाई १३३ फीट है। ताजमहल की इमारत १८६ वर्गफीट की चौकोर भूमि पर बनी हुई है। ताजमहल का बीच का गुम्बज ८० फीट ऊँचा है और उसका व्यास ५८ फीट है। ताजमहल संगमर्मर का बना हुआ है और उसमें पच्चीकारी और खुदाई का काम अद्भुत है। ताजमहल की सुन्दरता उसके प्रवेशद्वार तथा सामने के फव्वारों से और भी बढ़ गई है, और पूर्व तथा पश्चिम की ओर जो आँगन छूटा हुआ है तथा उसके अन्त में जो इमारतें बनी हैं, उससे वह और भी भव्य दिखलाई देता है। ताजमहल वास्तव में मानवीय कारीगरी का उत्कृष्ट नमूना है।

उस समय की दूसरी महत्त्वपूर्ण इमारतें नीचे लिखी हैं :—शेरशाह की मस्जिद (ईसवी १५४१), हुमायूँ का मकबरा (ईसवी १५०५), जामा मस्जिद देहली, दीवान खास, फतहपुर सीकरी और मोती मस्जिद आगरा।

मुगलों के पराभव के उपरान्त भारतीय स्थापत्य-कला का पतन हो गया, क्योंकि मुगलों के बाद यहाँ का शासन अंग्रेजों के हाथ में आ गया और यहाँ की स्थापत्य-कला पर भी अंग्रेजी प्रभाव पड़ा। आजकल की इमारतों में वह कारीगरी और सुन्दरता दृष्टिगोचर नहीं होती।

आज की इमारतें सादी और उपयोगिता का ध्यान रखकर बनाई जाती हैं। सीमेण्ट, ईंट, पत्थर और लोहे का अधिक उपयोग होता है। आज की इमारतों में विक्टोरिया मैमोरियल, देहली का सैक्रेटेरियट आदि मुख्य हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१—भारत की स्थापत्य-कला का विकास बौद्धकाल में इतना अधिक क्यों हुआ, कारण सहित लिखिए।

२—बौद्ध स्थापत्य कला के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

३—हिन्दू-स्थापत्य-कला की क्या विशेषताएँ हैं ? व्याख्या कीजिए।

४—मुगल-स्थापत्य-कला की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

५—अजन्ता-शैली की विशेषता का वर्णन कीजिए।

६—राजस्थानी शैली की चित्रकला की क्या विशेषताएँ हैं ?

७—मुगलकाल में चित्रकला की स्थिति पर प्रकाश डालिए।

८—आधुनिक भारत में चित्रकला की क्या स्थिति, है संक्षेप में लिखिए।

९—भारत में मूर्त्तिकला के विकास पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए।

१०—धर्म का मूर्त्तिकला पर क्या प्रभाव पड़ा, उसको संक्षेप में लिखिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Indian Architecture Islamic Period–by Percy Brown.
2. Indian Architecture (Buddhist & Hindu Period)-by Percy Brown.
3. Indian Art through Ages,-Govt. of India Publication.
4. Studies in Indian Painting–by N. C. Mehta.
5. Fine Arts in India & Ceylon–by Vincent Smith.
6. Indian Architecture by Havell.
7. Indian Architecture by G. C. Gongoly.

अध्याय २४

भारतीय साहित्य

साहित्यिक जागृति

साहित्यिक जागृति का अर्थ यह है कि हमारी भाषा में उपयोगी साहित्य का निर्माण हो, उससे हमें जीवन और स्फूर्ति मिले, हम संसार में फैली हुई विचार-धाराओं का परिचय प्राप्त करें तथा मानव-समाज के ज्ञान के आदान-प्रदान में भाग लें।

भारत का प्राचीन साहित्य

भारतवर्ष ने प्राचीन-काल में अत्यन्त गौरवपूर्ण पद प्राप्त किया था। भारत में साहित्य का निर्माण भी खूब हुआ था। इस दृष्टि से संस्कृत-साहित्य अत्यन्त धनी और उन्नतिशील है। संस्कृत-साहित्य में काव्य या नाटक ही नहीं, वरन सभी उपयोगी विषयों पर उत्तम ग्रन्थों की रचना हुई; किन्तु भारत के पतन के साथ-साथ साहित्य सृजन की यह वेगवती धारा सूख गई।

साहित्यिक जागृति का उदय

जब अंग्रेजों का भारत पर आधिपत्य स्थापित हो गया तो थोड़े समय के लिए भारत का प्राण स्पदनरहित हो गया। साहित्य-निर्माण का कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ। परन्तु क्रमशः भारत में जागृति के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। जागृति काल के आरम्भ में यहाँ आर्य समाज का जनता पर विशेष प्रभाव पड़ा। इससे आदमियों में स्वदेश, स्वधर्म, स्वभाषा आदि के प्रति भक्ति-भावना बढ़ी और पुरानी बातों के प्रति श्रद्धा बढ़ने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि साहित्य के क्षेत्र में तनिक सजीवता आई और प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर भाषाओं में साहित्य रचना होने लगी। परन्तु उस समय के साहित्य में भारत के प्राचीन वैभव, महत्ता तथा गौरव का ही अधिक वर्णन होता था।

भारत में कालान्तर में अंग्रेजी-शिक्षा का आरम्भ हुआ और नई-नई बातों को भारतवासी ग्रहण करने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भारतीयों के रहन-सहन, तथा विचार-धारा पर पश्चिम का प्रभाव पड़ने लगा। भारत के विद्वानों पर भी नई शिक्षा का प्रभाव विदेशी विद्वानों का गहरा प्रभाव पड़ा। हमारे शिक्षित-वर्ग ने यूरोपीय मनीषी की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया था।

भारतवर्ष में १८५७ के असफल विद्रोह के उपरान्त जो भयंकर दमन हुआ उसने हमारे स्वतंत्र साहित्य का गला घोंट दिया। लेखकों की लेखनी कुंठित हो गई। १९०५ में बंग-भंग आन्दोलन में जनता में अपूर्व जागृति हुई, स्वदेशी और विदेशी राजनैतिक स्थिति बहिष्कार के फलस्वरूप अंग्रेजी बातों के प्रति अंध श्रद्धा का प्रभाव कम हो गई, विचार धारा में परिवर्त्तन होने लगा। हमारे साहित्य में तेज की वृद्धि हुई। सन् १९१४ में प्रथम महायुद्ध के समय संसार भर में 'आत्म निर्णय' और छोटे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का नारा लगाया गया। महायुद्ध से भारत मे यूरोपीय श्रेष्ठता की भावना क्षीण हो गई। महायुद्ध के बाद भारत अपनी स्वतंत्रता की आशा लगाए हुए था; परन्तु उसको मिला दमनकारी रोलेट ऐक्ट और जलियाँवाला बाग का हत्याकांड, फौजी कानून और गोलीकांड आदि। इसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय आन्दोलन अत्यन्त उग्र हो उठा और उसने राष्ट्र-पिता महात्मा गांधी के नेतृत्व में असहयोग और सत्याग्रह का रूप धारण कर लिया। फलस्वरूप राष्ट्रीय साहित्य का तेजी से निर्माण हुआ और गांधीवादी साहित्य का प्रकाशन भी खूब हुआ। १९३५ के शासन-विधान के अनुसार यहाँ सन् १९३७ में 'प्रान्तीय स्वराज्य' की स्थापना हुई। उससे जनता में नई-नई आशाओं का उदय हुआ। विश्वविद्यालयों में भी उच्च शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से दी जावे, इसकी माँग होने लगी। अभी तक जो देशी भाषाओं में मुख्यतः काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक, धार्मिक और राजनैतिक साहित्य ही प्रकाशित होता था, उसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न गम्भीर तथा उपयोगी साहित्य भी प्रकाशित होने लगा। १९४७ में भारत स्वतंत्र हो गया। अब देशी भाषाओं को तथा मुख्यतः हिन्दी को राष्ट्रभाषा होनें के नाते राजाश्रय प्राप्त हो गया तथा उच्च शिक्षा में भी अंग्रेजी का स्थान हिन्दी लेती जा रही है। इसके

परिणामस्वरूप हिन्दी में उपयोगी तथा गम्भीर विषयों पर तेजी से साहित्य प्रकाशित होने लगा है।

सच तो यह है कि सात्विक और लोकोपयोगी साहित्य के लिए लेखक में विद्वत्ता, तप और त्याग के भावों की आवश्यकता होती है, तभी साहित्य सृजन के लिए अनुकूल वातावरण उत्पन्न होता है।

अठारहवीं सदी में यहाँ देश के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न भाषाएँ प्रचलित थीं। कोई राष्ट्रभाषा न थी। शिक्षित वर्ग में अंग्रेजी का मोह जागृत हो गया था। कुछ लोग शासकों का सहयोग पाकर इसको ही देश की राष्ट्रभाषा बनाने का स्वप्न देखते थे। कोई कोई भारतीय विद्वान् संस्कृत को फिर राष्ट्रभाषा बनाने की कल्पना करते थे। फारसी को राजाश्रय प्राप्त था। संस्कृत में प्राचीन और अंग्रेजी में नवीन ज्ञान भंडार भरा हुआ था। उस समय हिन्दी अपेक्षाकृत अत्यन्त निर्धन थी, हिन्दी के गद्य का विकास भी नहीं हुआ था, केवल काव्य-साहित्य पर्याप्त था। अन्य उपयोगी विषयों पर तो हिन्दी में कोई साहित्य था ही नहीं। किन्तु हिन्दी देश के अधिकांश भाग में बोली और समझी जाती थी, इस कारण कुछ नेताओं ने उसको राष्ट्रभाषा बनाने का समर्थन किया। स्वतंत्र होने के बाद हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा स्वीकार कर ली गई।

राष्ट्रभाषा का अभाव

हिन्दी गद्य बहुत विकसित होने के बाद हमें इस रूप में प्राप्त हुआ है। इसका सबसे प्राचीन रूप ब्रजभाषा काव्य की टीका-टिप्पणियों तथा वार्त्ताओं में मिलता था। हिन्दी गद्य को परिमार्जित रूप देनेवाले मुख्य चार व्यक्ति थे, जिन्होंने सन् १८६० के लगभग खड़ीबोली के गद्य को आरम्भ किया। वे थे मुंशी सदासुखलाल, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र। राजा शिवप्रसाद सितारे हिंद ने उर्दू मिश्रित हिन्दी गद्य लिखा और उसका पाठशालाओं में प्रचार कराया। इसके विपरीत राजा लक्ष्मणप्रसाद ने शुद्ध हिन्दी का प्रचार किया। किन्तु हिन्दी गद्य का विशेष विकास करने और उसको परिमार्जित करने का श्रेय भारतेंदु हरिश्चंद्र को है। उनकी प्रतिभा विलक्षण थी और उन्होंने अपना समस्त जीवन और धन साहित्य सेवा तथा हिन्दी-प्रचार में लगा दिया। उन्होंने अपनी सुंदर रचनाओं से हिंदी की एक विशेष

हिन्दी गद्य का विकास

गद्य शैली का निर्माण किया, जो आज तक प्रचलित है। आगे चलकर जिन साहित्य सेवियों ने इस भाषा को परिमार्जित, सजीव, सतेज और निश्चित बनाने में भाग लिया, उनमें आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी मुख्य हैं। आपने भाषा का संस्कार, व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा, शुद्ध वाक्य-विन्यास, सरल भाषा में भावव्यंजना आरम्भ कर उसे परिमार्जित कर जनता के सामने रक्खा। द्विवेदीजी के उपरान्त आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने एक विशिष्ट आलोचना शैली को जन्म दिया, उनकी भाषा शुद्ध तथा साहित्यिक थी।

भारत के जागृत जीवन के साहित्य का स्वरूप व्यापक, सजीव और नवस्फूर्ति से पूर्ण है। सामयिक साहित्य में केवल देश की राष्ट्रीय भावना, उसकी राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक दशा का
ही विवेचन और मनन नहीं हुआ, वरन् विश्व की साहित्यिक-प्रगतियाँ
समस्याओं का भी उसमें समावेश हुआ है। विश्व-प्रेम
और विश्व-बंधुत्व की भावना भी भारतीय-साहित्य में यथेष्ट देखने को मिलती है।

आजकल हिंदी काव्य में विशेषकर तीन प्रकार की रचनाएँ होती हैं: रहस्यवादी, छायावादी और प्रगतिवादी। आधुनिक हिंदी काव्य पर पश्चिमीय साहित्य का यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। आज कविता भाव-प्रधान हो गई है। छंद, अलंकार, और रस, ध्वनि आदि के संबंध में आचार्यों ने जो मार्ग बनाया था, वह अब अवांछनीय सा
हो गया है। विभिन्न रूप, आकार और स्वर, हिन्दी-काव्य
यति तथा रागवाले छंद छोटी-छोटी मर्मस्पर्शनी
समझी जानेवाली कविताओं में मिलते हैं। अलकारों का भी प्रयोग होता है, परंतु वह केवल अलंकारों के ही लिए नहीं होता, वरन् उन्हें भाव प्रकाश सका एक साधन्न जाता है। कला पक्ष इस युग के काव्य में अपना मूल्य खो बैठा है। काव्य के विषय भी बदल गए हैं। अब नायक-नायिकाओं पर काव्य नहीं होते। कुछ महाकाव्यों की ओर भी प्रवृत्ति हुई है और खंडकाव्य भी लिखे गए है। महाकाव्यों में प्रधानता धार्मिक तथा ऐतिहासिक विषयों की है। बौद्ध-साहित्य और भावना ने भी साहित्यकारों को प्रभावित किया है। पिछले दिनों प्रगतिशील रचनाओं का वेग कुछ अधिक बढ़ा है। इनमें भौतिक जीवन का ही

चित्रण होता है तथा सामाजिक भावना प्रधान होती है। उसमें समाज को बदल डालने की तीव्र आकांक्षा होती है और वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था पर कठोर प्रहार होता है। प्रगतिवादी साहित्य की व्यंजना भावात्मक न होकर आलोचनात्मक और बौद्धिक होती है। परन्तु प्रगतिशील साहित्य के नाम पर निम्नकोटि की रचनाओं की भी बाढ़ सी आ गई है।

विदेशी पहले-पहल बंगाल में आये। उनके वहाँ आने से भारतीय कहानी साहित्य पर भी पश्चिमीय प्रभाव पड़ा और वहाँ आधुनिक ढंग की कहानियों का प्रचार हुआ। वैसे तो भारत में कहानी लिखने की प्रणाली प्राचीन काल से चली आ रही है, परन्तु पहले कहानी का दूसरा ही रूप था। वह उपदेशों का माध्यम सी थी। उसका विषय काल्पनिक होता था। पश्चिमीय प्रभाव से उसमें सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा धार्मिक समस्याओं का दिग्दर्शन होने लगा। इस प्रगति के प्रथम काल में हिन्दी में मुंशी इंशाअल्लाखाँ की रानी केतकी की कहानी' प्रधान है। श्री गिरजाकुमार घोष ने भी 'सरस्वती' में कहानियाँ लिखकर पथप्रदर्शक का काम किया। इसके बाद श्रीप्रेमचन्द ने मौलिक कहानियों की रचना कर उनमें चरित्र-चित्रण और मनोभावों का दिग्दर्शन कराकर उन्हें कलापूर्ण बनाया। श्री जयशंकर प्रसाद ने कहानियों को सीधेसादे ढंग से आरम्भ कर दार्शनिकता की कोटि में पहुँचाया। इसके उपरान्त जैनेन्द्र, भगवती प्रसाद बाजपेयी, अश्क, यशपाल इत्यादि कहानीकारों ने कहानियों के द्वारा हमारे बदलते हुए सामाजिक जीवन का दिग्दर्शन कराया। हिन्दी साहित्य का यह अंग अब पुष्ट हो गया है।

कहानी

साहित्य का आधुनिक काल उपन्यास और नाटकों का युग कहा जाता है। यों तो हिन्दी में कुछ उपन्यास जैसे चंद्रकांता इत्यादि पहले भी लिखे गए; किन्तु आधुनिक ढंग के उपन्यासों का चलन विशेषकर बंगला उपन्यासों की प्रेरणा से हुआ। सन १९१६ में श्री प्रेमचद का सेवासदन उपन्यास निकला, उसे छोड़कर १९२० तक हिन्दी का कोई अच्छा उपन्यास नहीं मिलता। उस समय तक विशेषकर हिन्दी में अन्य भाषाओं के उत्तम उपन्यासों का अनुवाद ही होता रहा है। इसके बाद

उपन्यास

हमें मौलिक उपन्यासों की रचना मिलती है और श्रेष्ठ उपन्यासों का अनुवाद किया जाता है। इस युग के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार श्री प्रेमचन्दजी हैं। उनके उपन्यासों में हमें आदर्शवाद और यथार्थवाद की झलक मिलती है। इसके अतिरिक्त प्रसाद के कंकाल और तितली, भगवतीचरण वर्मा का चित्रलेखा तथा श्री विशम्भरनाथ कौशिक का 'माँ' उच्च कोटिके उपन्यास हैं। आज की पीढ़ी के श्री यशपाल, अश्क तथा अज्ञेय उत्तम उपन्यासों की रचना कर रहे हैं। इस समय उपन्यास सामाजिक, राजनैतिक और ऐतिहासिक विषयों पर लिखे गए हैं। उनमें चरित्र-चित्रण, कथन की स्वाभाविकता, अन्तर्द्वन्द्व की अभिव्यक्ति और मनोवैज्ञानिक व्याख्या पाई जाती है।

उपन्यास की भाँति नई शैली के नाटक भी बंगला नाटकों से प्रभावित हुए। हिन्दी में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने चंद्रावली, नीलदेवी आदि मौलिक नाटकों की रचना कर तथा कुछ बंगला तथा संस्कृत नाटकों का अनुवाद कर इस दिशा में नाटक नया कदम रक्खा। इसके बाद हमारे सामने प्रसाद के नाटक आते हैं। इनमें प्राचीन संस्कृति और सामाजिक परिस्थिति का विशेष ध्यान रक्खा गया। इनमें कलात्मक पक्ष से भी अधिक काव्य की उड़ान है। आधुनिक नाटककारों की रचना में पाश्चात्य नाटककार, इब्सन, बर्नार्ड शा और एच. जी. वेल्स इत्यादि की शैलियों का काफी प्रभाव पड़ा है। आज का नाटककार परिपाटीयुक्त नियमों की उतनी चिन्ता नहीं करता। उसे अपनी भावोन्मुक्त अवस्था के अनुकूल नया रूप खड़ा करने की स्वतंत्रता मिल गई है। ऐतिहासिक, पौराणिक, सामाजिक तथा राजनैतिक सभी प्रकार के नाटक लिखे गए हैं।

पिछले दिनों हिन्दी में आलोचनात्मक साहित्य का भी तेजी से विकास हुआ। स्वर्गीय आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने आलोचनात्मक साहित्य को व्यवस्था और दिशा दी।

हिन्दी की खड़ीबोली मे फारसी और अरबी शब्दों को मिलाकर बोली जानेवाली और फारसी लिपि मे लिखी जानेवाली भाषा उर्दू कहलाती है। यों यह कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, हिन्दी की ही एक शैली मात्र है। इसके साहित्य की उर्दू उन्नति अठारहवीं सदी के अन्तिम भाग से आरम्भ हुई। मीर अमन की प्रसिद्ध 'बागो बहार' नामक पुस्तक १८०२

में बनी। महाकवि गालिब, अकबर, हाली, इकबाल, जोश, चकबस्त, सुरूर जहानाबादी, सागर निजामी और बिसमिल ने उर्दू कविता साहित्य खूब ही वृद्धि की। गद्य लिखने की चाल पीछे पड़ी। उर्दू में उपन्यास और नाटकों की कमी है। आलोचनात्मक साहित्य अच्छा लिखा गया है। उर्दू का इतिहास, कवियों के ग्रन्थों पर अलग-अलग पुस्तकें तथा पत्र-साहित्य भी खूब प्रकाशित हुआ है। इस दिशा में उसमानिया विश्वविद्यालय, हैदराबाद ने वहुत काम किया है। उसके द्वारा विविध विषयों के अनुवादित और मौलिक ग्रन्थ प्रकाशित किए गए। इस सम्बन्ध में अंजुमने-तरक्की-ए-उर्दू (दिल्ली), जामिया मिलिया (दिल्ली) आदि के प्रयत्न भी उल्लेखनीय है। देश का विभाजन हो जाने से भारत संघ में उर्दू की प्रगति को धक्का लगा है।

बंगला

बंगला भाषा में गद्य का प्रचार ईसाई पादरियों ने किया। सन् १८०० ईसवी में अंग्रेज सिविलियनों को देशी भाषा सिखाने के वास्ते कलकत्ते में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना होने पर बंगला की शिक्षा देने के लिए गद्य में पाठ्य पुस्तकों की रचना की गई। क्रमशः ईश्वरचन्द्र विद्यासागर और बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय आदि प्रतिभाशाली लेखकों और कवियों ने बंग भाषा की खूब ही उन्नति की। उन्नीसवीं सदी के पिछले हिस्से से बंगला के सभी विषयों का साहित्य बढ़ने लगा। सन् १६०५ में बंगाल विभाजन के कारण जो जन आन्दोलन हुआ, उससे बंगला भाषा के साहित्य में आधुनिकता का प्रभाव बढ़ा। साथ ही नाटकों और उपन्यासों के द्वारा देश प्रेम और राष्ट्रीयता की भावना गाँव-गाँव में फैल गई। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त प्राचीन धारणाएँ क्षीण हो गईं और अधिकांश लेखकों ने नवीनता का स्वागत किया। कथा साहित्य में पहले नैतिकता प्रधान थी, अब आर्थिक संघर्ष और सामाजिक विद्रोह का चित्रण होने लगा है। नाटकों में पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों के बाद सामाजिक नाटकों का उदय हुआ है। शरत्चंद्रजी ने बहुत उत्तम कोटि के उपन्यासों की रचना की, जिनका अनुवाद कई भारतीय भाषाओं में हुआ है। इनके अतिरिक्त श्री बंकिम बाबू तथा श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी बंगला साहित्य को बहुत ऊँचा उठाया। बंकिम बाबू के उपन्यासों में 'आनन्द-मठ' ने भारत की तरुण पीढ़ी में देशप्रेम की ज्योति जगाई तथा

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने काव्य, उपन्यास तथा कहानियों से बँगला-साहित्य की श्रीवृद्धि की। श्री रवीन्द्रनाथ रहस्यवादी थे और शिक्षाशास्त्री तथा विचारक भी थे। वे औपन्यासिक भी थे। नाट्यकार और गायक, कलाकार, गल्पलेखक और अन्तिम रूप में विश्व के लिए भारत के प्रतिनिधि थे। रवीन्द्र बाबू की छाया बंग-साहित्य के सभी अंगों पर पड़ी है। भारतीय साहित्यकारों में केवल रवीन्द्र बाबू को ही नोबिल पुरस्कार प्राप्त हुआ। ऐसे उच्चकोटि के साहित्यसेवियों के कारण ही बँगला-भाषा का साहित्य उन्नत हो सका है।

महाराष्ट्र प्रदेश में भारतीयता के अतिरिक्त हिन्दुत्व की प्रगाढ़ भावना विद्यमान है। यदि लोकमान्य तिलक ने देश को "स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है" का नारा दिया, तो क्रान्तिकारी

मराठी

वीर सावरकर ने हिन्दू-राष्ट्र के विचार का प्रचार किया। यही नहीं, स्वर्गीय डाक्टर हैडगेवर द्वारा स्थापित राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी हिन्दुत्व की भावना से ओत-प्रोत है। महाराष्ट्र प्रदेश की इस भावना की अभिव्यक्ति मराठी साहित्य में भी प्रचुर मात्रा में देखने को मिली है। मराठी का नाटक-साहित्य बहुत उन्नत है। इसका कारण है वहाँ की रंगमंच की परम्परा। मराठी भाषा में इतिहास पर बहुत काम हुआ है, इसने धार्मिक साहित्य में भी अच्छी प्रगति की है। इसके कुछ लेखकों की रचनाएँ अन्य भाषाओं के उत्तम ग्रन्थों से टक्कर ले सकती हैं। लोकमान्य तिलक जैसे महापुरुषों ने इस भाषा में अपनी सुविख्यात रचनाएँ लिखकर इसका मान बढ़ाया।

गुजरात की सांस्कृतिक परम्परा अन्य प्रान्तों की अपेक्षा अधिक भारतीय है। इसका कारण यह है कि इस युग के दो महापुरुष महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी इस प्रान्त ने दिए। प्रथम

गुजराती

यूरोपीय महायुद्ध के बाद गुजरात में दो प्रकार की जागृति हुई। सांस्कृतिक जागृति के जनक गांधीजी हैं और साहित्यिक जागृति के जनक कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी है। आधुनिक गुजराती साहित्य में यथार्थवाद के साथ-साथ आदर्शवाद भी यथेष्ट है। नैतिक आदर्शवाले साहित्य में महात्मा गांधी की रचनाओं का विशेष स्थान है। काका कालेलकर, स्व० मश्रूवाला, स्वर्गीय महादेव देसाई इस श्रेणी के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। मेधावी 'तरुणों का कवि' नाम से

बहुत प्रसिद्ध हैं। गुजराती में इस समय दो प्रकार के लेखक और साहित्यकार हैं। कुछ प्राचीनता को प्रधानता देते हैं, तो कुछ नवीनता को। पद्य की अपेक्षा गुजराती का गद्य साहित्य अधिक विकसित है। गुजराती में बाल-साहित्य बहुत सुन्दर लिखा गया है। इस दिशा में स्वर्गीय गीजूभाई का कार्य विशेष उल्लेखनीय है। गुजरात के वर्त्तमान साहित्यकारों में श्रीकन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी का स्थान बहुत ऊँचा है। उनके उपन्यास सर्वप्रिय हैं।

द्रविड़ भाषाओं का विकास भी बहुत कुछ उत्तर भाषाओं के ढंग पर ही हुआ है। इसका कारण यह है, समस्त भारत एक राष्ट्र है और राष्ट्रीय आन्दोलन देशव्यापी हुआ, अतः द्रविड़ भाषाओं के साहित्य पर भी वही प्रभाव पड़े जो कि उत्तर भारत की भाषाओं पर पड़े थे।

द्रविड भाषाएँ

इन भाषाओं में तमिल का साहित्य अधिक सम्पन्न है। प्रथम महायुद्ध के उपरान्त इसकी बहुत उन्नति हुई। पहले इसमें सामाजिक और धार्मिक साहित्य की ही प्रधानता थी, अब राष्ट्रीय साहित्य की प्रधानता हो गई है। इसमें कथा-साहित्य का भी अच्छा विकास हुआ है। इस भाषा का पद्य की अपेक्षा गद्य अधिक उन्नत है।

गद्य का विकास समाज-सुधार आन्दोलन के कारण हुआ। अब उसमें राजनैतिक और वैज्ञानिक यथार्थताओं की अच्छी अभिव्यक्ति हो रही है। मलायम भाषा में प्रथम महायुद्ध के बाद छोटे-छोटे विषयों पर अंग्रेजी ढंग की कविताओं का खूब ही प्रचार हुआ। इस भाषा में कहानी की अपेक्षा उपन्यास कम लिखे गए हैं। निबन्धों का बहुत विकास नहीं हुआ है। नाटकों के प्रति जनता की रुचि बढ़ रही है। गद्य शैली को सरल बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है। कन्नड में प्रथम महायुद्ध के पहले से ही कविता की नवीन धारा बह रही है। कन्नड में गीत-काव्य की ओर अधिक रुचि है। कन्नड में नाटक तो हैं, किन्तु रंगमंच नहीं है। वैसे हाल में जन-नाटक बहुत लिखे गए हैं। उनसे आम-जनता का मनोरंजन और शिक्षण दोनों हुआ है।

तेलगू

प्रान्तीय भाषाओं में उत्तर में उड़िया, आसामी, नैपाली, पंजाबी

और दक्षिण की कोंकणी आदि भाषाओं में भी साहित्य-निर्माण की गति पहले से तीव्र है।

अभ्यास के प्रश्न

१—भारतीय भाषाओं के साहित्य की गति उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में क्यों विशृंखल हो गई?

२—राष्ट्रीय-आन्दोलन का भारत की भाषाओं के साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा?

३—प्रगतिशील साहित्य से आप क्या समझते हैं? उसकी व्याख्या कीजिए।

४—हिन्दी साहित्य के विकास का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

५—स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर का बँगला-साहित्य पर क्या प्रभाव पड़ा, समझाइए।

६—हिन्दी में आपकी रुचि के कौन से कवि और उपन्यासकार हैं, कारण सहित लिखिए।

७—गुजराती साहित्य के आधुनिक साहित्य का संक्षिप्त परिचय लिखिए।

विशेष अध्ययन के लिए

हिन्दी साहित्य का इतिहास—श्री रामचंद्र शुक्ल।

अध्याय २५

भारतवर्ष में वैज्ञानिक प्रगति

प्राचीन भारत में विज्ञान और उसका पतन

भारतवासियों ने प्राचीन-काल में भी वैज्ञानिक प्रगति की थी। गणित, ज्योतिष, रसायन, आयुर्वेद, तथा वनस्पति सम्बन्धी प्राचीन अनुसन्धान इस समय भी अद्भुत महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। परन्तु भारत के पतन के साथ इस ओर भी भारत की प्रगति रुक गई। आधुनिक-युग में भारत वैज्ञानिक आविष्कारों में बहुत पीछे रह गया। इस युग में हमने अधिकतर पश्चिमवालों के आविष्कारों और यन्त्रों से लाभ उठाया है। अब स्वतन्त्र हो जाने के उपरान्त देश का ध्यान इस ओर गया है। वैज्ञानिक अनुसन्धान-शालाएँ स्थापित की गई हैं, जिनमें भारतीय वैज्ञानिक अनुसन्धान में संलग्न हैं।

भारत में विज्ञान का पुनः विकास

भारतवर्ष में विज्ञान का विकास बारहवीं शताब्दी से रुका ही रहा। उन्नीसवीं सदी में उसका पुनर्जागरण हुआ। इस सदी के पूर्वार्द्ध में विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन देने के लिए कितनी ही संस्थाएँ स्थापित हुईं। ईस्ट इंडिया कंपनी ने भी सर्वे (पैमाइश) विभाग तथा अन्तरिक्ष-विज्ञान विभाग आदि स्थापित करके इसमें योग दिया। कालान्तर में ब्रिटिश सरकार ने भी बहुत से विभाग स्थापित किए—जैसे ज्योलाजिकल सर्वे, कृषि, वन, जिनके अन्तर्गत इन विषयों पर अनुसन्धान-कार्य होने लगा। क्रमशः भारत में आधुनिक ढङ्ग के विश्वविद्यालय भी स्थापित हुए, जिनके विज्ञान विभागों में भी अनुसन्धान-कार्य हुआ। अब हम संक्षेप में भारत में वैज्ञानिक प्रगति का विचार करेंगे।

भारत में रसायन-शास्त्र में अनुसन्धान-कार्य आरम्भ करने का श्रेय स्वर्गीय प्रफुल्लचन्द्र राय को है। आपको आधुनिक भारतीय रसायन-शास्त्र का पिता कह सकते हैं। आपने अपने शिष्यों
में भी रसायन-शास्त्र के प्रति जिज्ञासा जगाई। आपने रसायन-शास्त्र
सन् १८६२ में आठ सौ रुपए की छोटी पूँजी से
प्रसिद्ध "बङ्गाल केमिकल" कारखाने की स्थापना की, जो ओषधि निर्माण करनेवाले कारखानों में प्रमुख संस्था है। आचार्य राय ने सिद्धान्त-मूलक रसायन-शास्त्र में अनेक महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान किए। आपके शिष्य डाक्टर नीलरतन धर ने रासायनिक क्रियाओं पर सूर्य-रश्मियों के प्रभाव के विषय में कई महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान किए। हिन्दू विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर जोशी ने विद्युत-स्फुलिङ्ग के प्रकाश का रासायनिक क्रियाओं पर क्या प्रभाव पड़ता है, इस विषय में अनेक प्रयोग किए हैं। डाक्टर सर शान्तिस्वरूप भटनागर ने अणुओं और उनके चुम्बकीय गुणों पर विशेष अनुसन्धान किए हैं। भारतीय-उद्योग-धन्धों के लिए भी आपने कई उपयोगी सुझाव दिए हैं। मिट्टी के तेल की रोशनी बढ़ाना, बिना गन्ध का मोम तैयार करना, कपड़े की मिलों के गूदड़ से पशमीना रेशम तैयार करना, वनस्पति-तेलों से कलों की धुरी को चिकना रखनेवाला तेल तैयार करना—यह आपकी कुछ बहुमूल्य देन हैं।

बायोकेमिस्ट्री की ओर से भी भारतीय रसायनशास्त्री उदासीन नहीं रहे हैं। भिन्न-भिन्न दालों के पोषक तत्त्वों के विषय में बहुत खोज की गई है। विभिन्न जाति के चावलों की भी जाँच की गई है और विटामिन के सम्बन्ध में भी अनुसंधान किए गए हैं।

आधुनिक-काल में पदार्थ विज्ञान के क्षेत्र में भारत को अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान दिलाने का श्रेय स्वर्गीय सर जगदीशचन्द्र बसु को है। आपने १८६५ में रेडियो की तरङ्गों के सम्बन्ध में स्वयं नये
ढङ्ग के यंत्र बनाकर अनेक प्रयोग किए और उन भौतिक विज्ञान
तरङ्गों के अनेक गुणों का पता लगाया।

भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भारतीय वैज्ञानिकों के अधिकांश अनुसंधान प्रथम श्रेणी के सिद्ध हुए हैं। डाक्टर मेघनाद शाह ने यह प्रमाणित कर दिया कि सूर्य के वर्ण-मण्डल के रश्मिचित्र की कुछ रेखाएँ अपेक्षाकृत

स्थूल इसलिए दिखलाई देती हैं कि अल्प दबाव तथा अत्यधिक तापक्रम के कारण सूर्य के वायुमंडल के गैसों के परमाणु विद्युतमय हो जाते हैं।

दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रोफेसर कोठारी ने नक्षत्रों के सम्बन्ध में अनुसंधान करके दबाव द्वारा उत्पन्न होनेवाले परमाणुओं के विद्युतमय बनने का सिद्धान्त निकाला। इससे ज्योतिर्विज्ञान की अनेक समस्याएँ हल हो गईं। प्रकाश के क्षेत्र में सर चन्द्रशेखर वेंकट रमन ने अपूर्व प्रतिभा का परिचय दिया है। "रमन प्रभाव" की खोज ने विज्ञान-जगत् में हलचल मचा दी। इस खोज के कारण सर रमन को संसार का सर्वोच्च वैज्ञानिक पुरस्कार "नोबिल प्राइज" प्राप्त हुआ।

वनस्पति-विज्ञान

वनस्पति विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान सबसे पहले सर जगदीशचन्द्र बसु ने किए। आपने इस बात का वैज्ञानिक प्रमाण प्रस्तुत किया कि क्षुद्र से क्षुद्र वनस्पति में भी मज्जातन्तु होते हैं, अतः शीत, मादक द्रव्य और विष का असर पौधों पर भी होता है। आपने अपने बनाए हुए यन्त्रों की सहायता से पौधों के हृदय की धड़कन, नाड़ियों द्वारा नीचे से ऊपर रस के प्रवाह आदि के दर्शन कराए। आपके द्वारा 'बोस रिसर्च इंस्टीट्यूट' में आपके शिष्यों ने अनेक मौलिक अनुसंधान किए हैं।

लखनऊ विश्वविद्यालय के स्वर्गीय डाक्टर बीरबल साहनी ने धरती के भीतर गड़ी हुई वनस्पतियों के बारे में खोज करके पुरातत्व से सम्बन्ध रखनेवाली कितनी ही महत्त्वपूर्ण बातों का पता लगाया है। वनस्पति के अवशेषों का वर्गीकरण तथा काल-विभाजन करके आपने पुरातत्व विज्ञान की प्रगति में अच्छी सहायता दी है।

इंजीनियरिंग

नहरों के निर्माण के छोटे-छोटे माडल बनाकर भारतीय इंजीनियरों ने जो अनुसंधान किए, उनसे उन्होंने यहाँ सिंचाई की अनेक समस्याओं को हल कर दिया और नदियों पर विशालकाय बाँध-बाँधकर जल-संग्रह के आयोजन में बड़ी सहायता दी।

प्राचीन-काल में भारतवासियों ने आयुर्वेदशास्त्र में बहुत उन्नति की थी। परन्तु इस युग में भारत ने इस दिशा में कोई प्रगति नहीं की। पिछले दिनों में भारत में हैजा, प्लेग, कालाजार, मलेरिया, और वेरी-वेरी सरीखे भयानक रोगों के विषय में महत्त्व-पूर्ण अनुसंधान हुए हैं। कुष्ट रोग के सम्बंध में भी कुछ अनुसंधान हुए हैं। रुधिर प्रवेश चिकित्सा के विषय में कलकत्ते में प्रशंसनीय कार्य किया गया है।

चिकित्सा-शास्त्र

इस क्षेत्र में डाक्टर विसे ने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है। उनकी 'आटोमोडीन' दवा तेज कृमिनाशक होते हुए भी विपरहित है। यह छूत की बीमारी जिगर, रक्त दोप, मूत्र दोप, दोपी बुखार और पेट के दर्द में गुणकारी है। आपने कई प्रकार के बिजली के यंत्र भी बनाए हैं। एक यंत्र से सीधे सूर्य की बिजली ली जा सकती है।

आधुनिक युग में हमारे यहाँ जो वैज्ञानिक प्रगति हुई है, वह बहुत ही कम है। सन् १६४१ में यहाँ वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिपद् की स्थापना हुई। राष्ट्रीय सरकार के स्थापित होने के बाद औद्योगिक उन्नति में विज्ञान की सहायता देने के लिए देहली, पूना, जमशेदपुर, कलकत्ता, धानवाद और रुड़की में कई राष्ट्रीय अनुसंधान-प्रयोगशालाएँ स्थापित की गई हैं।

स्वतंत्र भारत में वैज्ञानिक अनु-संधान

स्वतंत्रता मिलने पर भारत सरकार की सहमति से परिपद् ने एक परमाणु-शक्ति-अनुसंधान बोर्ड बनाया है। रँगाई की वस्तुओं के संबंध में दो विशेषज्ञ डाक्टर बी० बी० डे (मद्रास) और डाक्टर के० वेंकट रमन (बम्बई) अनुसंधान कर रहे हैं। पैनसलीन, इंसलीन, एड्रेनिलीन, पिटुटरीन, थाइरोक्सीन तथा मलेरिया विनाशक अन्य औषधियाँ भी परिपद् की ओपधि समिति के तत्वावधान में प्रयोगशालाओं में तैयार की गई हैं। इसी प्रकार अन्य देशी ओपधियों के चिकित्सा संबंधी गुणों की परीक्षा की जा रही है। रद्दी जूट तथा अन्य रासायनिक द्रव्यों से प्लास्टिक बनाए गए हैं। कारबन डायक्साइड, कृत्रिम टिटेनियम डायक्साइड आदि बनाने के प्रयत्न हो रहे हैं। मद्रास की प्रान्तीय रेडियो-प्रयोगशाला में विद्युत्, कंडेंसर तथा रेडियो की बेटरियाँ बनाने के लिए एक योजना के विषय में अन्वेपण किया जा रहा है।

औद्योगिक उन्नति में विज्ञान का पूर्णतया उपयोग करने के उपाय काम में लाए जा रहे हैं। परिषद् के तत्त्वावधान में एक औद्योगिक सम्बन्ध समिति बनाई गई है।

इनके अतिरिक्त कृषि अनुसंधान इंस्टीट्यूट पूसा, वैटीनेरी रिसर्च इंस्टीट्यूट मुक्तेश्वर तथा आइजटनगर (बरेली), इंस्टीट्यूट आफ सइंस बंगलौर, तथा फारेस्ट रिसर्च-इंस्टीट्यूट देहरादून, भारत के स्वतंत्र होने से पहले ही स्थापित हो चुकी थी। भारत सरकार का इस समय नवीन राष्ट्रीय अनुसंधान शालाओं की ओर विशेष ध्यान है और शीघ्र ही भारत वैज्ञानिक क्षेत्र में तेजी से उन्नति करेगा। देश की औद्योगिक उन्नति के लिए स्वतंत्र हो जाने के उपरान्त भारत सरकार ने नीचे लिखी रिसर्च इंस्टीट्यूट स्थापित की हैं:—

१—राष्ट्रीय फिजिकल लेबरेटरी, पूसा—देहली में स्थापित की गई है। इस अनुसंधानशाला में प्रयोगात्मक भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में अनुसंधान किया जा रहा है जिससे उद्योग-धंधों की उन्नित हो सके और उत्पादन बढ़ाया जा सके। अभी इस अनुसन्धान शाला ने सूर्य तथा ऐटम शक्ति का उद्योग-धंधों के लिए किस प्रकार उपयोग हो सकता है, इस ओर कार्य किया है।

२—राष्ट्रीय केमिकल लैबरेटरी—पूना में स्थापित की गई है जो उन रासायनिक पदार्थों को तैयार करने का प्रयत्न कर रही है, जिसकी देश के उद्योग-धंधों को आवश्यकता है।

३—केन्द्रीय फ्युयल रिसर्च इंस्टीट्यूट—धानबाद में स्थापित की गई है जिसका मुख्य कार्य देश में ईंधन की समस्या को हल करना है।

४—राष्ट्रीय मैटलर्जिकल लैबरेटरी—जमशेदपुर में स्थापित की गई है, जिसका मुख्य कार्य धातुओं को शुद्ध करने के तरीकों को ढूंढ़ निकालना है।

५—फुड रिसर्च लैबरेटरी—मैसूर में स्थापित की गई है, जो खाद्यान्नों की सुरक्षा तथा भोज्य पदार्थों के सम्बन्ध में अनुसंधान करती है।

६—केन्द्रीय ग्लास तथा सिरेमिक रिसर्च इंस्टीट्यूट—कलकत्ता में स्थापित की गई है। इसका मुख्य कार्य शीशा तथा चीनी

मिट्टी के वर्तनों को बनाने के लिए उपयुक्त मिट्टी के सम्बन्ध में खोज करना है।

७—केन्द्रीय ड्रग रिसर्च इंस्टीट्यूट—लखनऊ में स्थापित की गई। इसका मुख्य कार्य ओषधियों के सम्बन्ध में अनुसंधान करना है।

८—केन्द्रीय रोड इंस्टीट्यूट—नई देहली में स्थापित की गई है। इसका मुख्य कार्य सड़कों के सम्बन्ध में अन्वेषण करना है।

९—केन्द्रीय ऐलक्ट्रो केमिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट—करीकुडी में स्थापित की गई है।

१०—केन्द्रीय लैदर इंस्टीट्यूट—मदरास में स्थापित की गई है, जो चमड़े को कमाने और साफ करने के सम्बन्ध में अनुसंधान करती है।

११—केन्द्रीय बिल्डिङ्ग रिसर्च इंस्टीट्यूट—रुड़की में स्थापित की गई है, जो भवन निर्माण के सम्बन्ध में अनुसन्धान करती है।

१२—ऐलेक्ट्रानिक रिसर्च इंस्टीट्यूट—पिलानी में अभी हाल में श्री घनश्यामदास बिड़ला के सहयोग से स्थापित की गई है।

अभ्यास के प्रश्न

१—भारत में वैज्ञानिक प्रगति के सम्बन्ध में संक्षिप्त नोट लिखिए।

२—भारत में रसायन-शास्त्र में हुई खोज के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक बतलाइए।

३—नीचे लिखे वैज्ञानिकों की विज्ञान-जगत् को क्या देन है, संक्षेप में लिखिए :—

आचार्य प्रफुल्लचन्द्रराय, श्री जगदीशचन्द्र बसु, श्री चन्द्रशेखर वेंकट रमन।

४—भारत में भौतिक विज्ञान में जो प्रगति हुई है, संक्षेप में लिखिए।

५—स्वतन्त्र होने के उपरान्त देश में कौन-सी वैज्ञानिक अनुसन्धान शालाएँ स्थापित की गई हैं, उनका वर्णन कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

१—भारतीय वैज्ञानिक—श्री श्यामनारायण कपूर।

२—भारतीय अनुसन्धान-शालाएँ—विज्ञान परिषद्-प्रयाग।

अध्याय २६

भारतीय संस्कृति

संस्कृति क्या है, इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों का भिन्न-भिन्न मत है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि "निष्काम भाव से मनुष्य की पूर्णता के लिए प्रयत्न करना ही संस्कृति है।"

संस्कृति का अर्थ

क्योंकि सभी मनुष्य एक बड़ी समष्टि के सदस्य हैं और मानव प्रकृति में जो सहानुभूति है, वह समाज के एक सदस्य को न तो शेष के प्रति उदासीन रहने देगी और न यह चाहेगी कि वह शेष सब लोगों से अलग केवल अपने लिए पूर्ण कल्याण प्राप्त करे, अतः हमारी मानवता का प्रसार व्यापक रूप से होना अनिवार्य है। यही संस्कृति में निहित पूर्णता की भावना के उपयुक्त भी होगा। 'संस्कृति' के अर्थ में पूर्णता उस दशा में सम्भव नहीं है, जब व्यक्ति दूसरों से पृथक् बना रहे। इससे स्पष्ट है कि 'संस्कृति' मनुष्य को पूर्ण बनाती है, और मनुष्य की पूर्णता का अर्थ ही यह है कि वह अपनी शक्तियों का विकास करे और विकसित शक्तियों का उपयोग लोकहित में करे।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि "संस्कृति" में त्रिविध मानवीय गुणों का समावेश होता है। जिन गुणों के विकसित करने से मनुष्य में पाशविक वृत्तियों का लोप होता है और मानवता का विकास होता है, वे सभी संस्कृति के अंग हैं। कुछ विद्वानों ने संस्कृति को सूत्र रूप से "सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम्" भी कहा है।

'संस्कृति' क्या है, इस सम्बन्ध में विचार करने के उपरान्त हम अब 'भारतीय संस्कृति' की विशेषता क्या है, इस पर विचार करेंगे।

भारत का मुख्य अवलम्ब धर्म रहा है और संसार को इसकी प्रमुख देन आध्यात्मिक प्रकाश है। प्रायः अन्य देशों में आदमियों के लिए

धर्म बहुत से सांसारिक कार्यों में से एक कार्य है। वहाँ राजनीति, अर्थनीति या अन्य नीतियों और वादों की चर्चा में तथा सामाजिक कृत्यों में मनुष्यों का बहुत सा समय लग जाता है और उन कार्यों के साथ एक आध काम धर्म सम्बन्धी भी होता है। परन्तु भारत में खान, पान, सोना, बैठना, शौच, स्नान, यात्रा, जन्म, मरण, विवाह, पर्व-त्योहार, उत्सव, विद्यारम्भ, सभी बातों में धर्म की भावना प्रधान है। जीवन का कोई कार्य ऐसा नहीं जिसका धर्म से कुछ सम्बन्ध न माना जाता हो।

धर्म और उसका व्यापक रूप

भारत में धर्म का रूप संकुचित या संकीर्ण नहीं है। अपने मुख्य अंश में वह मानव मात्र के लिए है। वैदिक धर्म को चलानेवाला कोई महात्मा, पैगम्बर या महापुरुष नहीं है। वह मानव मात्र के लिए है। इसमें धीरे-धीरे अनेक मत मिलते गए और यह वर्त्तमान हिन्दू धर्म बन गया। इस धर्म में सभी विचारधाराओं का समावेश है। इसमें अनेक देवी देवताओं को माना जाता है, परन्तु सब देवी-देवताओं को एक ही सर्वोच्च सर्वशक्तिमान ईश्वर का रूप समझा जाता है। इस दृष्टि से यह धर्म एकेश्वरवादी है। इस धर्म में कोई चाहे तो ईश्वर को साकार मान सकता है, और चाहे उसे निराकार समझ सकता है। साकार माननेवाले उसकी मूर्त्ति किसी विशेष प्रकार की बनाने के लिए बाध्य नहीं है, वे ईश्वर को चाहे जिस रूप में पूज सकते हैं। तुलसीदासजी ने इस सम्बन्ध में कहा है "जाकी रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी तिन तैसी"। श्री कृष्ण ने गीता में स्पष्ट कह दिया है—"जो जिस रास्ते से चलकर ईश्वर तक पहुँचने की कोशिश करता है, उसे ईश्वर उसी रास्ते से मिल जाता है।" हिन्दू धर्म में विचार भेद, आचार भेद, उपासना भेद की पूर्ण स्वतंत्रता है। यहाँ तक स्वतंत्रता है कि ईश्वर को न माननेवालों, उसके अस्तित्व को ही अस्वीकार करनेवालों अर्थात् 'नास्तिकों' का भी इसमें बहिष्कार नहीं है। नास्तिकों को भी यहाँ यथेष्ट सम्मान मिला है। विचार स्वातंत्र्य की हिन्दू धर्म में पराकाष्ठा है। संसार का कोई अन्य धर्म इतना उदार नहीं है। मनु के अनुसार धर्म के दस लक्षण निम्नलिखित हैं—धैर्य, क्षमा, संयम, चोरी न करना, मन और शरीर की सफाई, इन्द्रियों को वश में रखना, बुद्धि, ज्ञान, सत्य और अक्रोध। ऊपर लिखे धर्म के लक्षणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ मनुष्य के उन गुणों और कार्यों को ही धर्म

माना गया है, जिनसे समाज का संगठन हितकर होता है और व्यक्ति का विकास होता जाता है। भारत ने धर्म का एक ऐसा आदर्श उपस्थित किया है, जो किसी व्यक्ति विशेष या ग्रन्थ पर आधारित न होकर जीवन के शाश्वत सिद्धान्तों का प्रचारक रहा है और इस प्रकार वह वास्तव में मानव धर्म है।

धार्मिक सहिष्णुता

मानवीय धर्म के इस उदार स्वरूप को मानने का यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि यहाँ चिरकाल तक दूसरे देशों और विविध जातियों के जो व्यक्ति आये, सबका सहर्ष स्वागत किया गया, उन्हें अपनाया गया, यहाँ तक कि वे विशाल भारतीय समाज में इस प्रकार मिल गए, जिस प्रकार नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं। भिन्न-भिन्न धर्मवालों के प्रति जैसी सहिष्णुता का व्यवहार यहाँ हुआ, वैसा संसार के अन्य देशों के इतिहास में कहीं नहीं मिलता। अन्य देशों में इसके विपरीत धार्मिक असहिष्णुता का ऐसा ताण्डव नृत्य हुआ है और धर्म के नाम पर ऐसा नरसंहार और विनाश हुआ है कि उसको देखकर मनुष्य के हृदय में धर्म के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। यूरोपीय देशों में धर्म के नाम पर जो भयंकर अत्याचार हुए हैं और एक ही ईसाई धम की दो ईसाई शाखाओं के अनुयायियों में जो मारकाट सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी तक हुई, उसे सब इतिहास के पाठक जानते है। धर्म के नाम पर मुस्लिम धर्म को माननेवाले शासकों ने अन्य धर्मावलम्बियों के साथ जो बुरा व्यवहार किया, उनके धार्मिक स्थानों को नष्ट किया, उन्हें मुस्लिम धर्म स्वीकार करने पर विवश किया, सब इतिहास के पाठकों को विदित है। इसके विपरीत भारत ने अद्भुत उदारता का परिचय दिया। यहाँ पारसी आये और उनका स्वागत हुआ। एक ही घर में लोग बुद्ध, जैन और हिन्दू होते थे। हिन्दुओं में भी यद्यपि ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि के भक्त होते हैं, परन्तु उनमें कोई द्वेष नहीं होता। सभी देवताओं को एक ही भगवान् का रूप माना गया। हिन्दू भी भगवान् बुद्ध और महावीर को मानते हैं। भारतीय संस्कृति की यह एक विशेषता है कि भारतीय यह समझते हैं कि यद्यपि नाम भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु वस्तु वास्तव में एक ही है। इस विचार-धारा के कारण भारत सब धर्मों, सम्प्रदायों और सब जातियों के आदमियों से प्रेम करता रहा। यहाँ लोगों ने मिलकर हिन्दुओं के लिए मन्दिर,

मुसलमानों के लिए मस्जिद और ईसाइयों के लिए गिरजाघर बनवाने में योग दिया है।

प्राचीन काल में ज्ञान-प्रेम का परिचय देनेवाले देशों में भारत अग्रणी रहा है। यहाँ के धार्मिक साहित्य में चार वेद, अठारह पुराण, छः दर्शन, विविध उपनिषद, गीता और स्मृतियाँ आदि
है। यह एक विशाल रत्न-भण्डार है, जिसमें ज्ञान-प्रेम
जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के सम्बन्ध में विचार और
अन्वेषण किया गया है, और मनुष्य के मानसिक तथा आध्यात्मिक विकास की बहुत उच्च भूमि के दर्शन होते हैं। यह साहित्य ज्ञानप्रधान ही नहीं, भावप्रधान भी है, जिससे जन-जन को पूर्णता प्राप्त करने की प्रेरणा मिलती है। भारतीय धार्मिक साहित्य पर संसार मुग्ध है।

उपनिषदों के रहस्यवाद ने संसार के विद्वानों को बहुत आकर्षित किया है। यहाँ तक कि उन्हें धार्मिक साहित्य का भक्त बना दिया है। औरङ्गजेब के भाई दाराशिकोह ने कुछ उपनिषदों का अनुवाद फारसी में किया था। इस फारसी अनुवाद का लेटिन भाषा में अनुवाद किया गया। इस प्रकार लेटिन भाषा की यह रचना अनुवाद की भी अनुवाद थी, और बहुत अच्छा अनुवाद न थी, तो भी इसे पढ़कर जर्मन दार्शनिक शोपेनहार ने उपनिषदों के सम्बन्ध में नीचे लिखे उद्गार प्रकट किए :—

"उपनिषद मनुष्य के श्रेष्ठतम मस्तिष्क की उपज हैं। मुझे अपने जीवन काल में इससे शान्ति मिली है, और सम्भवतः मृत्यु के बाद भी मिलेगी।"

उसने यह भी कहा कि यूनानी साहित्य के पुनः अभ्युदय से संसार के विचारों में जो उथल-पुथल मची, उससे भी अधिक शक्तिशाली और बहुत दूर-व्यापी भाव क्रान्ति इस साहित्य से होगी।

दाराशिकोह ने भगवद्गीता का भी, जो उपनिषदों की भी उपनिषद है, फारसी में अनुवाद किया। चार्ल्स विलकिन्स ने गीता का सीधे संस्कृत से अंग्रेजी में अनुवाद किया। इसके सम्बन्ध में वारेन हेस्टिंग्स ने लिखा था कि 'जो धन और शक्ति भारत से ब्रिटेन पाता था, जब उसकी धुँधली सी स्मृति रह जावेगी, उस समय भी गीता का यह अंग्रेजी अनुवाद अंग्रेजों को प्रेरणा देता रहेगा।'

भारत के धार्मिक साहित्य के अतिरिक्त नाटक, निबन्ध, महाकाव्य, गीतिकाव्य, कथा, साहित्य का भी विदेशों में खूब आदर हुआ। कितने ही ग्रन्थों का अनेक विदेशी भाषाओं में अनुवाद हुआ और वे विश्व-साहित्य के अंग बन गए हैं। भारतीय साहित्यकारों की एक विशेषता यह रही है कि वे आत्मविज्ञप्ति से बचते रहे हैं। उन्होंने अपने बारे में कुछ भी प्रकाश नहीं डाला। हमारे अनेक ग्रन्थों के निर्माताओं का समय, नाम और पता भी संसार को विदित नहीं है!

विद्वान् और मननशील व्यक्ति जानते हैं कि भारतीय विचारों के इस शान्त, किन्तु अविराम प्रवाह का संसार के विद्वानों पर गहरा प्रभाव पड़ा। भारतीय विचारों के प्रचार की एक विशेषता रही है। भारतीय प्रचारकों ने अपने विचारों और भावों को दूसरों पर जबरदस्ती कभी नहीं लादा। उन्होंने अपने धार्मिक विचारों का प्रचार करने के लिए कभी तलवार नहीं उठाई, और न उन्होंने कभी किसी को धन या मान-प्रतिष्ठा का ही प्रलोभन दिया। जब भारतीय प्रचारक अन्य देशों को जाते थे, तो वे सेना और धन लेकर नहीं, वरन मानव जाति के प्रति प्रेम और कल्याण की भावना लेकर जाते थे।

भारतीय विचारधारा का समय-समय पर विदेशों में बहुत अधिक प्रचार हुआ। बौद्ध धर्म वास्तव में हिन्दू धर्म का एक सुधार आन्दोलन था। बौद्ध धर्म ने भारतीय जीवन के सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया और प्राणी मात्र के प्रति प्रेम का भाव बढ़ाया। इस धर्म से भारत तथा अन्य देशों में मूर्त्ति-निर्माण और चित्रकला को बहुत प्रोत्साहन मिला। जिन जिन देशों में इसका प्रचार हुआ, वहाँ के साहित्य पर भी इसका गहरा प्रभाव पड़ा। इसके द्वारा संसार में दूर-दूर तक शान्ति और अहिंसा का प्रचार हुआ। दक्षिण पूर्व एशिया, बर्मा, चीन, श्याम, लंका, जापान आदि देशों में तो आज भी इसका प्रभाव है। बुद्ध धर्म ने भारत की देन होने के कारण भारत का इन देशों से गहरा सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित कर दिया, जो आज भी टूटा नहीं है।

बौद्ध धर्म

सम्राट् अशोक के समय में बौद्ध प्रचारक श्याम, मिस्र, मेसीडोनिया, सायरीन और एपिरों में भी पहुँच गए थे। यह प्रचारक पश्चिमीय एशिया को पारकर कम से कम एक हजार मील आगे उत्तर अफ्रीका तक

फैले हुए थे। जब हजरत ईसा का जन्म भी नहीं हुआ था, उस समय सैकड़ों बौद्ध भिक्षु अपने उच्च जीवन से समस्त ईराक, श्याम और फिलिस्तीन के निवासियों को प्रभावित कर रहे थे।

उस समय के इतिहास से ज्ञात होता है कि पश्चिमीय एशिया, यूनान, मिस्र और इथोपिया के पहाड़ों और जंगलों में उन दिनों हजारों बौद्ध, हिन्दू और जैन भिक्षु, संत और महात्मा भारत से जा जाकर बसे हुए थे। यह लोग वहाँ बिलकुल साधुओं की तरह रहते थे और अपने त्याग, तपस्या और विद्या के लिए प्रसिद्ध थे। संसार की मानवता को यह भारतीय संस्कृति की महान् देन थी।

यद्यपि भारत मे ज्ञान के प्रति बहुत अधिक प्रेम रहा, किन्तु भारतीय ऋषियों ने उसके साथ ही भावों और आचरण को शुद्ध रखने पर बहुत बल दिया।

शुद्ध आचरण, शुद्ध भाव और निष्काम कर्म

प्राचीन काल में ही वैदिक ऋषियों ने यह घोषणा कर दी थी कि अविद्या तो मनुष्य को अंधकार में डालती ही है; परन्तु कोरी विद्या उससे भी अधिक गहरे गढ़े में डालनेवाली होती है। विद्या या ज्ञान के साथ भाव शुद्ध अर्थात् हृदय का विकास आवश्यक है। हृदय की शुद्धि के अभाव में विद्या मानव-समाज के लिए अहितकर हो सकती है।

ज्ञान और भाव-शुद्धि तभी सार्थक होगी, जब उसके अनुसार आचरण भी हो। इसीलिए भारतीय विचारकों ने आचरण पर बहुत बल दिया है। मनु ने कहा है कि "आचारः परमो धर्मः" अर्थात् सबसे ऊँचा धर्म मनुष्य का सद्व्यवहार है। इस प्रकार भारत में कर्म का महत्त्व माना गया, साथ ही यह आदेश भी किया गया कि कर्म में आसक्ति न होनी चाहिए; वह निष्काम भाव से फल की बिना आशा किए, किया जाना चाहिए, जिससे वह सांस्कृतिक विकास में बाधक न हो। अनासक्त व्यक्ति उदार हृदय होता है, वह अपने पराये का भेद नहीं मानता, वह परिवार, जाति, रंग या देश की सीमाओं मे बँधा नहीं रहता। वह सबसे भाईचारा रखता है। उसमें विश्व-बंधुत्व अर्थात् संसार हित की भावना रहती है।

हृदय के उत्कर्ष की भावना यहाँ के सुन्दर साहित्य के अतिरिक्त स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, नृत्य, संगीत-कला में भी खूब प्रकट हुई है। दक्षिण भारत के ऊँचे शिखरोंवाले मंदिरों, उत्तर भारत का प्रसिद्ध ताजमहल और

अन्य मकबरे, प्राचीन देवताओं और 'तथागत' (बुद्ध) की मूर्त्तियां, अजन्ता के चित्र और कांगड़ा, राजपूत, मुगल और आधुनिक टैगोर शैली के चित्र जिनमें 'अन्तर' (हृदय या अन्तःकरण) की अभिव्यक्ति प्रधान है; यहाँ के नृत्य और संगीत जिनमें असीम-ससीम के मिलन और विरह की भावना मुख्य है; यह सब ऐसे सौन्दर्यमय संसार की रचना करते हैं, जिसमें व्यक्ति शेष सृष्टि के साथ मिलकर अलौकिक आनन्द का अनुभव करता है।

अन्य देशों में जहाँ प्रकृति पर विजय प्राप्त करने की भावना अधिक बलवती रही है, वहाँ भारत ने उसके साथ अपनापन स्थापित करने का विनम्र प्रयत्न किया है। यहाँ केवल साधु, संन्यासी और महात्मा ही नहीं, अन्य व्यक्ति भी प्रकृति की गोद का आनन्द लेते रहे हैं। वे उसमें दासी की कल्पना न कर उसे माता के रूप में देखते रहे हैं। प्रकृति के वन, लता, पर्वत, नदी, झील, पशु, पक्षी के साथ उन्होंने कभी अकेलेपन का अनुभव नहीं किया। भारत में नदी और पर्वत पूज्य माने गए हैं, इसी कारण उनके निकट ही तीर्थों और मंदिरों की स्थापना हुई है। वन, पर्वत, नदी और गाँव यहाँ की संस्कृति के सुन्दर प्रतीक रहे हैं।

प्रकृति से अपनापन और सरल जीवन

प्रकृति से इस सामीप्य और अपनेपन का यह परिणाम हुआ कि भारतीय जीवन में आडम्बर रहित सादे और सरल जीवन का महत्त्व स्थापित हो गया।

मानव संस्कृति के लिए किसी देश की सबसे बड़ी देन ऊँचे चरित्र के व्यक्ति होते हैं। भारत ने अपने लम्बे इतिहास में हरिश्चन्द्र जैसे सत्यवादी, रामचन्द्र जैसे आदर्श शासक, कृष्ण जैसे योगी, कर्ण जैसे दानी, भीष्म जैसे दृढ़प्रतिज्ञ, गौतम बुद्ध जैसे मानव प्रेमी और सुधारक, कणादि और पतंजलि जैसे दार्शनिक, महाराणा प्रताप और शिवाजी जैसे वीर और स्वतंत्रता प्रेमी, शंकराचार्य और दयानन्द जैसे बाल-ब्रह्मचारी, विक्रमादित्य, अशोक और अकबर जैसे प्रजा प्रेमी शासक; वाल्मीकि, वेदव्यास, सूर, तुलसी, जैसे महान कवि; असंख्य नर रत्न, और सीता, गार्गी, सावित्री, अहल्याबाई, रानी लक्ष्मीबाई जैसी अनेक नारियाँ प्रदान की हैं।

ऊँचे और उदार चरित्र के व्यक्ति

हमारी इस पीढ़ी में भी राष्ट्रपिता महात्मा गांधी, तिलक, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अरविन्द, महर्षि रमन जैसे महान् लोकसेवकों ने मानव कल्याण के लिए अपना जीवन उत्सर्ग करके सुंदर आदर्श उपस्थित किया है। भारत में मानवता के प्रचारकों का एक अटूट क्रम प्राचीन काल से चलता आ रहा है। हम मानवता की एक उच्च परम्परा के उत्तराधिकारी हैं, इसलिए मानव संस्कृति में योग देने के लिए हमारा उत्तरदायित्व भी उतना ही अधिक है।

अभ्यास के प्रश्न

१—संस्कृति से हमारा क्या तात्पर्य है, समझाकर लिखिए।

२—भारतीय संस्कृति की क्या विशेषता है, संक्षेप में उसका वर्णन कीजिए।

३—भारतीय जीवन पर धर्म का प्रभाव कितना है, इसकी विवेचना कीजिए।

४—"धार्मिक सहिष्णुता" भारत की देन है, इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए।

५—शुद्ध आचरण, शुद्ध भाव, निष्काम कर्म के दर्शन का भारतीय जीवन पर क्या प्रभाव है, लिखिए।

६—"भारत का ज्ञान प्रेम" अभूतपूर्व था। इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए।

७—भारत की मानवता को जो सांस्कृतिक देन है, उसका संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. मानव संस्कृति—श्री भगवानदास केला
2. मानव की कहानी—श्री रामेश्वर गुप्ता
3. A History of World Civilisation by I.E. Swan.
4. An Outline of History of the World by H. A. Davis.
5—विश्व संस्कृति का विकास—श्री कालिदास कपूर

अध्याय २७

चीन

चीन पर साम्राज्यवादी राष्ट्रों की दृष्टि

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक चीन संसार से पृथक् रहकर अपनी प्राचीन सभ्यता, वैभव तथा ऐश्वर्य के अभिमान में ही चूर था। संसार में क्या क्या परिवर्त्तन हो रहे हैं, चीनियों को इसका कुछ भी पता न था। चीन के द्वार विदेशियों के लिए बन्द थे और चीनी तो विदेशों में जाते ही न थे। किन्तु इसी समय यूरोप और अमेरिका को अपने व्यापारियों के लिए नये-नये क्षेत्रों की आवश्यकता पड़ी और साम्राज्यवादी शक्तियों के अग्रदूत मिशनरियों ने चीन में प्रवेश करना आरम्भ कर दिया। चीन के द्वार विदेशियों के लिए खुल गए। क्रमशः विदेशी राष्ट्रों ने चीन के बाजार, खानों, रेल बनाने का अधिकार, आदि पर एकाधिकार स्थापित करने का प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया। इसी प्रवृत्ति की पूर्त्ति के लिए चीन में प्रभाव क्षेत्र तथा नौकाश्रय स्थापित किए गए और चीन की भूमि को अपने अधिकार में लाया गया।

१८४० में चीन और ब्रिटेन का युद्ध हो गया। इस युद्ध का मुख्य कारण यह था कि चीन अंग्रेज व्यापारियों द्वारा लाई हुई भारतीय अफीम की खपत में बाधा डालता था। युद्ध में चीन पराजित हुआ। उसे ब्रिटेन ने अफीम खाने पर विवश किया। नार्नकिंग की संधि हुई, जिसके अनुसार ब्रिटेन को हांगकांग मिल गया और पाँच प्रमुख चीनी बंदरगाह यूरोपीय देशों तथा अमेरिका के व्यापारियों के लिए खोल दिए गए। इसके उपरान्त एक फ्रैंच मिशनरी के मारे जाने का बहाना लेकर फ्रांस और ब्रिटेन ने फिर चीन से युद्ध छेड़ दिया। चीन ने दबकर फ्रांस तथा ब्रिटेन को और अधिक व्यापारिक सुविधाएँ दीं तथा रूस ने संधि के समय चीन का पक्ष समर्थन करने का दिखावा करके उत्तर का बहुत सा प्रदेश चीन से ले लिया। इन दोनों लड़ाइयों का एक परिणाम यह हुआ कि

चीन का विदेशी व्यापार पर कर लगाने का अधिकार ही एक प्रकार से छिन गया।

इस समय मंचू राजवंश चीन पर शासन कर रहा था। मंचू सम्राट् अत्यन्त निर्बल, भ्रष्ट और विलासी शासक था। १८४६ में चीन में विदेशियों के बढ़ते हुए प्रभाव तथा मंचू सम्राट् के कुशासन तथा अत्याचार के विरुद्ध टाइपिंग क्रान्ति

टाइपिंग क्रान्ति

हुई। यह विद्रोह १५ वर्ष तक चलता रहा। अन्त में ब्रिटेन और अमरीका की सहायता से सम्राट् ने इस विद्रोह को दबा दिया। विदेशी शक्तियों ने इस सहायता के बदले क्रमशः चीन के टुकड़े कर करके उन्हें आपस में बाँटना आरम्भ कर दिया। मंचू सम्राट् विदेशी शक्तियों की दया का भिखारी था। वह महाराष्ट्र चीन के अंग-विच्छेद को रोकने में असमर्थ था।

पश्चिमीय साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने देखा कि चीन को हड़प जाने का अच्छा अवसर है। किन्तु चीन के बँटवारे के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो पा रहा था, इसी कारण उस समय चीन की स्वतंत्रता बच गई। फिर भी जिस राष्ट्र को उपयुक्त

चीन अंग-विच्छेद

अवसर मिला, उसने चीन साम्राज्य के किसी न किसी भाग को छीन लिया। फ्रांस ने १८८० के लगभग इंडोचीन को और ब्रिटेन ने बर्मा को छीन लिया। रूस ने मंचूरिया पर अपना प्रभाव क्षेत्र स्थापित कर दिया। जापान भी चुप नहीं था, वह भी कोरिया और मंचूरिया पर आँख लगाए हुआ था। १८६४ में चीन-जापान युद्ध हुआ। चीन पराजित हुआ, उसके फलस्वरूप चीन को फारमोसा, लाओडंग तथा पोर्टआर्थर जापान को देने पड़े और कोरिया स्वतंत्र बना दिया गया। कोरिया जापान के प्रभाव क्षेत्र में आ गया। इधर जर्मनी ने दो जर्मन मिशनरियों की मृत्यु का बहाना लेकर शांटुंग प्रान्त पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। क्रमशः ब्रिटेन, फ्रांस, रूस और जर्मनी सभी राष्ट्र चीन सम्राट् को दबाकर भिन्न-भिन्न प्रदेशों के पट्टे लेने लगे तथा व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने लगे। इस समय इन यूरोपीय राष्ट्रों ने यह योजना बनाई कि उत्तर चीन तथा मंचूरिया रूस को, शांटुंग जर्मनी को, दक्षिण के तीन प्रान्त फ्रांस को और शेष ब्रिटेन को देकर चीन को बाँट लिया जावे। परन्तु संयुक्तराज्य अमेरिका यह नहीं चाहता था, क्योंकि उसकी

पूँजी चीन में लग चुकी थी। अतएव चीन बच गया, परन्तु इन राष्ट्रों ने उसका आर्थिक बँटवारा कर लिया। उनके प्रभाव क्षेत्र निर्धारित हो गए।

चीन में विदेशियों के विरुद्ध घृणा बढ़ती जा रही थी, साथ ही चीन की दशा प्रतिदिन बिगड़ती जा रही थी। तत्कालीन सम्राट् बालक था। राजमाता जु-हशी शासन कार्य करती थीं। चीन का शिक्षित वर्ग देश की दुर्दशा का मूल कारण वर्त्तमान शासन प्रणाली को समझता था। राजमाता इस सम्राट् विरोधी भावना को जानती थी, अतः उसने राष्ट्र की घृणा विदेशियों के विरुद्ध भड़काने का प्रयत्न किया। इस समय चीन में कट्टर देशभक्तों का एक बड़ा दल उत्पन्न हो गया था, जो तलवार के जोर से विदेशियों को निकाल बाहर करने की बात कहते थे। विदेशी उन्हें 'बाक्सर' कहते थे। राजमाता का सहयोग पाकर १३ जून १९०० को बाक्सर विद्रोह आरम्भ हुआ और विदेशियों का चीन में भयंकर संहार हुआ। उनकी सम्पत्ति लूट ली गई। सभी यूरोपीय राष्ट्रों ने चीन को धराशायी करने के लिए अपनी अपनी सेनाएँ भेजीं। इस प्रबल अन्तर्राष्ट्रीय सेना का चीन सामना न कर सका, हजारों चीनी देशभक्त मारे गए और पेकिंग को खूब लूटा गया। विवश होकर चीन को और अधिक व्यापारिक सुविधाएँ देनी पड़ीं और क्षतिपूर्त्ति के रूप में एक बहुत बड़ी रकम देनी पड़ी। चीन पर स्थायी रूप से पश्चिमीय राष्ट्रों का प्रभुत्व स्थापित हो गया।

बाक्सर विद्रोह

किन्तु बाक्सर विद्रोह का एक परिणाम यह हुआ कि चीनी लोगों ने यह समझ लिया कि पश्चिमीय ढंग बिना अपनाए वे जीवित नहीं रह सकते। इसी समय रूस-जापान युद्ध हुआ और जापान विजयी हुआ। इस युद्ध ने चीन की आँखें और भी खोल दीं। अब चीनी विद्यार्थी विदेशों में विद्या प्राप्त करने के लिए जाने लगे। विदेशों में अध्ययन करने के उपरान्त और वहाँ की जनतांत्रिक शासन-प्रणाली का अध्ययन करने के उपरान्त चीनी नवयुवकों में यह भावना दृढ़ होने लगी कि चीन को अपनी शासन-पद्धति बदलनी चाहिए। क्रमशः शिक्षित चीनियों में यह विचार घर कर गया कि चीन के दुर्भाग्य का मुख्य कारण सम्राट् और राजवंश ही है। मंचू राजवंश अत्यन्त अशक्त और पतित अवस्था में था। जनता का अनवरत शोषण हो रहा था।

चीन आधुनिकता की ओर

कतिपय दरबारी समूचे राष्ट्र को जोंक की भाँति चूस रहे थे। मंचू सम्राट् साम्राज्यवादी शक्तियों के सामने घुटने टेककर उन्हें विशेषाधिकार देकर अपमानजनक संधियाँ करके चीन के प्राकृतिक साधनों को विदेशियों के हाथ सुपुर्द करके अपने सिंहासन की रक्षा कर रहे थे। मंचू राजवंश ने राष्ट्रीय भावना का विदेशियों के विरुद्ध उपयोग करके अपनी रक्षा करने का प्रयत्न किया; परन्तु क्रमशः चीनी देशभक्त यह समझ गए कि जब तक सत्ता जनता के हाथ में नहीं आती, तब तक चीन विदेशियों के प्रभाव से भी मुक्त नहीं हो सकता। डाक्टर सनयात सेन के नेतृत्व में चीनी देशभक्त राज्य क्रान्ति का प्रयत्न करने लगे।

डाक्टर सनयात सेन ने देश के अन्दर और विदेशों में गुप्त ढंग से क्रान्तिकारी दल का संगठन किया। कई बार क्रान्ति के प्रयत्न असफल हो गए और हजारों की संख्या में देशभक्त चीनी मारे गए। परन्तु डाक्टर सनयात सेन निराश होनेवाले चीन में राजनैतिक व्यक्ति नहीं थे। वे असफलता मिलने पर फिर प्रयत्न जागृति करते थे। सेना में भी विद्रोह की चिनगारी पहुँच गई थी। विदेशों से भी सनयात सेन को सहायता मिलने लगी थी। तीस लम्बे वर्षों तक सतत प्रयत्न करने पर १९१२ में विद्रोह सफल हुआ। मंचू राजवंश का अन्त हो गया और चीन में जनतंत्र स्थापित किया गया। डाक्टर सनयात सेन चीनी जनतंत्र का प्रथम अध्यक्ष चुना गया।

परन्तु चीन में जनतंत्र की स्थापना से ही चीन की दुर्दशा का अन्त नहीं हो गया। मंचू राजवंश का अन्त होते ही गृह-कलह उठ खड़ा हुआ। डाक्टर सनयात सेन ने गृह-युद्ध बचाने के लिए सेनापति यूआन-शी काई के पक्ष में जनतंत्र का अध्यक्ष पद छोड़ दिया; क्योंकि सेनापति यूआन-शी-काई ने उत्तर चीन पर अपना अधिकार जमा लिया था। परन्तु डाक्टर सनयात सेन के नेतृत्व में क्यूमिन्टांग (राष्ट्रीय दल) की नीति और सेनापति यूआन-शी-काई की नीति में कोई साम्य नहीं था। डाक्टर सनयात सेन शुद्ध जनतंत्र की स्थापना करना चाहते थे और सेनापति यूआन-शी-काई एक अधिनायक बनने का स्वप्न देख रहा था। उसने पार्लियामेंट को तोड़ दिया और १९१६ में उसने अपने आपको चीन का सम्राट् घोषित कर दिया। परन्तु जून १९१६ में ही उसकी मृत्यु हो गई। इसके उपरान्त चीन में दो सरकारें एक पेकिंग की

सरकार जो उत्तर की सरकार थी और दूसरी क्यूमिन्टांग दल की दक्षिण चीन की सरकार कैंटन में स्थापित हो गई। दोनों ही सरकारें निर्बल और शक्तिहीन थीं। इसका फल यह हुआ कि लगभग एक दर्जन गवर्नरों तथा सेनापतियों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया और वे अपनी अपनी सेनाएँ लेकर लूट-मार करने लगे। विदेशी राष्ट्र भी इन सेनापतियों को सहायता देते थे। सारा देश इन सेनापतियों के सैन्य संचालन तथा युद्धों से तंग आ गया था। देश में ऐसी अव्यवस्था छाई हुई थी कि किसी का जीवन तथा धन सुरक्षित नहीं था।

शिक्षा की उन्नति

चीन की उस निराशाजनक परिस्थिति में भी दो आशा की किरणें चमक रही थीं। वे थीं शिक्षा और राष्ट्रीय आन्दोलन। चीन की उस निराशाजनक अवस्था में भी शिक्षा की आश्चर्यजनक गति से उन्नति हुई और देश में राष्ट्रीय भावना का उदय हो गया।

पुराने शासन में शिक्षा केवल बड़े घराने के लड़कों को ही उपलब्ध थी। चीनी भाषा में हजारों की संख्या में संकेत चित्र थे, जिनको सीखना बहुत कठिन था। राज्यक्रान्ति के उपरान्त देश में शिक्षा के विस्तार का प्रयत्न किया गया। लिपि और भाषा को सरल बनाया गया और नवीन सरल पाठ्य पुस्तकें तैयार करवाई गईं और अशिक्षितों को शिक्षित बनाने का आन्दोलन तीव्र गति से चलाया गया। चीनी शिक्षा आन्दोलन के नेताओं ने केवल भाषा को ही सरल बनाने तथा अशिक्षितों को पढ़ाने का ही काम नहीं किया, वरन उन्होंने इतिहास, राजनीतिक, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, विज्ञान तथा प्रगतिशील साहित्य की प्रसिद्ध विदेशी भाषा की पुस्तकों का चीनी भाषा में अनुवाद किया और उन्हें प्रकाशित कराया। सारे देश में उस समय शिक्षा प्राप्ति के लिए अभूतपूर्व उत्साह दृष्टिगोचर हो रहा था।

शिक्षा के विस्तार का फल यह हुआ कि देश में विद्यार्थी समूह कट्टर देशभक्त और राष्ट्रवादी बन गया और उसने चीन की स्वतन्त्रता के लिए लगातार आन्दोलन किया।

यह तो हम पहले ही कह आये हैं कि क्यूमिन्टांग की सरकार का दक्षिण में अधिकार था और इसकी राजधानी कैंटन थी। कैंटन की

राष्ट्रीय सरकार चीन में विदेशियों का हस्तक्षेप नहीं सहन करती थी; किन्तु उत्तर की पेकिंग सरकार विदेशी राष्ट्रों के संकेतों पर चलती थी। दक्षिण के राष्ट्रवादियों ने इस बात का प्रयत्न किया
कि समस्त उत्तर चीन भी सनयात सेन के आदर्श चीन की एकता को स्वीकार कर ले। इस समय सोवियत रूस
की सरकार ने चीन की बहुत सहायता की। सोवियत रूस से मैत्री हो जाने के उपरान्त क्यूमिन्टांग कांग्रेस ने १९२४ में कम्युनिस्टों को अपने दल में ले लिया। डाक्टर सनयात सेन ने सोवियत रूस के सैनिक विशेषज्ञों की देखरेख में व्हाम्पो सैनिक ऐकेडमी स्थापित की, जिसमें आधुनिक ढंग की सैनिक शिक्षा दी जाती थी। इस ऐकेडमी की सहायता से राष्ट्रीय सेना को आधुनिक ढंग की सैनिक शिक्षा दी गई।

यह करने के उपरान्त डाक्टर सनयात सेन ने च्यांगकाई शेक के नेतृत्व मे उत्तर चीन को भी एकता के सूत्र में बाँधने के लिए उत्तर भेजा। च्यांगकाई शेक एक सफल सेनापति था। उसके नेतृत्व में दक्षिण की राष्ट्रीय सरकार की सेनाओं ने उत्तर चीन पर भी अधिकार कर लिया। एक बार फिर समस्त चीन एक केन्द्रीय सरकार की अधीनता में आ गया। इसी समय १९२५ में डाक्टर सनयात सेन की मृत्यु हो गई, तो क्यूमिन्टांग राष्ट्रीय दल का नेता सेनापति च्यांगकाई शेक चुना गया।

जब उत्तर चीन पर विजय करती हुई दक्षिण की सेनाएँ कूच कर रही थीं, तो क्यूमिन्टांग के दो दलों वामपक्षी (कम्युनिस्ट) तथा दक्षिणपक्षी दलों में वैमनस्य उत्पन्न हो गया। च्यांगकाई शेक कम्युनिस्टों का विरोधी था, साथ ही चीन के भूस्वामी, पूँजीपति, व्यवसायी तथा विदेशी शक्तियाँ सभी च्यांगकाई शेक का समर्थन कर रहे थे, क्योंकि वे नहीं चाहते थे कि चीन में कम्युनिस्ट प्रबल हो जावें। सभी राष्ट्रों ने च्यांगकाई शेक की नवीन सरकार को स्वीकार कर लिया। क्यूमिन्टांग में से शेक ने कम्युनिस्टों को निकाल दिया और वह उनका दमन करने लगा। च्यांगकाई शेक ने अपनी सरकार की राजधानी नानकिंग को बनाया।

च्यांगकाई शेक ने देश के निर्माण के लिए अमेरिकन विशेषज्ञों तथा जर्मन विशेषज्ञों को बुलाया; परन्तु दुर्भाग्यवश च्यांगकाई शेक को बिना

विश्राम लिए लगातार सैन्य संचालन करना पड़ रहा था, अतः उसकी निर्माण की योजना सफल न हो सकी। बात यह थी कि देश की अस्त-व्यस्त दशा दुर्भिक्ष, बाढ़ों तथा भ्रष्टाचार के कारण निर्धन चीनियों में कम्युनिज्म का खूब प्रचार हो गया था और कम्युनिस्ट दल देश में बहुत प्रबल हो गया था।

कम्युनिस्ट दल का उदय

कम्युनिस्ट दल ने थांग-टिसीकियांग के दक्षिण में अपनी एक नवीन सरकार स्थापित की। अब कम्युनिस्ट दल का प्रधान लक्ष्य यह बन गया कि किसी प्रकार नानकिंग की राष्ट्रीय सरकार को परास्त करके चीन में चीनी सोवियत सरकार स्थापित की जावे। इसलिए च्यांगकाई शेक से उनका अनवरत युद्ध चलता रहता था। राष्ट्रीय सरकार को केवल कम्युनिस्टों का ही विरोध नहीं सहना पड़ता था। देश में सबल केन्द्रीय सरकार का अभाव देखकर चीनी सेनानायक अपनी सेनाओं को लेकर फिर लूट-मार करने लगे। च्यांगकाई शेक को उनके विरुद्ध भी युद्ध करना पड़ा। इसी कारण देश में पुनः निर्माण का कार्य न हो सका।

जापान की मंचूरिया विजय

चीन इस गृह-युद्ध में फँसा हुआ था कि जापान ने मंचूरिया के प्रश्न को लेकर चीनी सेनाओं पर आक्रमण कर दिया। बात यह थी कि उस समय चीन अपने गृह-युद्ध के कारण बहुत निर्बल था। अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति ऐसी उलझी हुई थी कि रूस या अमेरिका अपनी समस्याओं में लगे हुए थे, अतः जापान ने मंचूरिया को हड़प लिया। चीन उसका कोई प्रतिकार न कर सका। जापान ने कुछ देशद्रोही मंचूरिया के नेताओं को लेकर एक कठपुतली सरकार बना दी और मंचूरिया ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। वास्तव में यह स्वतंत्रता केवल एक धोखा मात्र थी। मंचूरिया जापान का एक अधीनस्थ राज्य बन गया।

इस घटना ने चीनियों की आँखें खोल दीं। वे समझने लगे कि यदि क्यूमिन्टांग सरकार कम्युनिस्टों से युद्ध करने में ही फँसी रही तो धीरे धीरे जापान समस्त देश को हड़प लेगा। अतएव चीन में संयुक्त मोर्चे का नारा लगाया गया। सर्वसाधारण की यह धारणा बन गई कि जब तक कम्युनिस्ट और राष्ट्रवादी सेनाएँ मिलकर जापान का सामना नहीं करतीं, तब तक जापान को रोकना असम्भव है। कम्युनिस्टों ने भी यह

घोषणा की कि हम नानकिंग सरकार के साथ मिलकर जापानी शत्रुओं से युद्ध करने के लिए तैयार हैं।

उधर जापान चीन को गृह-युद्ध में फँसा और निर्बल देखकर एक के बाद दूसरे चीनी प्रदेश को हड़पता जा रहा था और इधर च्यांगकाई शेक एक के बाद दूसरी सेना कम्युनिस्टों का विनाश करने के उद्देश्य से दक्षिण की ओर भेज रहा था। च्यांगकाई शेक का च्यांगकाई शेक का उद्देश्य यह था कि वह पहले कम्युनिस्टों के लाल सेना तथा कम्युनिस्टों का विनाश कर लें, फिर विरुद्ध सैन्य संचालन जापान का विरोध करें। परन्तु यह होनेवाला नहीं था। माओ त्सी तुंग तथा यू टेह के सफल नेतृत्व में लाल सेना क्यूमिन्टांग सेनाओं के आक्रमण को विफल करती रही। च्यांगकाई शेक ने अपने सेनापतियों की अधीनता में बड़ी-बड़ी सेनाएँ चार बार भेजीं, किन्तु वे सफल नहीं हुईं। पाँचवीं बार सात लाख सेना लेकर च्यांगकाई शेक ने स्वयं आक्रमण किया, किन्तु थोड़ी सफलता मिलने पर भी शेक को पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। लाल सेना का विनाश न हो सका। इधर चीन का जनमत तेजी से च्यांगकाई शेक का विरोधी बनता जा रहा था। लोगों की समझ में यह नहीं आ रहा था कि जब कम्युनिस्ट संयुक्त मोर्चा बनाकर जापान का मुकाबला करने को तैयार है, तो जापान से युद्ध न करके कम्युनिस्ट चीनी सेनाओं का विनाश करने में सारी शक्ति लगाने का क्या अर्थ है। जापान के विरुद्ध चीनियों में ऐसी तीव्र भावना थी कि वे यह सहन नहीं कर सकते थे कि चीन की राष्ट्रीय सरकार जापान के सामने तो घुटने टेकती रहे और लाल सेना को नष्ट करने में अपनी शक्ति नष्ट करती रहे।

च्यांगकाई शेक ने शीघ्र ही कम्युनिस्टों की शक्ति को सदैव के लिए नष्ट कर देने के लिए छठाँ और अन्तिम विशाल आक्रमण किया। इस भयंकर आक्रमण से बचने के लिए क्या किया जावे? कम्युनिस्टों के सामने एक भयंकर प्रश्न था। चीनी सोवियत सरकार के प्रधान माओ-त्सी तुंग ने एक बार फिर क्यूमिन्टांग से लाल सेना पर आक्रमण न करने और जापानियों के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने की अपील की; किन्तु उसकी अपील का कोई फल न निकला। तब उन्होंने आधुनिक समय की सबसे

अधिक साहसपूर्ण और आश्चर्यचकित कर देनेवाली यात्रा करने का निश्चय किया।

१५ अक्टूबर, १९३४ को लाल सेना ने च्यांगकाई शेक की विशाल सेना की घेराबन्दी को एकाएक तोड़कर प्रसिद्ध लम्बा मोर्चा करना आरम्भ किया। इस ऐतिहासिक यात्रा में प्रतिदिन लाल सेना को च्यांगकाई शेक की सेना से युद्ध करना पड़ता था। एक वर्ष से अधिक की इस लम्बी यात्रा में लाल सेना को ३०० छोटी और १८ बड़ी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। ३६८ दिन बाद आठ हजार मील की यात्रा करके दक्षिण से जब लाल सेना उत्तर के यनान प्रान्त में पहुँची, तो उनकी यह लम्बी यात्रा समाप्त हुई। अब च्यांगकाई शेक की सेनाओं के लिए लाल सेनाओं का विनाश कर सकना सम्भव नहीं थी। वे सुरक्षित प्रदेश में पहुँच गई थीं, उन्हें सोवियत रूस से सहायता मिल सकती थी।

इधर संयुक्त मोर्चा आन्दोलन बल पकड़ता जा रहा था। जापान के प्रति दब्बू नीति के कारण चीनी जनता च्यांगकाई शेक की नीति का विरोध तेजी से कर रही थी। उसी समय जापान ने कुछ शर्तें चीन के सामने रक्खीं। उनको मानने का अर्थ होता, चीन द्वारा जापान का प्रभुत्व स्वीकार करना। सारे राष्ट्र में तीव्र क्षोभ की लहर फैल गई। कम्युनिस्टों ने तो यहाँ तक घोषणा कर दी कि यदि क्यूमिन्टाङ्ग सरकार संयुक्त मोर्चा स्थापित करके युद्ध करने का निर्णय करे, तो वे लाल सेना को सरकार को सुपुर्द कर सकते हैं और अपनी सरकार को तोड़ देंगे। इसी समय च्यांगकाई शेक के एक प्रभावशाली सेनापति ने च्यांगकाई शेक को पकड़ लिया और दस दिन तक उसे अपने पास रोक रक्खा। कहा जाता है कि उन दस दिनों में कम्युनिस्ट नेता चाऊ-यन-लाई शेक से मिला और उसे संयुक्त मोर्चा स्थापित करने के लिए समझाया। जब च्यांगकाई शेक दो सप्ताह बाद वापस लौटा, तो उसने जापान के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने की नीति को अपनाया और चीन का गृह-कलह समाप्त हुआ।

क्यूमिन्टांग और कम्युनिस्ट दलों की एकता

जापान चीन के इस राष्ट्रीय एकता के आन्दोलन से चौंका। जापानी सैनिक नेताओं ने देखा कि यदि महाराष्ट्र चीन में एकता स्थापित हो गई, तो फिर चीन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का स्वप्न नष्ट हो जावेगा।

जापान ने एक जापानी सैनिक अफसर के मारे जाने का बहाना करके शंघाई पर आक्रमण कर दिया। इस बार च्यांगकाई शेक ने भी समूचे चीनी राष्ट्र की शक्ति को एकत्रित करके जापान से युद्ध करने का निश्चय कर लिया। चीन जापान युद्ध आरम्भ हो गया। लाल सेना तोड़ दी गई और वह राष्ट्रीय सेनाओं का एक अंग आठवीं राऊट आर्मी से बदल दी गई। सारा चीन राष्ट्र जापान से मोर्चा लेने के लिए उठ खड़ा हुआ।

७ जुलाई १६३७ को जब चीन और जापान में युद्ध आरम्भ हुआ, तो अन्य देशों में यह प्रचलित मत था कि चीन प्रबल जापान सैन्य शक्ति का सामना नहीं कर सकेगा। किन्तु बाद को लोगों को अपना मत बदलना पड़ा। पाँच वर्षों तक चीनी सैनिकों ने आधे पेट रहकर और केवल राइफल और मशीनगनों के द्वारा जो वीरता प्रदर्शित की, उसने संसार को चकित कर दिया। आरम्भ में जापानी सेनापति कहते थे कि चीन कुछ महीनों में ही समाप्त हो जावेगा, परन्तु उन्हें शीघ्र ही अपना भ्रम ज्ञात हो गया।

बात यह थी कि चीन राष्ट्र के इतिहास में प्रथम बार समूचा राष्ट्र का राष्ट्र युद्ध में उतर पड़ा था। उस समय चीन का प्रत्येक वर्ग इस युद्ध को सफल बनाने का प्रयत्न कर रहा था। विश्वविद्यालयों के अध्यापक, विद्यार्थी गाँव-गाँव घूमकर ग्रामीणों में राष्ट्र की रक्षा करने की भावना भरते और चीनी सेनाओं और गुरिल्ला सैनिकों को छिपे-छिपे सहायता करते। लाखों चीन की महिलाएँ भी सैनिकों की सहायता करती थीं। सारांश यह कि सारा चीन राष्ट्र जापान के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाकर खड़ा हो गया था। यही कारण था कि चीन जैसा निर्बल जापान जैसे शक्तिशाली राष्ट्र के विरुद्ध अकेला आठ वर्ष तक ठहर सका।

परन्तु फिर भी कम्युनिस्ट तथा क्यूमिन्टांग दल एक दूसरे का विश्वास नहीं करते थे। कम्युनिस्ट लोग चीनी किसानों को गुरिल्ला युद्ध की शिक्षा देते थे तथा उन्हें हथियार बाँटते थे,
जिससे कि वे जापान का विरोध कर सकें। च्यांग- दोनों दलों का
काई शेक को भय था कि जापान युद्ध समाप्त हो जाने पुनः संघर्ष
पर यह मजदूर और किसान कम्युनिस्टों के नेतृत्व में
चीन पर अधिकार कर सकते हैं। उधर कम्युनिस्टों का यह कहना था

कि राष्ट्रीय सरकार की सेनाएँ जापानी सेनाओं से न लड़कर कम्युनिस्ट सेनाओं को ही घेरे रहती हैं जिससे कि जापान युद्ध समाप्त होते ही कम्युनिस्टों को समाप्त किया जा सके। कहने का तात्पर्य यह है कि उस खतरे के समय भी दोनों दल देश में अपनी सत्ता जमाने के लिए दाँव-पेंच चल रहे थे।

इसी समय जापान द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी के पक्ष में मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हो गया। उसने देखते देखते बर्मा, इन्डोचीन, मलाया, पूर्वीय द्वीप-समूह पर अधिकार कर लिया। पर्ल हार्बर में संयुक्तराज्य अमेरिका को अपमानजनक पराजय मिली। अब ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका ने चीन को सहायता देना आवश्यक समझा। जापान इस समय इस बात का इच्छुक था कि चीन संधि कर ले; परन्तु चीन ने मित्रराष्ट्रों के पक्ष में रहना स्वीकार कर लिया और जापान से संधि करना अस्वीकार कर दिया।

जापान के युद्ध में पराजित होने पर चीन का अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया। उसकी गणना चार बड़े राष्ट्रों में होने लगी। सभी सम्मेलनों में चीन को स्थान मिला और जो भी विशेषाधिकार अन्य देशों को चीन में प्राप्त थे, वे समाप्त हो गए। अब समय आ गया था कि शान्ति के साथ महाराष्ट्र चीन अपना निर्माण करता; किन्तु यह होनेवाला नहीं था। युद्ध समाप्त होते ही कम्युनिस्टों और क्यूमिन्टांग में युद्ध फिर छिड़ गया। क्यूमिन्टांग को संयुक्तराज्य अमेरिका का समर्थन और सहायता प्राप्त थी और कम्युनिस्टों को सोवियत रूस की सहायता प्राप्त थी। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त संसार में दो महान् शक्तियाँ सोवियत रूस और संयुक्तराज्य अमेरिका उदित हुई। दोनों ही राष्ट्र अपना-अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाकर तृतीय विश्व-युद्ध की तैयारी में संलग्न हो गए। दोनों ही राष्ट्र महाराष्ट्र चीन को अपने प्रभाव में रखना चाहते थे। कम्युनिस्ट और क्यूमिन्टांग दल में फिर गृह-युद्ध आरम्भ हो गया।

संयुक्तराज्य अमेरिका ने च्यांगकाई शेक की सरकार को ऋण देकर तथा सैनिक विशेषज्ञ देकर सहायता की। उधर कम्युनिस्टों को सोवियत रूस से सहायता प्राप्त होती थी। दोनों दलों में फिर युद्ध आरम्भ हो गया। क्यूमिन्टांग की सरकार इतनी निर्बल थी, भ्रष्टाचार इतना

अधिक बढ़ गया था कि सरकार के प्रति जनता का विश्वास उठ गया। जो लोग कि स्वयं कम्युनिस्ट नहीं थे, उनका भी यह विचार बन गया कि क्यूमिन्टांग की सरकार देश की स्थिति में सुधार नहीं ला सकती। इसी का यह परिणाम हुआ कि च्यांगकाई शेक की सेनाएँ लगातार हारती गईं और अन्त में च्यांगकाई शेक को अपनी बची हुई सेना तथा समर्थकों के साथ चीन को छोड़कर फारमोसा जाकर शरण लेनी पड़ी। चीन में माओ-त्सी तुंग की अध्यक्षता में कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना हो गई।

कम्युनिस्ट चीन

कम्युनिस्टों की विजय के समय देश की स्थिति अत्यन्त भयावह हो गई थी। चीन का आर्थिक ढाँचा जर्जर हो गया था। कम्युनिस्ट सरकार ने सबसे पहले भूमि-सुधार किए। जमींदारी प्रथा नष्ट कर दी गई और भूमिहीन खेत-मजदूरों तथा छोटे किसानों को भूमि दे दी गई। छोटे किसान तथा खेत-मजदूर भूमि के स्वामी बन गए। उसका परिणाम यह हुआ कि उत्पादन बढ़ गया। परन्तु यह सब जमींदारों के विरुद्ध घोर हिंसा और कठोरता के उपरान्त ही सम्भव हो सका। कम्युनिस्ट सरकार ने सिंचाई की योजनाओं को हाथ में लिया है और कहीं-कहीं सहकारी खेती का श्रीगणेश किया गया है। परन्तु अधिकांश किसान व्यक्तिगत खेती करते हैं।

उद्योग-धंधों में भी व्यक्तिगत स्वामित्व स्थापित है। यद्यपि सरकार द्वारा संचालित कारखानों की संख्या तेजी से बढ़ रही है, कारखानों में मजदूरों का यथेष्ट प्रभाव है। कारखानों का संचालन और प्रबंध उनकी सलाह से किया जाता है।

कम्युनिस्ट सरकार की स्थापना के पूर्व देश में कल्पनातीत मँहगाई थी। साधारण वस्तुओं की कीमतें आकाश को छू रही थीं। इसका मुख्य कारण यह था कि देश में मुद्रा-स्फीत बेहद बढ़ गई थी। कम्युनिस्ट सरकार ने मुद्रा की ठीक व्यवस्था की, सट्टेबाजी को रोक दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि मूल्य गिरे और मूल्यों में स्थायित्व आया। इन आर्थिक सुधारों का परिणाम यह हुआ कि देश में उत्पादन बढ़ा और निर्यात आयात की अपेक्षा अधिक हो गए।

कम्युनिस्ट सरकार ने शिक्षा का भी नवीन संगठन किया। यद्यपि शिक्षण संस्थाओं की स्वतंत्रता तो जाती रही, उनको एक प्रकार से कम्युनिस्ट विचारधारा के प्रचार का साधन बनाया गया है; परन्तु शिक्षण संस्थाओं और विश्वविद्यालयों को नये ढंग से संगठित किया गया है और शिक्षा का तेजी से विस्तार किया गया है।

नवीन चीन में तनख्वाहों के भेद को भी कम करने का प्रयत्न किया गया है। सरकारी कर्मचारी कम से कम ८० रुपए और अधिक से अधिक ३५० या ४०० रुपये पाते हैं।

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि कम्युनिस्ट सरकार के स्थापित होने के उपरान्त देश में व्यवस्था स्थापित हुई, खेती की पैदावार तथा औद्योगिक उत्पादन बढ़ा है। परन्तु महादेश चीन की बहुत सी समस्याओं को हल करना अभी शेष है। वहाँ विचार स्वातंत्र्य नहीं है और शिक्षा को कम्युनिस्ट विचारधारा के प्रचार का साधन बनाया जा रहा है।

पिछले दिनों में भारत और चीन के सम्बन्ध हुए हैं। एशिया में शान्ति की स्थापना करने के लिए चीन भारत के साथ सहयोग कर रहा है। चीन के प्रधान मंत्री चाऊ-यन-लाई के भारत में आने से और पंडित जवाहरलाल नेहरू के चीन जाने से यह सम्बन्ध और गहरा हो गया है। चीन राष्ट्र अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए प्रयत्नशील है, अतएव वह युद्ध में फँसना नहीं चाहता। परन्तु फारमोसा के प्रश्न को लेकर कब उसे युद्ध में फँस जाना पड़े, यह कहना कठिन है। क्योंकि च्यांगकाई शेक संयुक्तराज्य अमेरिका की छत्रछाया में अपनी राष्ट्रीय सेनाओं के साथ फारमोसा में मौजूद हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१—चीन की राज्यक्रान्ति के सम्बन्ध में आप क्या जानते हैं, समझा-कर लिखिए।

२—चीन में जो शिक्षा की उन्नति हुई, उसका संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

३—च्यांगकाई शेक तथा कम्युनिस्टों के संघर्ष का वर्णन कीजिए।

४—कम्युनिस्टों की सत्ता स्थापित हो जाने के उपरान्त आर्थिक तथा शिक्षा सम्बन्धी जो प्रगति हुई है, उसका वर्णन कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. The Making of Modern China—by Owen & Ellenor,
2. China To-day—by Shri Sundar lal.
3. Red Star over China—Snow.
4. Current History—(magazine)
5. Asia—(magazine)
6. Inside Asia.

अध्याय २८

जापान

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक जापान एक पिछड़ा हुआ और अत्यन्त निर्धन राष्ट्र था। उसने अपने द्वार संसार के अन्य देशों के लिए बन्द कर रक्खे थे। विदेशों से न तो कोई व्यापार होता था और न जापानी विदेशों में जाते थे। विदेशियों को जापान में आने की मनाही थी। जो थोड़े से ईसाई पादरियों ने जापान में घुसने का प्रयत्न किया उन्हें जापान के शोगून ने निकलने के लिए बाध्य कर दिया। सच तो यह है कि जापान राष्ट्र संसार से पृथक् एक अत्यन्त पिछड़ा राष्ट्र था। वही पिछड़ा राष्ट्र देखते-देखते बीसवीं शताब्दी में एक अत्यन्त प्रबल दुर्दमनीय आधुनिक समृद्धिशाली राष्ट्र बन गया यह आश्चर्य की बात है। आगे के पृष्ठों में हम जापान के इस आश्चर्यजनक परिवर्त्तन के इतिहास का अध्ययन करेंगे।

आरम्भ से जापान एक सामन्तवादी राष्ट्र था। नाममात्र को सम्राट् राज्य की सर्वोच्च शक्ति और पूजा का केन्द्र था, किन्तु वास्तविक शासन और सत्ता शोगून के हाथ में रहती थी। सम्राट् कियोटो के विशाल महलों में एक देव मंदिर में देवता के समान कैदी की भाँति रहता था। उसके दरबार में विद्वान्, संगीतज्ञ, कलाकार रहते थे परन्तु उनका शासन से कोई सम्बन्ध नहीं था। समूचा राष्ट्र सम्राट् के प्रति अगाध श्रद्धा रखता था। किन्तु यह समझा जाता था कि सम्राट् को राज्य की चिन्ताओं से अपने पवित्र शरीर को दूषित नहीं करना चाहिए। अस्तु शोगून ही वास्तव में जापान का शासक था।

उस समय जापान सामन्तवादी राष्ट्र था। १५४२ से १६१६ के बीच में तोकुगावा इयासू ने राष्ट्र पर अपने वंश का प्रभुत्व स्थापित कर लिया और स्वयं शोगून बन बैठा। उसने सम्राट् के प्रभाव को और भी कम कर दिया। तोकुगावा वंश के अधिकार में देश की एक चौथियाई

भूमि जागीर के रूप में थी। शेष तीन चौथाई भूमि तोकुगावा वंश के अधीनस्थ सामन्तों की जागीर थी। यह अधीनस्थ
सामन्त सम्राट् से कोई संबंध नहीं स्थापित कर सकते जापान में
थे और बिना शोगून की आज्ञा के आपस में विवाह सामन्तवाद
इत्यादि करने की मनाही थी। इन अधीनस्थ सामन्तों के
परिवारों को बंधक के रूप में रक्खा जाता था कि जिससे वह कभी विद्रोह न कर सकें। इन सामन्तों के नीचे समाज में एक बहुत बड़ा वर्ग था जो कि सैनिकों का था। उन्हें समुराई कहते थे। यह समुराई अपने-अपने सामन्त की सेवा करते थे। उसके बदले उन्हें कुछ भूमि मिली हुई थी जिस पर पैदा होनेवाला चावल उन्हें मिलता था। परन्तु क्रमशः इन सैनिकों की आवश्यकता और महत्त्व कम होता गया अस्तु सामन्तों ने उनको दिया जानेवाला चावल और भूमि कम कर दी। इससे समुराई सैनिकों में एक वर्ग ऐसा उत्पन्न हो गया जो किसी सामन्त विशेष से बँधा नहीं था वरन् वह स्वतन्त्र सैनिक बन गया। जो भी उसकी सेवाओं को चाहे प्राप्त कर सकता था।

तोकुगावा शासन में व्यापारी वर्ग सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त हेय समझा जाता था। उसको घृणा की दृष्टि से देखा जाता था। इन सब का आधार किसान था। तोकुगावा शासन में किसान का अनवरत शोषण होता था। पैदावार का चालीस प्रतिशत भू-स्वामी (सामन्त) को और साठ प्रतिशत किसान को नियमानुसार मिलता था। परन्तु भू-स्वामी बहुधा किसान की आधी पैदावार हड़प जाता था। इसके अतिरिक्त किसानों को भिन्न-भिन्न प्रकार की बेगारें देनी पड़ती थीं।

संक्षेप में सामन्तों को छोड़कर सारा देश शोगून के कठोर और अत्याचारी शासन से क्षुब्ध था। किसान, महाजन, व्यापारी, समुराई सैनिक सभी तोकुगावा शोगून के हृदय से विरोधी थे।
इसके अतिरिक्त स्वयं सम्राट् और उसके दरबारी भी सम्राट् की सत्ता
तोकुगावा के शासन के विरोधी थे। वे चाहते थे कि की पुनः स्थापना
तोकुगावा शासन का अन्त हो और सम्राट् का शासन
में फिर प्रभुत्व स्थापित हो। अतएव उन्होंने यह आन्दोलन करना आरंभ किया कि शासन में सम्राट् की सत्ता पुनः स्थापित की जावे। तोकुगावा शोगून इस आन्दोलन का प्रत्यक्ष विरोध भी नहीं कर सकते थे क्योंकि

जो राजकीय सत्ता उन्हें प्राप्त थी उसका उपयोग वे सम्राट् के नाम से ही करते थे। सारा राष्ट्र सम्राट् की देवता के समान पूजा करता था।

अभी तक जापान अपने को संसार से पृथक् रखकर चल रहा था। न तो जापानियों को विदेश जाने दिया जाता था और न विदेशियों को जापान में व्यापार इत्यादि के लिए आने दिया जाता था। इस सम्बन्ध में विदेशियों ने जितने भी प्रयत्न किए वे असफल रहे। तोकुगावा शासकों ने किसी को भी जापान में न घुसने दिया।

इसी समय एक घटना ऐसी हुई जिससे कि जापान के द्वार विदेशियों के लिए खुल गए। जुलाई १८५३ में कमांडर पैरी एक सैनिक जहाजी बेड़े को लेकर जापान की यूरागा खाड़ी में घुसा परन्तु उसको मना कर दिया गया। पैरी ने बल-प्रदर्शन किया और जापान को विवश होकर ३० मार्च १८५४ को संयुक्तराज्य अमरीका से सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि का परिणाम यह हुआ कि यूरोपीय राष्ट्रों से भी जापान को व्यापारिक सन्धियाँ करनी पड़ीं और जापान की पृथकता नष्ट हो गई। देश में विदेशियों के विरुद्ध तीव्र घृणा थी, अस्तु तोकुगावा शोगून की प्रतिष्ठा को इससे बहुत गहरा धक्का लगा। तत्कालीन सम्राट् मेजी ने यह अनुकूल समय देखा और उसने सामन्तों को तोकुगावा शोगून के विरुद्ध उठ खड़ा होने के लिए आवाहन किया। घबड़ाकर १८६८ में शोगून केकी ने पद त्याग दिया और देश में पुनः सम्राट् की सत्ता स्थापित हो गई।

जापान आधुनिकता की ओर

६ अप्रैल १८६८ को सम्राट् ने घोषणा की कि शीघ्र ही एसेम्बली स्थापित की जावेगी जो राष्ट्रीय नीति निर्धारित करेगी। राज्य का ऊँचा से ऊँचा पद प्रत्येक नागरिक के लिए खुला रहेगा। पुरानी कुरीतियों को समाप्त कर दिया जावेगा और न्याय की समुचित व्यवस्था की जावेगी।

इस घोषणा के उपरान्त जापान में नवीन युग आरम्भ हुआ। १८६९ में २७३ बड़े सामन्तों ने अपनी रियासतों को सम्राट् के सुपुर्द कर दिया। उन्हें अपनी जागीर का दसवाँ हिस्सा आय दी जाती थी। जापान में सामन्तवाद समाप्त हो गया। सेना का आधुनिक ढंग से संगठन किया

गया। यूरोपीय प्रणाली से एक नई सेना खड़ी की गई और प्रत्येक तरुण के लिए सैनिक-सेवा अनिवार्य बना दी गई।

बात यह थी कि जापान में विदेशियों के प्रति घृणा थी। वे समझ गये थे कि जब हमारे द्वार विदेशियों के लिए खुल गए हैं तो फिर जापान यदि विदेशियों के ढंग को ही नहीं अपनावेगा तो उस पर भी उनका प्रभुत्व स्थापित हो जावेगा। अतएव जापान ने अपने पुराने जीवन को छोड़कर तेजी से आधुनिक राष्ट्र बनने का प्रयत्न किया।

प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई और सैनिक नेताओं ने शिंटो धर्म की बालकों को शिक्षा देना आरम्भ कर दिया। शिंटो धर्म जापानी जाति की संसार में सर्वश्रेष्ठता और सम्राट् की पवित्रता पर आधारित था। युवकों को सैनिक शिक्षा शिंटो धर्म का प्रभाव और सैनिक-सेवा अनिवार्य कर दी गई। यद्यपि पार्लियामेण्ट स्थापित की गई परन्तु सेना उसके क्षेत्र और नियंत्रण के बाहर रक्खी गई। यद्यपि जापान में पार्लियामेण्ट की स्थापना हुई परन्तु वास्तविक सत्ता सैनिक नेताओं के हाथ में थी। व्यवस्थापिका सभा तथा मन्त्री सैनिक नेताओं के आज्ञाकारी सेवक थे। कोई भी मंत्रिमण्डल बिना सैनिक नेताओं की इच्छा से टिक नहीं सकता था। सैनिक नेताओं, विचारकों और लेखकों ने शिंटो धर्म को राष्ट्रीय धर्म बना दिया।

तोकुगावा शासन के समाप्त होने और सम्राट् के शासन के स्थापित होने का एक परिणाम यह हुआ कि सेना का प्रभाव बढ़ा और दूसरा प्रभाव यह हुआ कि उद्योग-धंधों की तेजी से उन्नति हुई। जापान ने आधुनिक ढंग से उत्तम खाद देकर खेती करनी आरम्भ की, आधुनिक ढंग के कारखाने स्थापित करके उद्योग-धंधों का विकास किया। देखते-देखते पिछड़ा हुआ जापान एक आधुनिक और सबल राष्ट्र बन गया।

आधुनिक राष्ट्र का रूप धारण करते ही सम्राट् मेजी तथा सैनिक नेताओं का ध्यान देश की बढ़ती हुई जनसंख्या और देश की निर्धनता की ओर गया। उसका एकमात्र उपाय उन्हें अपने पड़ोसी राष्ट्र चीन और कोरिया पर अपना प्रभुत्व जापानी साम्राज्य-स्थापित करके उसकी अनन्त प्राकृतिक देन का शोषण वाद का उदय करना ही दिखलाई दिया। अस्तु जापान ने चीन पर आक्रमण कर दिया। निर्बल चीन ने परास्त होकर जापान की शर्तों

को स्वीकार कर लिया। चीन के कुछ प्रदेश जापान को दे दिए गए और कोरिया को स्वतंत्र कर दिया गया। परन्तु रूस, जरमनी और फ्रांस ने हस्तक्षेप किया और जापान को मिले हुए चीनी प्रदेश छोड़ने पड़े। जापान का क्षोभ उस समय और भी बढ़ गया जब कि उसने देखा कि एक वर्ष के अन्दर वही प्रदेश इन तीन यूरोपीय राष्ट्रों ने हथिया लिए। जापानी सैनिक नेताओं ने देखा कि अभी उन्हें और अधिक सैनिक बल बढ़ाना चाहिए और इन यूरोपीय राष्ट्रों को संगठित न होने देकर एक-एक करके धराशायी करना चाहिए। तभी जापानी साम्राज्य का एशिया में विस्तार सम्भव हो सकेगा। अतएव वे उस समय चुप रह गए।

ब्रिटेन पूर्व में रूस के बढ़ते हुए प्रभाव से सशंक था। जापान ने इसका लाभ उठाकर ब्रिटेन से एक संधि कर ली और उसको रूस से पृथक् कर दिया। उधर जापान बराबर सैनिक तैयारी कर रहा था। १६०५ में जापान ने रूसी सेना के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। रूस परास्त हुआ। जापान में आत्मविश्वास बढ़ा और उसके साम्राज्य विस्तार की योजना आगे बढ़ने लगी। रूस की इस विजय से केवल जापान में ही नहीं समस्त एशिया में यूरोपीय राष्ट्रों और जातियों की श्रेष्ठता का भ्रमजाल छिन्न-भिन्न हो गया। जापान में सैनिक नेताओं की प्रतिष्ठा और प्रभाव बहुत बढ़ गया। जापान एक साम्राज्यवादी राष्ट्र बन गया। अब उसकी गिद्ध-दृष्टि चीन पर थी और वह चीन को हड़प जाना चाहता था।

सम्राट् मेजी का स्वर्गवास ३० जुलाई १६१२ में हुआ। उसने अपने ४४ वर्ष के शासन में पिछड़े हुए जापान को एक दुर्दमनीय प्रबल राष्ट्र बना दिया। सम्राट् के मरने पर उसका तीसरा पुत्र योशीहिटो-तेशो सिंहासन पर बैठा। वह शरीर और मन से निर्बल था अस्तु सैनिक नेताओं का प्रभाव और भी अधिक बढ़ गया। देश में इस समय सैनिक नेताओं के नेतृत्व में गुप्त संस्थाएँ स्थापित हो गईं जो शिंटो धर्म का प्रचार करती थीं और जापानी साम्राज्यवाद के लिए जापान को तैयार करती थीं। यदि कोई लेखक, अध्यापक, राजनीतिज्ञ, सैनिक नेताओं के मत से विरोध रखता था तो यह गुप्त संस्थाएँ उसको समाप्त कर देती थीं।

इसी समय चीन में राज्य-क्रांति हुई। मंचू-वंश का शासन का अन्त हो गया और चीन में गृह-कलह और अशांति का युग आरम्भ हुआ। जापान ने क्रमशः चीन में अपने पैर पसारना आरम्भ कर दिया। १६१४

से १६१८ तक प्रथम महायुद्ध हुआ। जिसमें यूरोपीय राष्ट्र अपने जीवन-मरण के लिए युद्ध कर रहे थे। ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी, रूस सभी युद्ध में संलग्न थे। इस समय जापान को पूर्व के बाजारों में अपने माल की खपत करने का अभूतपूर्व अवसर मिला। बात यह थी कि भारतवर्ष, चीन, मलाया तथा हिंदचीन इत्यादि एशियाई राष्ट्रों में उद्योग-धन्धों का विकास नहीं हुआ था। ब्रिटेन, फ्रांस तथा जरमनी का माल ही एशिया के बाजारों में बिकता था। युद्ध में फँसे होने के कारण इन बाजारों में इन देशों का माल आना बन्द हो गया। जापान को अनुकूल अवसर मिल गया। उसने अपने माल से एशिया के बाजारों को पाट दिया। यूरोपीय राष्ट्र अब इस स्थिति में नहीं रहे थे कि जापान के साम्राज्य-विस्तार को रोक सकते, जापान क्रमशः चीन में अपने पैर बढ़ाता जा रहा था। मंचूरिया चीन से पृथक् हो गया था और वह जापान के प्रभाव क्षेत्र में चला गया। उत्तर के प्रान्तों पर भी धीरे-धीरे जापानी प्रभाव बढ़ता जा रहा था।

बात यह थी कि चीन में अब भी च्यांग-काई शेक और कम्युनिस्टों का युद्ध जारी था। निर्बल चीन जब कि गृह-युद्ध में फँसा हुआ था तब वह जापानी आक्रमण को रोकने में असमर्थ था।

इस समय जापान की जनसंख्या बढ़ती जा रही थी। सैनिक गुट जनरल अराकी के नेतृत्व में इस बात का प्रचार करता था कि जापान संसार की एक बड़ी शक्ति है। उसको भी अपनी बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए उपनिवेश चाहिए। यद्यपि संयुक्तराज्य अमरीका जिसके पास ३० लाख वर्गमील भूमि है और कनाडा जिसके पास ३५ लाख वर्गमील भूमि है, फिर भी वे जापानियों को बसने नहीं देते, आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड भी जापानियों को लेने के लिए तैयार नहीं हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक यूरोपीय राष्ट्र के पास विशाल उपनिवेश है। फिर भी वे जापानियों को घुसने नहीं देते तो उनको कोई भी अधिकार नहीं है कि वे जापान की बढ़ती हुई जनसंख्या को चीन और मंचूरिया में जाने से रोकें। इस प्रकार जनरल अराकी के नेतृत्व में जापान में साम्राज्यवादी भावना भर दी गई।

जिस मन्त्री ने सम्राट् हिरोहितो को साम्राज्य-विस्तार के विरुद्ध सलाह दी उसकी सैनिक नेताओं के संकेत पर हत्या कर दी जाती। संक्षेप में जापानी मंत्रिमण्डल सैनिक गुट के इशारों पर चलने को विवश

किया जाता था। सेना जो भी कुछ करती उस पर मंत्रिमण्डल अपनी मुहर लगा देता था। वास्तविक सत्ता सैनिक नेताओं के हाथ में पहुँच गई।

उस समय जापान के बच्चे-बच्चे में यह भावना कूट-कूटकर भर दी गई थी कि जापानी एक विशिष्ट और श्रेष्ठ जाति है, वह ईश्वर की विशेष कृपा-पात्र है और वह अन्य देशों पर शासन करने के लिए उत्पन्न हुई है। यही शिंटो धर्म की भावना थी।

इसी समय १६३६ में द्वितीय महायुद्ध का आरम्भ हुआ। जर्मनी ने देखते-देखते समस्त यूरोप को रौंद डाला और यूरोप हिटलर के बूट के नीचे कराहने लगा। मित्र-राष्ट्र यह समझते थे कि जापान चीन में फँसा हुआ है। उसके पास इतनी शक्ति नहीं है कि वह उनके पूर्वीय साम्राज्य पर आक्रमण कर सके। फिर जापान के आक्रमण करते ही संयुक्त राज्य अमरीका उसके विरुद्ध युद्ध छेड़ देगा। जापान यह जोखिम कभी नहीं उठायेगा। यही ब्रिटेन, फ्रांस तथा हालैंड इत्यादि यूरोपीय राष्ट्रों की भयङ्कर भूल हुई। जापान की सेना इस सामरिक अभियान की बहुत दिनों से तैयारी कर रही थी। जापानी सैनिक नेता इस अनुकूल अवसर को अपने हाथ से निकलने नहीं देना चाहते थे। फिर भारत, बर्मा, मलाया, स्टेट सैटिलमेंट, इण्डोचाइना तथा डच द्वीपसमूह में राष्ट्रीयता बहु उग्र रूप धारण कर चुकी थी और वहाँ के निवासी अपने शासकों से हार्दिक घृणा करते थे। जापान ने देखा कि यही अनुकूल अवसर है।

८ दिसम्बर १६४१ को जापान ने पर्ल हारबर पर वायुयानों से भीषण वर्षा की और संयुक्तराज्य अमरीका के जहाजी बेड़े को नष्ट कर दिया। देखते-देखते समस्त सुदूरपूर्व पर जापान ने अपना अधिकार जमा लिया। ब्रिटेन, जर्मनी और इटली से युद्ध करने में फँसा हुआ था। वह अपने पूर्वीय साम्राज्य की रक्षा नहीं कर सकता था। जो कुछ सेना थी वह जापानी शक्ति के सामने नहीं ठहर सकती थी। जापानियों की यह धारणा बन गई थी कि शीघ्र ही ब्रिटेन परास्त हो जावेगा और जो भी देश हम अपने अधिकार में ले लेंगे वे जापानी साम्राज्य के अंग हो जावेंगे। अस्तु जापानी सेना ने तेजी से इन देशों पर अपना अधिकार जमा लिया। एशियावासियों को अपनी ओर करने के लिए उन्होंने एशिया-

एशियावालों के लिए है, इसका नारा लगाया। थोड़े समय के लिए जापान समस्त पूर्वी एशिया पर छा गया।

परन्तु जापान का स्वप्न पूरा होनेवाला नहीं था। संयुक्तराज्य अमरीका ने जापान को धराशायी कर दिया। हिरोशिमा और नागासाकी पर ऐटम बम्ब डालने के पूर्व ही जापान की स्थिति कमजोर हो गई और हिरोशिमा और नागासाकी के विनाश के वाद तो जापान की रीढ़ टूट गई। सम्राट् ने पराजय स्वीकार कर ली और युद्ध को वन्द करने की आज्ञा दे दी।

जनरल मैक आर्थर को जापान का सुप्रीम कमांडर वना दिया गया और जापान को एक प्रजातंत्री राष्ट्र वनाने का कार्य आरम्भ हुआ। अमरीका के प्रभाव और शासन में रहने के उपरान्त जापान में सैनिक नेताओं का प्रभाव समाप्त हो गया है। परन्तु यह कहना अभी कठिन है कि जापानी जाति की मनोवृत्ति मे परिवर्त्तन हो गया है।

पराजय के वाद संसार में प्रवल राष्ट्रों में जापान का स्थान नहीं रहा। उसकी सैनिक शक्ति नष्ट कर दी गई। नये चुनाव करके वहाँ जनतंत्री ढंग से शासन-व्यवस्था की जा रही है। परन्तु जहाँ तक उद्योग-धंधों का प्रश्न है, यद्यपि युद्ध में उनका भयंकर विनाश हुआ, परन्तु वे फिर तेजी से उन्नति कर रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जापान फिर अन्य देशों के वाजारों को अपने माल से पाट देने का प्रयत्न करेगा। अन्य औद्योगिक राष्ट्र जापान की औद्योगिक उन्नति से चकित हैं। इतने थोड़े समय में उत्पादन युद्ध के पूर्व के उत्पादन स्तर पर पहुँच गया है।

अभ्यास के प्रश्न

१—जापान के सामाजिक जीवन में सम्राट् का क्या स्थान रहा है?

२—जापान के सामन्तवाद का दिग्दर्शन कराइए।

३—सम्राट् की सत्ता के पुनः स्थापना के प्रयत्नों का उल्लेख कीजिए।

४—शिंटो धर्म की विवेचना कीजिए।

५—जापान के साम्राज्यवाद का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Japanese Emergence as a World Power by—Norman.
2. Japan since Perry–Yunga.
3. New Paths for Japan–Royal Institute of International Affairs.
4. Inside Asia.
5. Menace of Japan.

अध्याय २६

टर्की

टर्की के जीवन में आधुनिकता का पुट देनेवाला सर्वप्रथम व्यक्ति सुलतान महमूद द्वितीय था। सुल्तान ने सेना का आधुनिक ढंग पर संगठन किया, युवकों को विदेशों में शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा, टर्की में प्रथम बार मंत्री नियुक्त किए गए। सुल्तान ने पश्चिमीय ढंग के वस्त्र पहिनना आरम्भ किया और पहली बार उसने विदेशों में राजदूत नियुक्त किए। सन् १८३८ में सुल्तान की मृत्यु हो गई। सुल्तान अब्दुल मजीद सिंहासन पर बैठा। उसने टर्की के शासन को निरंकुश न रखकर वैध-शासन बनाने का प्रयत्न किया। उसने शासन-सुधारों की घोषणा कर दी। इस घोषणा के अनुसार प्रथम बार आटोमन साम्राज्य में सभी धर्मों को माननेवालों के समान अधिकार स्वीकार किए गए। सेना, कर, न्याय की पद्धति में सुधार किए गए। मुसलिम तथा गैर मुसलिम में कोई भेद न मानकर फ्रैंच कानूनों के आधार पर माल तथा फौजदारी के कानून बनाये गए। किन्तु कट्टर मुसलिम सरदारों तथा धर्माचार्यों ने इन सुधारों का स्वागत नहीं किया।

सन् १८५६ में शिक्षा शेख-उल-इस्लाम के अधिकार से निकाल ली गई और एक पृथक् शिक्षा-मंत्री नियुक्त किया गया। सार्वजनिक विद्यालयों की स्थापना की गई और फ्रैंच भाषा के अध्ययन पर जोर दिया गया। अभी तक इस्लाम को छोड़कर अन्य धर्म को स्वीकार करनेवाले को मृत्यु-दण्ड दिया जाता था, वह उठा दिया गया। यही नहीं दास-प्रथा को उठा देने की भी घोषणा कर दी गई, और प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक स्वतंत्रता दे दी गई।

१८६१ में अब्दुल असीस सिंहासन पर बैठा। असीस निर्बल एवं विलासी था। उसके कुशासन के कारण राज्य की आर्थिक दशा बिगड़ने लगी, किन्तु पिछले सुधारों तथा शिक्षा-प्रचार के कारण देश में जागृति

उत्पन्न हो चुकी थी। शिनाशी-एफैन्दी प्रथम व्यक्ति था जिसने टर्की में साहित्यिक क्रान्ति की, और टर्की भाषा को जो अभी तक केवल विद्वानों के समक्ष में आ सकनेवाली थी, उसका सुधार करके जन-समाज की भाषा बना दी। उसने प्रथम गैर सरकारी पत्र प्रकाशित किया और उसके द्वारा वह देश में नवीन विचारधारा प्रवाहित करने लगा। उसने टर्की भाषा में पश्चिमी भाषाओं की प्रसिद्ध पुस्तकों का अनुवाद कराया। अन्य देशों की ही भाँति टर्की में भी जनता की भाषा का जन्म होने के साथ ही राष्ट्रीयता का उदय हुआ। इस साहित्यिक क्रान्ति से नवयुवकों में नवजीवन का संचार हुआ।

शिनाशी-एफैन्दी के शिष्यों ने अपने गुरु के कार्य को और भी आगे बढ़ाया। नामिल-कमाल-बे तथा जिया पाशा ने साहित्यिक क्रान्ति को पूरा किया। परन्तु सरकार इस कार्य को सहन न कर सकी और उनको देश-निकाला दे दिया गया।

परन्तु शिक्षित युवकों में राजनैतिक चैतन्य उदय हो गया था। उन्होंने टर्की में क्रान्तिकारी राजनैतिक परिवर्त्तनों की माँग करना आरम्भ कर दी। अनेक पत्र निकाले गए और राजनैतिक आन्दोलन आरम्भ हुआ। सरकार ने दमन करना आरम्भ किया, नेताओं को देश-निकाला दिया गया किन्तु आन्दोलन बढ़ता ही गया। २२ मई १८७६ को धार्मिक विद्यालयों के ६ हजार विद्यार्थियों ने सुल्तान के महलों में बलपूर्वक घुसकर प्रधान मंत्री महमूद-नादिम पाशा को हटाने की माँग की। सुल्तान को जनमत के सामने झुकना पड़ा और एक नवीन मंत्रिमंडल रुसदी पाशा के नेतृत्व में बनाया गया। मंत्रिमंडल ने शेख-उल-इस्लाम का फतवा लेकर सुलतान को सिंहासन से उतार दिया।

अब अब्दुल हमीद सुल्तान हुआ। उसने टर्की को एक शासन-विधान देने का वचन दिया। विधान बनाया गया और वह ३ दिसम्बर १८७६ को लागू हो गया। किन्तु फरवरी १८७७ में विधान के समर्थकों को देश-निकाला दे दिया गया और पार्लियामेंट तोड़ दी गई। पिछले सुधारों को समाप्त कर दिया। युवकों पर अत्याचार होने लगे, उन्हे देश-निकाला दे दिया गया, बहुत से युवक भागकर विदेशों को चले गए। इसी समय आटोमन कमेटी का जन्म हुआ जिसने आगे राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया। १९०९ में आटोमन कमेटी के नेतृत्व में सैनिक-विद्रोह हो गया।

सेना ने विद्रोह कर दिया, विवश होकर सुल्तान ने प्रजा को १८७६ का शासन-विधान दे दिया। विद्रोह सफल हुआ और एक प्रगतिशील तरुणों का मंत्रि-मंडल स्थापित हो गया। क्रान्तिकारी नेता फिर देश में वापस आ गए। किन्तु तत्कालीन तरुण युवकों की सरकार से धर्माचार्य और सेना संतुष्ट नहीं थी। १३ अप्रैल १६०६ को मुल्लाओं और सैनिकों ने विद्रोह किया किन्तु विद्रोह निर्दयतापूर्वक कुचल दिया गया। यंग टर्क पार्टी ने सुल्तान अब्दुल हमीद को सिंहासन से उतार दिया।

किन्तु यंग टर्क पार्टी आटोमन साम्राज्य को एक सूत्र में बाँधकर न रख सकी। टर्की-साम्राज्य में जो अन्य जातियाँ रहती थीं, वे ही राष्ट्रीय आन्दोलन का विरोध करती थीं। वे चाहती थीं कि उनको स्वतंत्रता प्रदान की जावे। किन्तु यंग टर्क पार्टी भिन्न-भिन्न प्रदेशों को स्वतंत्र करने के पक्ष में नहीं थी। उन्होंने इन प्रादेशिक आन्दोलनों का दमन करना चाहा परन्तु वे असफल रहे। इसी समय बल्गेरिया स्वतंत्र हो गया, क्रीट ग्रीस से मिल गया, आस्ट्रिया ने बोस्निया तथा हर्जेगोविना पर अधिकार कर लिया और इटली ने ट्रिपोली को हड़प लिया।

इसी समय टर्की में पान टर्किश अथवा पान तूरानियन आन्दोलन की नींव पड़ी। इस आन्दोलन के नेता तुर्कों पर अरबी प्रभाव को नष्ट करना चाहते थे। टर्की भाषा में से अरबी शब्दों को निकाला जाने लगा। तरुण तुर्क नवीन तुर्क साहित्य, तुर्की भाषा तथा तुर्की सभ्यता का निर्माण करने लगे। माता-पिता ने अपने बच्चों के नाम भूले हुए तुर्की नामों पर रखना आरम्भ कर दिया, नवीन त्योहार जो कभी नहीं मनाये जाते थे, मनाये जाने लगे। कांस्टैनटिनोपिल पर जिस दिन तुर्कों का अधिकार हुआ था वह राष्ट्रीय त्योहार के रूप में मनाया जाने लगा। प्राचीन तातर वीरों का सम्मान किया जाने लगा।

इन नवीन राष्ट्रीयता का प्रभाव धर्म और स्त्रियों पर भी पड़ा। धर्म के प्रति तुर्कों का एक नवीन दृष्टिकोण बन गया और महिला-जागरण का युग आरम्भ हुआ। कुरान के सिद्धान्तों की, नई टर्की की राष्ट्रीयता के आधार पर विवेचना की जाने लगी। कुरान के तुर्की भाषा में अनुवाद प्रकाशित हुए। शुक्रवार की नमाज में खुतबा अरबी में न पढ़ा जाकर तुर्की में पढ़ा जाने लगा। स्कूलों और कालेजों में जहाँ अब तक शुद्ध धार्मिक शिक्षा दी जाती थी वहाँ आधुनिक विषयों की शिक्षा दी जाने

लगी। न्यायालय शेखुल-इस्लाम के स्थान पर न्याय-मंत्री के अधीन कर दिए गए।

इस समय टर्की में महिला-जागरण भी तेजी से हुआ। परदा के विरुद्ध आन्दोलन जोर पकड़ता गया। महिलाओं की उन्नति के लिए बहुत सी संस्थाएँ स्थापित हुईं, पत्र निकाले गए और लड़कियाँ विश्वविद्यालयों में लड़कों के साथ शिक्षा प्राप्त करने लगीं। राज्य भर में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क कर दी गई।

इसी समय प्रथम यूरोपीय युद्ध आरम्भ हुआ। टर्की के सुल्तान ने टर्की को जर्मनी की ओर से युद्ध में सम्मिलित कर दिया। मित्रराष्ट्रों की विजय के फलस्वरूप यूरोप में जो कुछ भी टर्की का साम्राज्य था वह समाप्त हो गया। अंग्रेज तो एशिया में भी टर्की के अस्तित्व को नष्ट कर देना चाहते थे। उन्होंने पराजित टर्की को "सैवरे" की संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए विवश किया। इस संधि के अनुसार यूरोप में केवल कांस्टैनटिनोपिल टर्की के पास रहा। एशियाई टर्की में आरमीनिया तथा कुर्द दो स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का निश्चय किया गया, बचे हुए टर्की में से आधा भाग यूनान को दे दिया गया और शेष भाग पर मित्रराष्ट्रों का प्रभाव-क्षेत्र घोषित किया गया।

इधर कमाल पाशा के नेतृत्व में अंगोरा में विरोधियों का संगठन हुआ। उन्होंने कांस्टैनटिनोपिल की सरकार द्वारा की हुई इस संधि को अस्वीकार कर दिया। भागे हुए पार्लियामेंट के सदस्यों ने नेशनल एसेम्बली स्थापित की और इस संधि को अस्वीकार करके मुस्तफा कमाल को राष्ट्रीय सेना का सेनापति नियुक्त किया।

मुस्तफा कमाल की राष्ट्रीय सेनाओं ने विदेशी सेनाओं को एशियाई टर्की से खदेड़ दिया। अन्त में टर्की की राष्ट्रीय सेनाओं की विजय हुई और शान्ति स्थापित हो गई। लूसेन समझौते के अनुसार जो थोड़े से यूनानी टर्की में रहते थे उनको यूनान में रहनेवाले तुर्कों से बदल दिया गया। अब टर्की में केवल कुर्द लोग ही ऐसे रह गए जो तुर्क नहीं थे। कुर्द लोगों ने अपनी स्वतंत्रता के लिए विद्रोह किया जिसे मुस्तफा कमाल ने बड़ी कड़ाई से दबा दिया।

मुस्तफा कमाल ने राष्ट्र की रक्षा करके उसको एक उन्नत और सबल राष्ट्र बनाने का कार्य हाथ में लिया। सर्वप्रथम ३ सितम्बर, १९२५ को

नियम बनाकर मुसलमानी मठ तोड़ दिए और दरवेश, शेख तथा अन्य धार्मिक पदवियाँ और पद उठा दिए। इन धर्माचार्यों को आज्ञा दे दी गई कि वे अपने विशेष वस्त्र न पहना करें। कमाल ने धर्माचार्यों की शक्ति को नष्ट कर दिया। वे जानते थे कि धर्माचार्यों का प्रभाव नष्ट किए बिना राष्ट्रीयता की उन्नति नहीं हो सकती। यही कारण था कि यद्यपि सुल्तान खलीफा का कोई राजनैतिक अधिकार नहीं रह गया था परन्तु फिर भी उसने ३ मार्च १९२५ को खिलाफत नष्ट कर दी और शाही खानदान को देश-निकाला दे दिया।

१९२८ तक टर्की में इस्लाम राजकीय धर्म माना जाता था किन्तु उस वर्ष एसेम्बली ने एक ऐक्ट पास करके इस्लाम को राजकीय धर्म मानना बन्द कर दिया। मसजिदों में जाते समय जूते उतारना अब आवश्यक नहीं रहा। नमाज के समय गाना-बजाना होने लगा। राज्य-कर्मचारियों को यूरोपियन पोशाक पहिनने, मृत सुल्तानों के मकबरों को प्रजा के लिए बन्द कर देने, रमजान के रोजे बन्द करने और नमाज के झुककर न लेटने की आज्ञा दे दी गई। बहुत सी पुरानी रस्में बन्द कर दी गईं। शुक्रवार को सार्वजनिक छुट्टी न देकर राज्य ने रविवार को छुट्टी देना आरम्भ किया, हिजरी संवत् का उपयोग छोड़ दिया गया। कुरान और नमाज अरबी भाषा में न पढ़ी जाकर तुर्की भाषा में पढ़ी जाने लगी। जिन लोगों को राज्य आज्ञा दे वे ही भविष्य में धार्मिक उपदेश दे सकते थे। दाढ़ी रखने की मनाही कर दी गई। इस्लाम के धार्मिक विश्वासों के विरुद्ध कमाल की प्रस्तर-मूर्ति खड़ी की गई।

तुर्की महिलाओं की स्थिति में भी क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो गए। १९२५ में बहु-विवाह प्रथा नष्ट कर दी गई, विवाहों की रजिस्ट्री आवश्यक हो गई, लड़की की आयु विवाह के समय १७ वर्ष और लड़कों की १८ वर्ष रक्खी गई। बुर्का ओढ़ना अनावश्यक कर दिया गया, हाँ, जो स्त्री चाहे बुर्का ओढ़ सकती थी। स्त्रियों को सब धंधों में प्रवेश करने की स्वतन्त्रता मिल गई। १९२९ में तुर्की महिलाओं को म्युनिस्पैलिटी के चुनावों में मताधिकार मिला और उसी वर्ष स्त्रियाँ जज नियुक्त की गईं। १९३३ में इस्तम्बोल विश्वविद्यालय में महिला प्रोफेसर नियुक्त की गईं। १९३४ में महिलाओं को एसेम्बली के चुनावों में उम्मीदवार खड़े होने तथा मताधिकार देने का अधिकार दे दिया गया।

शरियत का कानून हटा दिया गया। पश्चिमी देशों के कानूनों के आधार पर माल, फौजदारी तथा व्यापारी कानून बनाये गए। शिक्षा की आश्चर्यजनक उन्नति की गई। स्कूलों की संख्या दुगनी से भी अधिक हो गई। अरबी लिपि को उठा दिया गया और उसके स्थान पर लेटिन लिपि चलाई गई। १ जनवरी १९२६ के उपरान्त अरबी लिपि मे लिखी हुई पुस्तकें जब्त कर ली गईं। १९३४ में फैज कैप (तुर्की टोपी) पहिनना जुर्म बना दिया गया और धर्माचार्यों को केवल नमाज के समय अपने धार्मिक वस्त्र पहिनने की आज्ञा दी गई।

उद्योग-धंधों और व्यापार में भी टर्की ने प्रयत्न करना आरम्भ किया। राष्ट्रवादी तुर्क धंधों मे भी तुर्की पूँजी, तुर्की श्रम तथा तुर्की संगठन देखना चाहते थे। प्रजातंत्री सरकार ने कृषि उद्योग-धंधों तथा व्यापार की उन्नति के लिए भी प्रयत्न किया। इन धंधों की उन्नति के लिए विभिन्न सरकारी विभाग स्थापित किए गए। अक्टूबर १९२९ में राज्य ने उद्योग-धधों को संरक्षण प्रदान किया और क्रमशः सूती कपड़े, शक्कर तथा लकड़ी के कारखाने खोले गए। रेलवे लाइनों का खूब विस्तार किया गया। अमरीका से विशेषज्ञों को बुलाकर टर्की के प्राकृतिक साधनों की जाँच कराई गई। बहुत से धंधों का सरकार ने राष्ट्रीयकरण कर लिया। १९३४ में सरकार ने खनिज पदार्थों के निकालने तथा औद्योगिक उन्नति करने के लिए एक पंचवर्षीय योजना स्वीकार की। उसी वर्ष यह भी घोषणा कर दी गई कि अब विदेशी कंपनियों को टर्की में व्यावसायिक सुविधाएँ न दी जावेंगी। उसी वर्ष सरकार ने विदेशों को किसी पेशे, धंधे अथवा नौकरी में रह सकने की मनाही कर दी।

अतातुर्क कमाल पाशा के नेतृत्व में टर्की ने एक पिछड़े हुए इस्लामी राज्य का स्वरूप त्याग कर एक आधुनिक राष्ट्र का स्वरूप धारण किया। कमाल की मृत्यु के उपरान्त इस्मत इनान् अध्यक्ष बना और वह भी कमाल के मार्ग पर टर्की का नव-संगठन करता रहा।

द्वितीय महायुद्ध के समय टर्की युद्ध की विभीषिका से बच गया। किन्तु बालकन राष्ट्रों में सोवियत रूस का प्रभाव बढ़ जाने से टर्की शंकित हो उठा। उधर सोवियत रूस और संयुक्तराज्य अमरीका में वैमनस्य बढ़ता जा रहा था। संयुक्तराज्य अमरीका एशिया में सोवियत के बढ़ते हुए प्रभाव से चिन्तित था। अतएव उसने एक मध्यपूर्व की सुरक्षा योजना

बनाई और टर्की उसका सदस्य बन गया। संयुक्तराज्य अमरीका ने टर्की को बहुत अधिक आर्थिक सहायता तथा सैनिक सहायता देकर उस पर अपना प्रभाव स्थापित कर लिया। आज इन दो प्रबल शक्तियों के वैमनस्य के कारण छोटे और निर्बल राष्ट्रों की स्थिति दयनीय हो गई है। टर्की रूस से आरम्भ से ही सशंकित था। अतएव उसने संयुक्तराज्य अमरीका की सुरक्षा योजना का सदस्य बनना स्वीकार कर लिया। अमरीका के प्रभाव के कारण ही टर्की और पाकिस्तान में भी सैनिक संधि हो गई है।

अभ्यास के प्रश्न

१—सुल्तानों के शासन-काल में टर्की के जीवन का एक चित्र खींचिए।

२—कमाल पाशा के नेतृत्व में जो राजनैतिक क्रान्ति हुई उसके फलस्वरूप टर्की के राजनैतिक तथा सामाजिक जीवन में क्या परिवर्त्तन उत्पन्न हुआ?

अध्याय ३०

ईरान

ईरान को चारों ओर ऊँचे पर्वत घेरे खड़े हैं और उसके भीतर अधिकांश प्रदेश मरुभूमि है। रिजाशाह पहलवी के उदय के पूर्व सभ्य संसार से ईरान उसी प्रकार पृथक् था जिस प्रकार अरब। देश में गमनागमन के साधनों, प्रजातन्त्र की भावनाओं और बुद्धिवाद का सर्वदा अभाव था।

मिस्र की भाँति ईरान पर भी यूरोपीय शक्तियों की दृष्टि उस समय पड़ी जब कि नैपोलियन ने भारतवर्ष विजय करने की योजना बनाई। इसी उद्देश्य से एक फ्रैंच सैनिक मिशन ईरान का निरीक्षण करने के लिए भेजा गया। शीघ्र ही ब्रिटेन और रूस ने भी अपने सैनिक मिशन वहाँ भेजे। यद्यपि पीछे फ्रांस मध्य एशिया से हट गया किन्तु रूस और ब्रिटेन ईरान पर अपना प्रभुत्व जमाने का प्रयत्न करते रहे, क्योंकि रूस काकेशस तथा तुर्किस्तान के रास्ते भारत की ओर बढ़ना चाहता था और ब्रिटेन अफगानिस्तान तथा ईरान को भारतवर्ष का सीमाप्रान्त बना देना चाहता था।

शाह नासिरुद्दीन अत्यन्त विलासी, अन्यायी तथा स्वेच्छाचारी शासक था। सारे देश में गड़बड़ी फैली हुई थी, सामन्तों और धर्माचार्यों का देश में बहुत प्रभाव था। राजकीय पद खरीदे जाते थे। छोटे से पद से लेकर सूबेदारी तक खरीदी जाती थी। योग्यता की कोई पूछ नहीं थी। राज्य-कर्मचारी प्रजा को अधिक से अधिक लूटते थे।

शाह की फिजूलखर्ची इतनी अधिक बढ़ गई कि उसे यूरोपीय शक्तियों से ऋण लेना पड़ा। उन्होंने शाह को ऊँचे सूद पर ऋण दिया, ईरान की प्राकृतिक देन विदेशी कम्पनियों को सस्ते दामों पर बेच

दी गई और उन्हें बहुत सी व्यापारिक सुविधाएँ दी गईं। ऋण देने से ईरान में विदेशियों का प्रभाव बढ़ गया।

शाह नासिरुद्दीन के मरने पर शाह मुजफ्फरउद्दीन सिंहासन पर बैठा। उसके शासन-काल में देश की दशा और बिगड़ती गई और विदेशियों का प्रभाव बढ़ता गया। रूस को नवीन शाह से आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने में बहुत सफलता मिली। क्रमशः रूस ने ईरान पर प्रभुत्व जमाना आरम्भ कर दिया। सन् १९०५ में रूस में प्रथम असफल विद्रोह हुआ। देश-भक्त ईरानियों पर इस क्रान्ति का बहुत प्रभाव पड़ा। उन्होंने भी अपने देश में जनहित को प्रधानता देनेवाली सरकार स्थापित करने का निश्चय किया, और वहाँ भी क्रान्ति हो गई।

शाह तथा उसके दरबारियों के कुशासन के प्रति विरोध प्रदर्शित करने तथा शासन-सुधार की माँग करने के अभिप्राय से तेहरान के प्रमुख व्यापारी और धर्माचार्य 'कुम' में वस्त करने चले गए। विरोधियों ने शाह से प्रधान मन्त्री को हटा देने की माँग की जिसे शाह ने स्वीकार कर लिया। किन्तु शाह ने अपना वचन पूरा नहीं किया। फलस्वरूप बहुत से स्थानों पर दङ्गे हो गए और बहुत से लोग मारे गए। जुलाई १९०६ में धर्माचार्य फिर 'कुम' में वस्त करने चले गए। इसके फल-स्वरूप तेहरान के बाजार बन्द हो गए और १२,००० व्यापारी वस्त करने के लिए ब्रिटिश दूतावास में चले गए। विवश होकर शाह ने १९ अगस्त १९०६ को मजिलिसे मिल्ली अर्थात् ईरानी पार्लियामेंट की स्थापना की जाने की घोषणा कर दी और नया शासन-विधान स्वीकार कर लिया गया।

नवीन शासन-विधान के लागू होने के कुछ दिनों बाद ही शाह मुजफ्फरउद्दीन की मृत्यु हो गई। उसका पुत्र मुहम्मदअली शाह बना। उस पर रूस का बहुत अधिक प्रभाव था। शाह मुहम्मदअली अत्यन्त स्वेच्छाचारी था और रूस की जारशाही भी नहीं चाहती थी कि ईरान में जनतंत्र का उदय हो। अस्तु रूस के सङ्केत पर शाह ने कोसाक सेना और उसके रूसी अधिकारियों की सहायता से मजलिस पर बम्ब बरसाये और मजलिस को भंग कर दिया। सारे देश में विद्रोह फैल गया। विद्रोहियों ने तेहरान पर अधिकार कर लिया और शाह को सिंहासन छोड़ना पड़ा। उसका १२ वर्षीय पुत्र सुलतान अहमद सिंहासन पर बिठाया गया और

रिजेन्सी स्थापित कर दी गई। परन्तु इस अव्यवस्था में साम्राज्यवादी रूस को अच्छा अवसर मिला और उसने उत्तर फारस पर अपना अधिकार जमा लिया। दक्षिणी फारस पर ब्रिटेन ने अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न आरम्भ किया और दोनों देशों ने इस आशय का एक समझौता भी कर लिया। अर्थात् उत्तरी ईरान रूस के प्रभाव-क्षेत्र में और दक्षिणी ईरान ब्रिटेन के प्रभाव-क्षेत्र में रहे।

इस समय ईरान की आर्थिक दशा बहुत गिरती जा रही थी। अतएव मंत्रिमंडल ने मारगन शुस्टर नामक एक अमरीकन विशेषज्ञ को पूर्ण अधिकार देकर राष्ट्रीय आय-व्यय का अधिकारी बना दिया। शुस्टर ने नया बजट बनाया और घाटा पूरा करने के लिए कुछ नए कर लगाए। किन्तु रूस ने हस्तक्षेप किया और नये कर नहीं लगने दिए। यही नहीं रूस ने सरकार को चुनौती दी कि वह शुस्टर को निकाल दे, और भविष्य में किसी भी विदेशी विशेषज्ञ को रूस और इंग्लैंड की सलाह के बिना न रखे। पार्लियामेंट ने इस अपमानजनक शर्त को स्वीकार नहीं किया। इस पर रूस ने सेना भेजकर पार्लियामेंट तोड़ दी और एक दब्बू मंत्रिमंडल की स्थापना की, जिसने रूस की इस शर्त को स्वीकार कर लिया। इस समय रूसी सेना ने राष्ट्रवादी देश-भक्तों का घोर दमन किया। कई देश-भक्त मारे गए।

सन् १९१२ में विधान को अस्थायी रूप से स्थगित कर दिया गया। मजलिस का अधिवेशन बुलाया ही नहीं गया। राष्ट्रीय नेताओं को या तो कैद कर लिया गया या देशनिकाला दे दिया गया। देश में जितनी भी राजनैतिक संस्थाएँ थीं वे तोड़ दी गईं। उस समय वास्तव में देश का शासन-सूत्र रूस और ब्रिटेन के हाथ में था।

२१ जुलाई १९१४ को मजलिस का अधिवेशन बुलाया गया क्योंकि युवक शाह का राज्याभिषेक होनेवाला था। मजलिस का अधिवेशन आरम्भ ही हुआ था कि प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। मजलिस मे प्रजातंत्र-वादियों का बहुमत था। उन्होंने टर्की और जर्मनी का पक्ष ग्रहण करने का समर्थन किया। इस पर रूसी सेना बढ़ती हुई तेहरान तक आ पहुँची और प्रजातंत्रवादी भाग खड़े हुए। तीसरी मजलिस का भी अन्त हो गया और देश में अव्यवस्था छा गई। युद्ध-काल में उत्तर में रूसी सेनाओं और दक्षिण में अंग्रेजी सेनाओं ने अपना अधिकार कर लिया। जब

१६१८ में बोल्शेविक क्रान्ति के फलस्वरूप रूस में जारशाही का पतन हो गया और रूसी सेनाएं परास्त हो गईं तो अंग्रेजों ने उत्तरी फारस पर भी अधिकार कर लिया।

इंग्लैंड किसी न किसी प्रकार फारस (ईरान) को अपना संरक्षित राज्य बना लेना चाहता था। अंग्रेजों ने तत्कालीन मंत्रिमंडल को दबाकर एक ऐसी संधि पर हस्ताक्षर करवा लिए जिसके अनुसार समस्त देश अंग्रेजों के अधिकार में चले जाने, और शासन और सेना अंग्रेजों के अधिकार में रहने की बात निश्चित हो गई। किन्तु मजलिस किसी भी प्रकार इस दासता को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थी अस्तु मंत्रिमंडल का पतन हो गया।

२१ फरवरी १६२१ को रूसी अधिकारियों द्वारा संगठित कोजाक ब्रिगेड ने रिजाखाँ के नेतृत्व में नवीन मंत्रिमंडल बनाया। रिजाखाँ युद्ध-सचिव बनाया गया और सियाउद्दीन प्रधान मंत्री बना। क्रान्ति के फलस्वरूप सोवियत रूस की नीति में परिवर्त्तन हो गया था। वह एशियाई राष्ट्रों की सहानुभूति प्राप्त करना चाहता था, अस्तु उसने अपनी सेना एँ ईरान से अंग्रेजों को निकालने के लिए भेजीं। प्रधान मंत्री सियाउद्दीन ने अंग्रेजों की अपमानजनक संधि को ठुकरा दिया। प्रधान मंत्री सियाउद्दीन ने रूस से संधि कर ली। रूस ने ईरान की स्वतंत्रता को स्वीकार कर लिया और अपना राजदूत तेहरान में भेज दिया। अब अंग्रेजों ने फारस में ठहरना ठीक नहीं समझा, अतएव उन्होंने अपनी सेनाएँ वहाँ से हटा लीं। अंग्रेजी सेनाओं के हट जाने पर रूसी सेनाएँ भी हटकर बाकू चली गईं। २२ जून १६२१ को ईरान की चतुर्थ मजलिस का अधिवेशन आरम्भ हुआ। मजलिस ने ऐंग्लो पर्शियन संधि को अस्वीकार कर दिया। अंग्रेज कर्मचारियों, सैनिकों, विशेषज्ञों तथा आर्थिक सलाहकारों को निकाल दिया गया और अंग्रेजों द्वारा संगठित पर्शियन राइफिल्स सेना तोड़ दी गई। मजलिस ने रूसी पर्शियन संधि को स्वीकार कर लिया और अन्य राष्ट्रों के विशेष अधिकारों को भी समाप्त करने की घोषणा कर दी।

फारस की स्वतंत्रता को बचाने का श्रेय रिजाखाँ को था। वह आरम्भ में पर्शियन कोजाक ब्रिगेड में एक साधारण कोजाक था, किन्तु अपनी योग्यता के बल से वह बराबर उन्नति करता गया। यहाँ तक कि

१९२१ में उसने तत्कालीन मंत्रिमंडल भङ्ग कर दिया, और स्वयं युद्ध-सचिव बन गया। १९२३ में शाह के चाटुकार दरबारियों ने रिजाखाँ के विरुद्ध षड्यन्त्र किया किन्तु वह सफल नहीं हुए। अब रिजाखाँ स्वयं फारस का प्रधान मन्त्री और अधिनायक बन गया और उसने शाह को ईरान छोड़कर विदेश जाने पर विवश किया।

शाह के पलायन पर भी ईरान में प्रजातन्त्र की स्थापना न हो सकी। इसका कारण यह था कि फारस में धर्माचार्यों का बहुत अधिक प्रभाव था। वे जनतन्त्र के विरुद्ध थे अस्तु जनता भी जनतन्त्र की समर्थक नहीं थी।

रिजाखाँ ने समस्त देश को केन्द्र की अधीनता में लाने के लिए विद्रोही सूबेदारों तथा सामन्तों पर आक्रमण किया और उन्हे परास्त कर दिया। समूचे देश को केन्द्र की अधीनता में लाने के उपरान्त रिजाखाँ ने देश के नव-निर्माण के कार्य को अपने हाथ में लिया। सर्वप्रथम एक अमरीकन अर्थ विशेषज्ञ को आर्थिक सुधार करने के लिए नियुक्त किया। रिजाखाँ ने सेना का आधुनिक ढङ्ग से सङ्गठन किया, और एक शक्तिशाली सेना का निर्माण किया। इसका परिणाम यह हुआ कि रिजाखाँ को देशवासी राष्ट्र वीर के रूप में देखने लगे। उस समय वह देश का सर्वप्रिय नेता बन गया। ३१ अक्टूबर १९२५ को मजलिस ने तत्कालीन काजार राजवंश का फारस के राजसिंहासन पर बैठने का अधिकार छीन लिया, और निर्वासित शाह को सिंहासन से उतार दिया। मजलिस ने रिजाखाँ को उस समय चीफ-आव-दी स्टेट चुना और कुछ समय के उपरान्त वह शाह पहलवी प्रथम की उपाधि धारण कर ईरान के सिंहासन पर बैठा।

रिजाशाह पहलवी जानता था कि फारस तभी एक सबल और उन्नत राष्ट्र बनेगा जब कि वह मध्य-युग से निकलकर एक आधुनिक राष्ट्र बने और उसमें राष्ट्रीय भावना का पूर्ण विकास हो। इसके लिए रिजाशाह पहलवी ने एक नवीन राष्ट्रीयता को जन्म दिया। उसने देश का नाम फारस जो कि अरबों द्वारा रक्खा गया था बदलकर ईरान (आर्यों का देश) रख दिया। उसने नवीन ईरान का सम्बन्ध अरबों की विजय के पूर्व के गौरवशाली ईरान से जोड़ने का प्रयत्न किया। वह अरबों की विजय (सातवीं शताब्दी) के बाद ईरान का पतन काल मानता था।

उसने फारसी भाषा में से अरबी शब्दों को निकालकर उसे शुद्ध करने के लिए एक कमीशन बिठाया और शुद्ध ईरानी भाषा का ही व्यवहार आरम्भ किया। अरबी भाषा और लिपि का बहिष्कार किया गया। उसने शाहनामा के प्रसिद्ध कवि फिर्दोसी की कब्र को ढूँढ़ निकाला। राष्ट्र-कवि की कब्र पर एक सुन्दर मकबरा बनवाया गया और हजार साला उत्सव मनाया गया। मकबरे में शाहनामा में वर्णित मूर्त्तियों को अंकित करवाया गया। रिजाखाँ ने तूस के अत्यन्त प्राचीन खंडहरों को खुदवाया और तेहरान में एक पुरातत्त्व संग्रहालय स्थापित किया। रिजाखाँ ने प्राचीन मूर्त्ति-कला तथा वास्तु-कला को प्रोत्साहन दिया। सरकारी इमारतों में प्राचीन कला का उपयोग किया गया। शाह ने पहलवी-प्राचीन ईरानी उपाधि धारण की, और प्राचीन नामों को धारण करने की ईरान में प्रथा ही चल पड़ी। इसका फल यह हुआ कि ईरान के साहित्य में दरयेश और सेरोश के ईरान की समृद्धि, शक्ति, प्रतिष्ठा और गौरव का वर्णन पढ़ने को मिलने लगा। कहने का तात्पर्य यह कि रिजाखाँ ने अरबो सभ्यता, संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रभाव को हटाकर अपने देश का सम्बन्ध प्राचीन गौरवशाली ईरान से जोड़ने का प्रयत्न किया।

इधर रिजाशाह ने ईरान को एक आधुनिक राष्ट्र बनाने का भी प्रयत्न किया। सबसे पहले उसने धर्माचार्यों के प्रभाव को कम किया। अभी तक धर्माचार्यों का न्याय पर अधिकार था। उसने कानून बनाकर इस अधिकार को समाप्त कर दिया। कानून को व्यवहार में लाने के लिए अदालतें स्थापित कर दी गईं। धर्माचार्यों के प्रभाव को कम करने के लिए उसने वक्फ सम्पत्ति से होनेवाली आमदनी का उपयोग शिक्षा, चिकित्सालय तथा निर्धनों की सहायता के लिए करना आरम्भ कर दिया। पहले उसका उपयोग केवल कुरान की शिक्षा के लिए होता था। यही नहीं उसने कानून बनाकर मृतक-संस्कार को सादा कर दिया। वंश-उपाधियों को हटा दिया, मुहर्रम और ईदे-कोरबान को सार्वजनिक रूप से मनाना बन्द कर दिया। ईरान में सर को ढका रखना धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। शाह ने मजलिस में आने पर अपनी टोपी का उतारना आरम्भ कर दिया। राज्यकर्मचारियों को यूरोपियन पोशाक पहिनना अनिवार्य कर दिया गया। रिजाशाह को धर्माचार्यों का विरोध सहना पड़ा, किन्तु वह क्रमशः सुधार करता ही

गया। उसने स्त्रियों को पर्दा न करने के लिए भी प्रोत्साहित किया। इसका विरोध करने के लिए "कुम" नामक पवित्र मसजिद में धर्माचार्यों ने नववर्ष पर विशेष आयोजन किया। जब कि धर्माचार्य लोगों को उपदेश दे रहे थे तो बेगम पहलवी जो कि वहाँ बैठी थी उन्होंने अपना बुर्का हटा दिया। धर्माचार्य ने उनकी बहुत भर्त्सना की और शाह के सुधारों का विरोध किया। इसके फलस्वरूप लोगों ने बेगम के सामने प्रदर्शन करना आरम्भ कर दिया। जब रिजाशाह पहलवी को इसकी सूचना मिली तो वह थोड़े से सैनिक लेकर "कुम" पहुँचा और बिना जूते उतारे ही उसने पवित्र स्थान में घुसकर धर्माचार्यों के कोड़े लगाये और कुछ को जेल में रख दिया। इस घटना से देश में धर्माचार्यों का प्रभाव कम हो गया। इसके उपरान्त १६३५ में एक बार फिर मशहद में धर्माचार्यों ने राज्य-कर्मचारियों को टोप लगाने की आज्ञा के विरुद्ध जनता को भड़काना चाहा। परन्तु शाह की सेना ने इमाम रजा की पवित्र दरगाह में घुसकर भीड़ पर मशीन-गन से गोलियाँ चलाईं। १६३६ में कानून बनाकर स्त्रियों का पर्दा बन्द कर दिया गया, और शाही फरमान निकाल-कर यूरोपियन पोशाक का प्रचार किया गया।

आरम्भ से ही रिजाशाह ने गमनागमन के साधनों की उन्नति की ओर ध्यान दिया। उसने रेलवे लाइन का निर्माण किया, और सड़कों का देश में एक जाल बिछा दिया। उसने स्थलीय सेना, हवाई सेना, जल-सेना को संगठित किया और आधुनिक शस्त्रों से उसे सुसज्जित किया। पुलिस का भी उसने नवीन संगठन किया। उसने मोटरों के द्वारा यातायात को सुगम कर दिया। रिजाशाह ने तेहरान तथा अन्य बड़े-बड़े नगरों की उन्नति करने का विशेष प्रयत्न किया। उसने नये महल, पार्क, म्यूजियम, स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालय की स्थापना की। प्रत्येक नगर में बिजली की व्यवस्था की।

बहुत से धंधों पर राज्य ने एकाधिपत्य स्थापित किया और कारखाने स्थापित किए। कहने का तात्पर्य यह कि रिजाशाह ने ईरान को एक आधुनिक राष्ट्र बनाने का प्रयत्न किया।

इसी समय १६३९ में दूसरा महायुद्ध छिड़ गया। उस समय ईरान में बहुत सी जर्मन फर्में तथा ठेकेदार इत्यादि अपना कारबार फैलाए हुए

थे, और ईरान में उनका यथेष्ट प्रभाव था। १९४१ में सोवियत रूस तथा ब्रिटेन ने ईरान का ध्यान इस ओर दिलाया और शाह को चेतावनी दी। यह दोनों राष्ट्र चाहते थे कि जर्मन लोगों को ईरान से निकाल दिया जावे। परन्तु उस समय हिटलर की दुर्दमनीय सेनाएँ रूस और मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं को बुरी तरह से परास्त कर रही थीं। ईरान में पूर्व से ही जर्मनी के प्रति मित्र भावना थी, इस कारण शाह ने सोवियत रूस और ब्रिटेन की बात पर ध्यान नहीं दिया। १६ अगस्त १९४१ को रूस और ब्रिटेन ने एक सम्मिलित नोट शाह को दिया। शाह ने अनिच्छापूर्वक कुछ जर्मनों को निकाल दिया, किन्तु साथ ही यह भी घोषणा की कि यदि ब्रिटेन और रूस ने ईरान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप किया तो ईरान युद्ध करेगा। इस पर २५ अगस्त १९४१ को उत्तर से रूस ने और दक्षिण से ब्रिटेन ने ईरान पर आक्रमण कर दिया। इन दो साम्राज्यवादी राष्ट्रों की सम्मिलित सेनाओं के सामने ईरान की सेना टिक न सकी। विवश होकर शाह ने संधि की प्रार्थना की और ६ सितम्बर १९४१ को संधि हुई जिसके अनुसार ईरान के अधिकांश भाग पर रूस और ब्रिटेन का अधिकार हो गया। १६ सितम्बर को रिजाशाह ने अपने पुत्र के मुहम्मद शाहपुर के पक्ष में सिंहासन छोड़ दिया। नये तरुण शाह ने यह घोषणा कर दी कि भविष्य में ईरान में वैधानिक राजतंत्र की स्थापना होगी। रिजाशाह ईरान छोड़कर जोहन्सबर्ग चला गया जहाँ वह २६ जुलाई १९४४ को मर गया। रूस और ब्रिटेन की संधि के अनुसार ब्रिटेन और रूस ने युद्ध-काल के अन्तर्गत ईरान मे अपनी सेनाएँ रखने और जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की तैयारी करने की बात कही थी, और यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि युद्ध-समाप्ति के ६ मास उपरान्त ईरान से दोनों देशों की सेनाएँ हट जावेंगी। यह दोनों देश ईरान के आन्तरिक मामलों में कोई भी हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

युद्ध-काल में इन दोनों राष्ट्रों ने ईरान का खूब ही शोषण किया। उन्होंने ईरान की रेलों, सड़कों तथा अन्य साधनों के द्वारा रूस को खूब ही युद्ध-सामग्री पहुँचाई। जब युद्ध समाप्त हुआ और रूस विजयी हो गया तो रूस की यह इच्छा नहीं थी कि वह ईरान से हटे। किन्तु संयुक्तराज्य अमेरिका, ब्रिटेन तथा अन्य देशों के दबाव के कारण रूस को ईरान से अपनी सेनाएँ वापस बुलानी पड़ीं। परन्तु उत्तर के कबीलों में

सोवियत रूस ने आधुनिक अस्त्र शस्त्र बाँट दिए जिससे कि ईरानी सरकार को उन प्रदेशों को अपने अधिकार में रखने में बड़ी कठिनाई हुई।

युद्ध-काल में ईरान में मुद्रास्फीत भयङ्कर रूप से हुआ। इसके परिणाम-स्वरूप युद्ध के पूर्व से कीमतें दसगुनी बढ़ गईं। किन्तु मजदूरी उसी अनुपात में नहीं बढ़ी। इसका फल यह हुआ कि निर्धन अधिक निर्धन हो गए और थोड़े से व्यापारी और व्यवसायी मालामाल हो गए। उन्होंने अपने धन को कैरो, ब्रिटेन और अमरीका में रखना आरम्भ कर दिया। जहाँ कि वह अधिक सुरक्षित था। यही नहीं बहुत से धनिकों ने तो ईरान छोड़कर इन देशों में रहना भी आरम्भ कर दिया। सरकार के बजट में घाटा रहने लग गया और सरकार पर राष्ट्रीय बैंक का बहुत बड़ा ऋण हो गया। यही नहीं ईरान का शासन निर्बल हो गया और भ्रष्टाचार बहुत बढ़ गया।

युद्ध के बाद ईरान की स्थिति

युद्ध-काल में सोवियत रूस का ईरान पर गहरा प्रभाव पड़ा और वहाँ एक सबल कम्युनिस्टों द्वारा प्रभावित तूदेह दल की स्थापना हुई। यह दल संयुक्तराज्य अमरीका तथा ब्रिटेन के विरुद्ध था और ईरान पर कम्युनिस्ट प्रभाव स्थापित करना चाहता था। यह दल शाह का भी विरोधी था।

शाह ने देखा कि देश में निर्धनता और बेकारी भयङ्कर रूप धारण कर रही है, और बामपक्षी दल उसका विरोध करते हैं तो उसने अपनी जागीर को निर्धन किसानों में बाँटने की घोषणा की परन्तु इससे भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ।

रिजाशाह पहलवी के हटने के उपरान्त ईरान में धर्माचार्यों का प्रभाव फिर बढ़ने लगा था। सरकार ने भी उनको नहीं दबाया क्योंकि वे कम्युनिज्म का विरोध करते थे अस्तु सरकार ने उनको पनपने दिया। धर्माचार्यों ने एक अर्ध गुप्त संस्था "फादयाम-इसलाम" स्थापित की और वे विदेशी प्रभाव को देश से समाप्त करने का आन्दोलन करने लगे। उनका मुख्य आक्रमण ऐंग्लो ईरानियन तेल कम्पनी के विरुद्ध था। वे चाहते थे कि इस कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर लिया जावे। किन्तु तत्कालीन प्रधान मन्त्री जनरल अली राजमारा इस मत के नहीं थे

अस्तु 'फादयाम-इसलाम' के एक सदस्य ने ७ मार्च १६५१ को प्रधान मन्त्री की हत्या कर दी। १५ मार्च १६५१ को मजलिस ने एकमत से तेल कम्पनी के राष्ट्रीयकरण का कानून स्वीकार कर लिया। अप्रैल के अन्त में मजलिस ने डाक्टर मुहम्मद मुसादिक को प्रधान मन्त्रित्व के लिए चुना और शाह ने अनिच्छापूर्वक उसकी नियुक्ति कर दी। मुसादिक ने ऐंग्लो ईरानियन आयल कम्पनी की इस प्रार्थना को ठुकरा दिया कि किसी निश्पक्ष पक्ष से इसका फैसला करवा लिया जावे। यही नहीं उसने अंग्रेजी सरकार से इस सम्बन्ध में वातचीत करना भी अस्वीकार कर दिया। मुसादिक ने तेल कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर दिया और अंग्रेज कर्मचारियों को ईरान छोड़कर जाना पड़ा। परन्तु इसका परिणाम यह हुआ कि ईरान की आर्थिक स्थिति भयावह हो उठी। परन्तु मुसादिक ने उस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। ईरान के पास न तो अपने खनिज तेल को निकालने के साधन ही थे और न उनके पास विशेषज्ञ ही थे, अस्तु आय का एकमात्र स्रोत सूख गया। परन्तु मुसादिक ने इस ओर तनिक भी ध्यान न देकर अपनी राजनैतिक शक्ति को बढ़ाने की ओर ध्यान दिया। उसने मजलिस से अधिकाधिक विशेषाधिकार माँगने आरम्भ किए और शाह के अधिकारों को कम करने का प्रयत्न किया। अब देश में डाक्टर मुसादिक के दल ने यह प्रयत्न करना आरम्भ किया कि शाह को हटाकर डाक्टर मुसादिक को देश का अधिनायक बनाया जावे। अगस्त १६५३ में शाह ईरान छोड़कर भाग गए किन्तु शाह समर्थक अंग-रक्षकों तथा सेना ने डाक्टर मुसादिक को गिरफ्तार कर लिया और देश में प्रतिक्रान्ति हो गई। डाक्टर मुसादिक के समर्थकों को पकड़ लिया गया और तूदेह दल दबा दिया गया। शाह ईरान वापस लौट आया और जनरल जहेदी के नेतृत्व में नवीन मंत्रि मंडल बना।

जनरल जहेदी के मंत्रिमंडल ने ब्रिटेन से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए। तथा तेल-कम्पनी से समझौता हो गया। बात यह थी कि ईरान की आर्थिक स्थिति उस समय अत्यन्त भयावह थी। ईरान को अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के तेल के धंधे को पुनः चालू करना आवश्यक था और संयुक्तराज्य अमेरिका से आर्थिक सहायता की आवश्यकता थी। संयुक्तराज्य अमरीका ईरान की तभी सहायता करना चाहता था कि जब वह ब्रिटेन से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर

ले और तेल कम्पनी की क्षतिपूर्ति के सम्बन्ध में कोई समझौता कर ले। अस्तु जहेदी के लिए और दूसरा कोई मार्ग नहीं था।

अभी तक ईरान में पूर्ण राजनीतिक स्थायित्व स्थापित नहीं हुआ है। एक दो बार वहाँ जनरल जहेदी के मंत्रिमंडल को उलटने के प्रयत्न हुए हैं, परन्तु वे विफल हुए। पार्लियामेंट के चुनावों में भी बहुत झगड़े हुए। अस्तु अभी यह नहीं कहा जा सकता कि ईरान में पूर्ण रूप से शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गई है। जब तक किसी देश में पूर्ण रूप से शान्ति और व्यवस्था स्थापित और राजनीतिक स्थायित्व न हो तब तक वह देश आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक उन्नति नहीं कर सकता। अतएव ईरान को अपने आर्थिक विकास में अभी समय लगेगा। अभी तो ईरान मुख्यत: एक खेतिहर राष्ट्र है केवल उसके तेल की ही विदेशों में माँग है अथवा उसके गलीचे तथा अन्य गृह-उद्योगों द्वारा बनाई हुई वस्तुएँ अन्य देशों को जाती हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१—ईरान के राजनैतिक पतन और उस पर ब्रिटेन तथा रूस के प्रभाव का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

२—रिजाशाह पहलवी के आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक सुधारो का वर्णन कीजिए।

३—ईरान के आर्थिक संगठन का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

४—प्रधान मंत्री मुसादिक के राजनैतिक कार्यों का वर्णन कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Iran To-day—by A. B. Rajput.
2. Introduction to Iran—by Groscelose.
3. Middle East and War—Oxford University Press.
4. Iran Past and Present—by Donald N. Wilber.
5. Current History—(Magazine).
6. Asia—(Magazine).
7. Nationalism in the East—by Hans Kohn.

अध्याय ३१

मिस्र

पूर्वीय देशों में मिस्र यूरोपीय साम्राज्यवाद का प्रथम शिकार हुआ। सम्भवत: इसका कारण यह था कि यूरोप के सम्पर्क में आने का दुर्भाग्य भी पूर्व में सर्वप्रथम उसी का था। मिस्र सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देश है। भूमध्य-सागर तथा हिन्द महासागर के एकमात्र द्वार लाल समुद्र को अपने अधिकार में रखने के लिए मिस्र पर अधिकार रखना आवश्यक है। सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होना ही मिस्र के लिए घातक सिद्ध हुआ और साम्राज्यवादी राष्ट्रों ने उसको अपने चंगुल में फँसाना चाहा।

मिस्र का साम्राज्यवादी राष्ट्रों से सीधा सम्पर्क १७९८ में हुआ जब कि नैपोलियन अपनी सेना को लेकर मिस्र में उतरा। एशिया में अपना साम्राज्य स्थापित करने के लिए उसने जो मानचित्र बनाया था उसमें मिस्र पहला सेना-शिविर था। स्वेज नहर निकालने की बात भी उसके मस्तिष्क में घूम रही थी। नैपोलियन यूरोप के झगड़ों के कारण शीघ्र ही मिस्र से लौट गया किन्तु अपनी सेना को मिस्र में छोड़ गया। कुछ समय के उपरान्त फ्रांस सरकार ने मिस्र को अपना संरक्षित राज्य घोषित कर दिया। ब्रिटेन फ्रांस के मिस्र पर बढ़ते हुए प्रभाव से बहुत ही भयभीत था। अनुकूल अवसर देखकर अंग्रेजों ने मिस्र का पक्ष लेकर फ्रांसीसी सेना पर आक्रमण कर दिया। फ्रांसीसी सेना परास्त हो गई। आरम्भ में अंग्रेजों ने यही घोषणा की थी कि फ्रांसीसी सेना को मिस्र से निकालकर हम भी मिस्र छोड़ देंगे। परन्तु मिस्रवासियों ने देखा कि मिस्र को स्वतंत्र बनाने की बात केवल एक राजनैतिक चाल थी। अंग्रेज मिस्र में जम गए।

ऐसे समय जब कि मिस्रवासी हताश हो रहे थे, वीरवर मुहम्मदअली ने मिस्री सैनिकों को इकट्ठा करके अंग्रेजों पर १८०७ में आक्रमण कर

दिया। युद्ध में अंग्रेजों की अत्यन्त अपमान जनक पराजय हुई और मिस्र की स्वतंत्रता बच गई।

यद्यपि फ्रांसीसी सेना मिस्र में केवल पाँच वर्ष ही रही थी तथापि उससे वहाँ फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति के आधार स्वतंत्रता तथा समानता के सिद्धान्तों का प्रचार हो गया। फ्रैंच-अधिकारियों ने वहाँ प्रतिनिधि-संस्थाओं को जन्म दिया। फ्रैंच विद्वानों ने प्राचीन स्थानों को खुदवाकर मिस्र की प्राचीन सभ्यता, कला-कौशल तथा मिस्र का गौरव पुनः मिस्र-वासियों के सामने रखना आरम्भ कर दिया। मिस्रवासी सोते से जागे। उनका अतीत कितना शानदार था, यह उन्हें मालूम हो गया। इस भावना ने उनमें राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न कर दी।

मुहम्मदअली के हाथ में शासन-सूत्र आते ही मिस्र में शान्ति और व्यवस्था स्थापित हो गई। देश की शासन-व्यवस्था को दृढ़ करने के उपरान्त मुहम्मदअली ने देश की आर्थिक अवस्था के सुधार की ओर ध्यान दिया। किसानों की स्थिति में सुधार करने के लिए उसने भूमि-सम्बन्धी कानूनों में सुधार किए। सिंचाई के लिए नहरें तथा बाँध बनवाये, कपास की खेती की उन्नति की, शिक्षा की उन्नति के लिए उसने स्कूल और कालेज स्थापित किए, और मिस्री युवकों को बहुत बड़ी संख्या में यूरोपीय देशों में विशेषकर फ्रांस में अध्ययन करने के लिए भेजा। अशिक्षित होते हुए भी मुहम्मद अली सफल शासक और सेना-पति था। उसने सुदान विजय करके मिस्र में मिला लिया। सच तो यह है कि आधुनिक मिस्र का जनक मुहम्मदअली था।

मुहम्मदअली के शासन-काल में मिस्र की आश्चर्यजनक उन्नति हुई। उसके उत्तराधिकारी सैयद के शासन-काल में मिस्र समृद्धिशाली रहा। किसानों की दशा अच्छी थी, रेलों और नहरों की वृद्धि होती रही, किन्तु सैयद के उत्तराधिकारी इस्माइल के शासन-काल में मिस्र की स्थिति बिगड़ गई। वह अत्यन्त निकम्मा और भ्रष्ट शासक था उसने अपनी विलासिता में पानी की तरह धन बहाया, खजाना खाली हो गया। कर बहुत अधिक बढ़ा दिए गए, किसानों की आर्थिक दशा अत्यन्त शोचनीय हो गई, देश निर्धन हो गया। फिर भी इस्माइल की तृप्ति न हुई। उसने इंग्लैंड तथा फ्रांस से ऋण लेना आरम्भ कर दिया। इंग्लैंड के चतुर प्रधान मन्त्री डिसरैली ने इस्माइल के आर्थिक सङ्कट से लाभ उठाकर उसके

चालीस लाख पौंड के स्वेज नहर के हिस्से भी खरीद लिए। जैसे-जैसे इंग्लैंड और फ्रांस का मिस्र पर ऋण बढ़ता जाता वे मिस्र के शासन में अधिकाधिक हस्तक्षेप करने लगे। जब इस्माइल की मृत्यु हुई और उसका पुत्र त्यूफिक सिंहासन पर बैठा तो मिस्र को विवश होकर अंग्रेजी फाइनैंशियल कमिश्नर नियुक्त करना पड़ा, जो राज्य के प्रत्येक विभाग में हस्तक्षेप करने लगा।

विदेशियों का आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप मिस्रवासियों को सहन नहीं हुआ, और किसान नेता अरबी पाशा के नेतृत्व में मिस्र के किसानों ने मिस्र की स्वतन्त्रता के लिए विद्रोह कर दिया। त्यूफिक निकम्मा शासक था, वह जानता था कि यदि यह विद्रोह सफल हो गया तो उसकी स्वेच्छाचारिता भी नहीं रह सकेगी, अस्तु वह प्रकट रूप से अंग्रेजों की ओर चला गया। परन्तु मिस्र के उच्च अधिकारी तुर्क थे वे अरबी पाशा के साथ नहीं थे, फिर अंग्रेजों ने टर्की के सुलतान (जो कि उस समय खलीफा भी था) को दबाकर यह घोषणा भी करवा दी कि अरबी पाशा खलीफा का विद्रोही है। इससे अरबी पाशा की सेना पर बुरा प्रभाव पड़ा। फिर भी अरबी पाशा १३ सितम्बर १८८२ को अंग्रेजी सेना से भिड़ गया। विजयश्री अंग्रेजों को प्राप्त हुई। त्यूफिक फिर सिंहासन पर बिठाया गया और अरबी पाशा को निर्वासित करके लंका भेज दिया गया।

मिस्र के कैदिव (राजा) की सत्ता नाममात्र की रह गई और मन्त्रियों के हाथ में भी कोई अधिकार नहीं रहा। प्रत्येक मन्त्री के साथ एक अंग्रेज सलाहकार रक्खा गया जो, वास्तव में मन्त्री का कार्य करता था। उच्च पदों पर अंग्रेज नियुक्त कर दिए गए। अंग्रेजी शासन के मिस्र में दृढ़तापूर्वक जमने से वहाँ शान्ति स्थापित हो गई। पिछले कैदियों के कुशासन के कारण किसानों की दशा शोचनीय हो गई थी और देश पर भयङ्कर ऋण हो गया था। अंग्रेजी शासन के कारण देश की आर्थिक दशा में सुधार हुआ और नवीन कानूनों से किसानों को लाभ हुआ तो वे अंग्रेजों को अपना रक्षक समझने लगे।

आरम्भ में जब अंग्रेजों ने मिस्र का शासन अपने अधिकार में लिया था तो उनका यही कहना था कि देश में शान्ति स्थापित हो जाने के उपरान्त वे मिस्र से हट जावेंगे। परन्तु जब मिस्रवासियों ने देखा कि

अंग्रेजी सेना देश में स्थायी रूप से जम गई है तो मिस्र-वासियों को बहुत क्षोभ हुआ।

इसी समय मिस्र के भावी राष्ट्रीय नेता का उदय हुआ। युवक मुस्तफा कमाल उस समय फ्रांस में अध्ययन कर रहा था। उसने फ्रांस से ही १८९५ में 'मिस्र का खतरा' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक से मिस्र में राष्ट्रीय भावनाओं का तेजी से उदय हुआ और अंग्रेजों के विरुद्ध अधिक क्षोभ उत्पन्न हुआ। उस समय अंग्रेजों ने मिस्र की सेना और धन को व्यय करके सुदान को विजय किया था। कमाल पाशा ने फ्रांस से लौटते ही राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया। मिस्र के युवक उसके साथ हो गए और देश में फिर से नव चेतना का उदय हुआ। मुस्तफा कमाल तथा मिस्र के शिक्षित युवकों को यह आशा थी कि फ्रांस मिस्र के राष्ट्रीय आन्दोलन को सहायता देगा और अंग्रेजों द्वारा मिस्र पर अधिकार किए जाने को स्वीकार नहीं करेगा। परन्तु जब १९०४ में फ्रांस ने अपने मरक्को के बदले मिस्र पर अंग्रेजों के अधिकार को स्वीकार कर लिया तो कमाल और मिस्र के शिक्षित युवकों को अपनी भूल ज्ञात हुई। उन्होंने अपने देश में ही आन्दोलन करना आरम्भ किया। कमाल पाशा ने १८९७ में अपने सम्पादकत्व में एक उग्र राष्ट्रवादी पत्र निकाला और राष्ट्रीय शिक्षण-संस्थाओं का विस्तार किया। कमाल के इन कार्यों से मिस्र में राष्ट्रीय चेतना का अभूतपूर्व उदय हुआ। यही कारण था कि जब १९०८ में वह सर्वमान्य नेता थोड़ी आयु में ही चल बसा तो सारा राष्ट्र शोकमग्न हो गया।

यह बात ध्यान में रखने की है कि कमाल का आन्दोलन अरबी पाशा के आन्दोलन से भिन्न था। अरबी पाशा के नेतृत्व में जो युद्ध हुआ था वह किसानों की प्रथम जागृति के फलस्वरूप हुआ था। वह शीघ्र ही शिथिल हो गया। कमाल ने जो आन्दोलन चलाया वह शिक्षित मध्यम वर्ग का आन्दोलन था। राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेनेवालों में से धार्मिक कट्टरता के भाव नष्ट हो गए और वे राजनीति में धर्म को सम्मिलित न करने की उपयोगिता समझ गए।

१३ जून १९०६ को एक ऐसी घटना हो गई जिससे कि सारे देश में अपूर्व जागृति फैल गई। कुछ अंग्रेज अधिकारियों से देनशावी ग्राम के

निकट कबूतरों का शिकार खेलते समय गाँववालों का, झगड़ा हो गया। कुछ अंग्रेज घायल हो गए। एक घायल अंग्रेज सहायता लाने के लिए भागा किन्तु गरमी और लू के कारण बीच में ही मर गया। बस फिर क्या था अंग्रेजों ने कई किसानों को फाँसी, कई को आजीवन कारावास, बहुतों को लम्बी सजाएँ और कोड़े का दंड दिया। इसके उपरान्त अंग्रेजों ने अपने चाटुकार बोतरस पाशा को प्रधान मंत्री बनाकर खूब ही दमन करना आरम्भ किया। सारे देश में आतंक छा गया। २० फरवरी १९१० को इब्राहीम वरदानी नामक छात्र ने प्रधान मंत्री बोतरस पाशा की हत्या कर डाली। बोतरस पाशा ईसाई कोप्टस का नेता था अतएव मुसलमानों और ईसाई कोप्टस में कलह आरम्भ हो गया।

इस समय तक राष्ट्रीय दल का देश में बहुत प्रभाव हो गया था और एसेम्बली मे भी उसी का बहुमत था। परन्तु सरकार एसेम्बली के प्रति उत्तरदायी नहीं थी। राष्ट्रीय दल का नेतृत्व उस समय, जागलूल पाशा के हाथ मे था।

१९१४ में प्रथम महायुद्ध छिड़ गया। इंग्लैंड के पूर्वी साम्राज्य का मिस्र पहरेदार था। अतएव युद्ध छिड़ते ही मिस्र में एसेम्बली तोड़ दी गई और मारशल कानून जारी कर दिया गया। महायुद्ध के समय मित्र-राष्ट्रों ने घोषणा की कि प्रत्येक परतंत्र राष्ट्र को युद्ध के उपरान्त आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जावेगा। मिस्र में इस घोषणा से बहुत बड़ी-बड़ी आशाएँ जागृति हो गईं। महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त अंग्रेजों ने शासन-सुधार की योजना बनाने के लिए जो कमीशन बिठाया था उसकी रिपोर्ट निकली तो सारा मिस्र राष्ट्र क्षुब्ध हो उठा। जागलूल पाशा के नेतृत्व मे उग्र राष्ट्रीय आन्दोलन उठ खड़ा हुआ और उसी समय १९१९ में प्रसिद्ध वफ्द दल की स्थापना हुई। आन्दोलन का भयंकर दमन किया गया, बहुत से देशभक्त गोली के शिकार हुए और अनेक गिरफ्तार हो गए। जागलूल पाशा गिरफ्तार कर लिए गए किन्तु विद्रोह न दबाया जा सका और अन्त में जागलूल पाशा और उनके साथियों को छोड़ना पड़ा तथा मंत्रिमंडल को त्यागपत्र देना पड़ा। यह जनमत की प्रथम विजय थी।

मिस्र में विद्रोह के कारणों को जानने के लिए तथा मिस्र में शान्ति स्थापित करने में कैसा शासन-विधान सहायक होगा, मिलनर कमीशन

नियुक्त हुआ। सारे राष्ट्र ने उक्त कमीशन का बहिष्कार किया। मंत्रि-मंडल ने भी विरोधस्वरूप त्यागपत्र दे दिया क्योंकि कमीशन में एक भी मिस्री नहीं था। जब कमीशन ने किसी से कुछ भी पूछा तो केवल एक ही उत्तर मिला "यह जागलूल जानते है" धार्मिक नेताओं और शाही परिवार के सदस्यों तक ने कमीशन का बहिष्कार किया।

कमीशन ने ब्रिटेन लौटकर जागलूल पाशा से समझौते की बातचीत आरम्भ की। मिस्र की स्वतंत्रता को स्वीकार करने और सेना को केवल साम्राज्य के मार्गों की रक्षा करने के लिए सेना रखने की बात स्वीकार कर ली गई। किन्तु विदेशियों को प्राप्त सुविधायें और मंत्रियों के साथ अंग्रेजी सलाहकारों को रखने की शर्त पर समझौता न हो सका। मिस्र में तीन बार चुनाव कराये गए किन्तु तीनों बार जागलूल विजयी हुए। एक बार फिर मंत्रिमंडल तोड़ दिया गया और देश पर सैनिक शासन स्थापित हो गया। जागलूल पाशा गिरफ्तार कर लिए गए। देश में फिर विद्रोह हो गया। भीषण दमन हुआ।

विवश होकर ब्रिटिश सरकार ने मिस्र की स्वतंत्रता की घोषणा की। किन्तु निम्नलिखित चार विषय ब्रिटेन के अधिकार में रहे। साम्राज्य के मार्गों की रक्षा, मिस्र की विदेशी आक्रमण से रक्षा, विदेशियों को प्राप्त सुविधाओं का प्रश्न और सुदान का शासन। इस घोषणा से मिस्र में कोई प्रसन्नता प्रकट नहीं हुई। सुल्तान फौद प्रथम ने किंग की उपाधि धारण की और आम चुनाव किए गए। जागलूल को देश लौटने की आज्ञा मिल गई। चुनावों में वफ्द की पूर्ण विजय हुई। जागलूल ने प्रधान मन्त्रित्व पद स्वीकार कर लिया। उसने घोषणा की कि मिस्र के लिए पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना ही मेरी नीति होगी।

१६ नवम्बर १६२४ को मिस्र स्थिति ब्रिटिश सेना के कमांडर का किसी ने वध कर दिया। ब्रिटिश सरकार ने मिस्र सरकार के सामने माँग रक्खी कि वह इस कांड के लिए क्षमा-याचना करे, पाँच लाख पौंड हर्जाना दे, सुदान से सारी मिस्री सेना हटा ले, और मन्त्रियों के ब्रिटिश सलाहकारों के अधिकार पुनः वापस पूर्ववत् कर दिए जावें। जागलूल पाशा ने इन अनुचित माँगों को अस्वीकार कर दिया। अंग्रेजी सेना के दबाव के कारण जागलूल को पद त्यागना पड़ा। किंग फौद ने जिवर

पाशा को प्रधान मन्त्री बनाया और पार्लियामेंट तोड़ दी गई। नया चुनाव हुआ किन्तु जागलूल फिर विजयी हुए। पार्लियामेंट फिर तोड़ दी गई। सरकार ने निर्वाचन नियमों मे परिवर्तन करने का प्रयत्न किया कि जिससे वफ्द दल विजयी न हो सके। परन्तु देश के संगठित विरोध के कारण बादशाह फौद को झुकना पड़ा। नवीन चुनाव हुए और वफ्द का फिर बहुमत हो गया। इसी समय जागलूल पाशा का देहान्त हो गया और उसका स्थान नहस पाशा ने लिया। १९३० में नहस पाशा ने मन्त्रिमण्डल बनाया और इंग्लैंड से फिर संधि-वार्ता आरम्भ हुई। परन्तु जबकि नहस पाशा इंग्लैंड मे संधि की बातचीत लगभग समाप्त कर चुके तभी बादशाह फौद ने नहस पाशा को प्रधान मन्त्रिपद से हटा दिया और फिर संधि की बात समाप्त हो गई। इस समय तक मिस्र में बहुत से राजनैतिक दल उत्पन्न हो गए थे। उन्होंने मिलकर इसका विरोध किया। परिणाम यह हुआ कि इंग्लैंड से सन्धि-वार्ता करने के लिए सभी राजनैतिक दलों का एक प्रतिनिधि मण्डल सन्धि की वार्ता करने के लिए इंग्लैंड गया और सन्धि हो गई। सन्धि बीस वर्ष के लिए थी उसके अनुसार नहर क्षेत्र की रक्षा का भार ब्रिटेन पर रहा और सुदान के सम्बन्ध में जो स्थिति पहले थी वही रही।

संधि पर हस्ताक्षर होने के कुछ दिनों बाद ही बादशाह फौद का देहान्त हो गया और युवराज फारुख बादशाह बना। बादशाह फौद की भाँति ही फारुख भी प्रतिक्रियावादी था और मिस्र में जनतन्त्र को पनपने नहीं देना चाहता था। प्रधान मन्त्री नहस पाशा क्रमशः बादशाह के अधिकारों को कम करके तथा प्रतिक्रियावादी गुट की शक्ति कम करके पार्लियामेंट की शक्ति को बढ़ाना चाहते थे। उधर बादशाह फारुख अपने अधिकारों को अक्षुण्ण बनाये रखना चाहते थे। अस्तु बादशाह फारुख तथा प्रधान मन्त्री नहस पाशा में मतभेद आरम्भ हो गया और दिसम्बर १९३७ में बादशाह फारुख ने नहस पाशा को प्रधान मन्त्रित्व से हटा दिया और २ फरवरी १९३८ को पार्लियामेंट भी तोड़ दी, क्योंकि उसमें वफ्द दल का बहुमत था। नवीन चुनाव हुआ किन्तु बादशाह फारुख की चतुराई से वफ्द दल पराजित हो गया। फिर भी राष्ट्रवादियों में और बादशाह में संघर्ष चलता ही रहा अन्त में फिर वफ्द दल विजयी हुआ और नहस पाशा के प्रधान मन्त्रित्व में फिर सरकार स्थापित हुई। वफ्द दल भी

मिस्र की आर्थिक स्थिति में अधिक सुधार नहीं कर सका। यद्यपि कृषि की उन्नति, सहकारिता और ग्राम-सुधार की ओर थोड़ा प्रयत्न किया गया। इसी समय द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया और परिस्थिति बदल गई।

द्वितीय महायुद्ध के समय मिस्र के राजनीतिज्ञों ने देखा कि १९३७ की संधि के अनुसार स्वेज नहर प्रदेश में जो ब्रिटिश सेना मौजूद है वह मिस्र की स्वतन्त्रता तथा सार्वभौमिकता के लिए एक चुनौती है, अस्तु मिस्र में यह भावना दृढ़ होती गई कि ब्रिटिश सेनाएँ स्वेज नहर के क्षेत्र से हट जानी चाहिए। सुदान पर जो मिस्र और ब्रिटेन का सम्मिलित शासन है उसका अन्त हो जाना चाहिए और सुदान को मिस्र का भाग बन जाना चाहिए तथा १९३७ की संधि को समाप्त कर देना चाहिए। वफ्द दल राष्ट्र की इस भावना को और अधिक उत्तेजित करता रहता था।

जनवरी १९५० में जब वफ्द दल फिर चुनाव में विजयी होकर सत्तारूढ़ हुआ तो उसकी लोकप्रियता कुछ कम हो चुकी थी। कारण यह था इसराइल में मिस्र सेनाओं को बुरी तरह पराजय प्राप्त हुई थी और उसका मुख्य कारण यह बतलाया जाता था कि मिस्र सेनाओं को जो विदेशों से खरीदी हुई युद्ध-सामग्री दी गई थी वह रद्दी और पुरानी थी। उस बेकार युद्ध-सामग्री को खरीदकर देश का धन बरबाद किया गया था। इसके अतिरिक्त वफ्द दल के नेताओं की सच्चाई और ईमानदारी में लोगों का विश्वास कम होता जा रहा था। अस्तु नहस पाशा ने अपने दल की लोकप्रियता को बढ़ाने के लिए मिस्र की पार्लियामेंट में घोषणा की कि वे ब्रिटिश सेना को शीघ्र ही स्वेज नहर को छोड़ने के लिए बाध्य करेंगे तथा संधि को समाप्त कर देंगे।

इसका परिणाम यह हुआ कि भावुक मिस्रवासियों में उत्तेजना फैल गई। समस्त देश में प्रदर्शन होने लगा, स्वेज नहर के क्षेत्र में ब्रिटिश सैनिकों से सशस्त्र नागरिकों के छुटपुट संघर्ष होने लगे। अंग्रेजों का बहिष्कार किया गया। इस उत्तेजना का परिणाम यह हुआ कि अलक्षेंद्रिया तथा अन्य स्थानों पर क्रुद्ध मिस्रवासियों ने अंग्रेजी दूकानों को लूट लिया, उनकी सम्पत्ति नष्ट कर डाली और कुछ अंग्रेजों को मार डाला। इस कांड का परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश सरकार ने एक बहुत धमकी भरा कड़ा नोट मिस्र सरकार के पास भेजा। बादशाह फारुख ने अवसर पाकर, नहस पाशा के मंत्रिमंडल को भंग कर

दिया। किन्तु मिस्र की स्थिति इस समय दयनीय हो उठी थी। शासन में भ्रष्टाचार बढ़ गया था। बादशाह स्वयं भ्रष्टाचार में सम्मिलित था। सेना में तरुण आफिसरों का एक दल था जो मिस्र में सैनिक क्रान्ति की योजना बना रहा था। अस्तु नहस पाशा के मंत्रिमंडल को भंग करके बादशाह फारुख ने जो नवीन मंत्रिमंडल बनाया उसके पैर जमने ही न पाये थे कि जनरल नगीब के नेतृत्व में वहाँ सैनिक क्रान्ति हो गई। जनरल नगीब के हाथ में शासन-सूत्र आ गया। उसने बादशाह फारुख को देश से निकल जाने पर विवश कर दिया।

क्रमशः मिस्र में सैनिक अधिनायकवाद स्थापित हो गया। जनरल नगीब ने राजवंश को समाप्त कर दिया और मिस्र को प्रजातंत्र घोषित कर दिया। बादशाह फारुख की समस्त सम्पत्ति जब्त कर ली गई और उस पर अभियोग चलाया गया।

नगीब ने देश के सभी राजनैतिक दलों को तोड़ दिया, पुराने मंत्रियों पर भ्रष्टाचार के सम्बन्ध में अभियोग चलाए गए। जिन व्यक्तियों, समाचार-पत्रों तथा दलों ने सैनिक सरकार का तनिक भी विरोध किया उनका घोर दमन किया गया।

नगीब ने किसानों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए जागीरें तथा जमींदारियाँ समाप्त कर दीं और भूमि को किसानों को बाँट दिया। इसके अतिरिक्त और भी आर्थिक सुधार किए। इसके उपरान्त स्वेज नहर से अंग्रेज सेना को हटाने के लिए दबाव डालना आरम्भ किया।

परन्तु कुछ दिनों के उपरान्त ही सेना के उच्च अधिकारियों का जो दल था जिसने नगीब के नेतृत्व में क्रान्ति की थी उसमें मतभेद हो गया। नगीब और कर्नल नसर में मतभेद हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि नगीब के हाथ से नेतृत्व निकल गया। उनको मिस्र राष्ट्र का प्रेसीडेंट बना दिया गया और कर्नल नसर उसके प्रधान मंत्री बन गए। वास्तविक सत्ता नसर के हाथ में आ गई।

नसर ने अंग्रेजों से स्वेज नहर के सम्बन्ध में बातचीत की और अन्त में स्वेज नहर सम्बन्धी ब्रिटेन और मिस्र में संधि हो गई। फलस्वरूप ब्रिटिश सेना स्वेज नहर क्षेत्र से कुछ शर्तों के साथ हट जावेगी बहुत दिनों से जो मिस्र और ब्रिटेन में झगड़ा चल रहा था उसका अन्त हो गया।

परन्तु अभी मिस्र में राजनीतिक स्थायित्व नहीं आया है। नगीब और नसर में मतभेद के समय विभिन्न राजनैतिक दलों पर से फिर प्रतिवन्ध हटा लिया गया अस्तु वहाँ की राजनीतिक स्थिति अभी स्थिर नहीं है। अक्टूबर १९५४ में मुस्लिम भ्रातृत्व नामक संस्था ने कर्नल नसर की हत्या करके वर्तमान सैनिक शासन को उलटने का प्रयत्न किया था किन्तु वह षड्यंत्र सफल नहीं हुआ। यह सारी घटनायें इस बात की द्योतक हैं कि वहाँ राजनीतिक स्थायित्व नहीं है। जिस देश में शासन दृढ़ न हो राजनीतिक क्रान्ति की सम्भावनायें सदैव बनी रहे वहाँ आर्थिक सामाजिक उन्नति के लिए कोई स्थायी प्रयत्न नहीं हो सकता। यदि भविष्य में प्रगतिशील और चुनी हुई सरकार कायम हो सकी तो मिस्र तेजी से अपना विकास करेगा, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है। अभी तो मिस्र केवल एक खेतिहर राष्ट्र है, उद्योग धंधों की दृष्टि से वह उन्नत नहीं है। कपास ही वहाँ का धन है जिसकी विदेशों में बहुत माँग है।

अभ्यास के प्रश्न

१—मिस्र के लिए नील नदी का आर्थिक दृष्टि से इतना अधिक महत्त्व क्यों है?

२—मिस्र के राजनैतिक पतन का संक्षिप्त इतिहास लिखिए।

३—मिस्र की स्वतन्त्रता के संघर्ष में जागलूल पाशा का क्या स्थान था, बतलाइए।

४—मिस्र में जनरल नगीब के नेतृत्व मे जो सैनिक क्रान्ति हुई उसका वर्णन कीजिए।

५—मुहम्मदअली के कार्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Great Britain and Egypt—Royal Institute of International Affairs.
2. Middle East and War—Oxford University Press.
3. History of Nationalism in the Hans Kohn.
4. Suez Canal—Hugh J. East Schonfield.
5. Current History (Magazine)

भाग ४
अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दिशा में

अध्याय ३२

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की कल्पना मानव-समाज के इतिहास में एक नई कल्पना है। प्राचीन काल में मनुष्य अपने कुटुम्ब, जाति, गाँव अथवा समाज की सीमाओं में बँधा रहता था। इन सीमाओं
के वाहर उसके सम्पर्क बहुत कम थे। राज्य नाम की अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग संस्था का जन्म कब हुआ, यह कहना कठिन है। परन्तु का विकास
प्रारम्भ में राज्य भी छोटे-छोटे होते थे और बाद में जब
इनमें से कुछ राज्यों ने फैलकर साम्राज्य का रूप लेना आरम्भ किया तब साम्राज्य बनानेवाले और उनके अधीनस्थ देशों में जो सम्बन्ध होता था वह शासक और शासित का सम्बन्ध था। दो देशों अथवा दो राष्ट्रों के समान व्यवहार की गुञ्जाइश उसमें नहीं थी। प्राचीन भारत अथवा चीन अथवा यूनान में राज्यों के सम्बन्ध की कल्पना हमें मिलती है। कभी-कभी उनके पारस्परिक सम्बन्धों के सञ्चालन के लिए कुछ नियम और परम्पराएँ भी दिखाई देती हैं। परन्तु इन सम्बन्धों की परिधि बहुत ही छोटी थी। मध्यकालीन यूरोप में राजनीतिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से बड़ी-बड़ी इकाइयाँ बनीं, परन्तु इनका आधार समाज के सामन्तवादी ढाँचे पर स्थित था। राष्ट्रीयता की कल्पना का विकास तो तभी सम्भव हो सका जब 'पवित्र रोमन साम्राज्य' और 'रोमन कैथोलिक चर्च' और सामन्तवाद का सारा सामाजिक ढाँचा टूटने लगा।

राष्ट्रीयता के विकास के बिना अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का जन्म सम्भव नहीं था। परन्तु यह कहा जा सकता है कि एक क्षेत्र ऐसा था जिसमें एक राज्य और दूसरे राज्य के निवासियों में सामीप्य की भावना
विकास हो सका। वह धर्म का क्षेत्र था। बौद्ध-धर्म और इसलाम, ईसाई मत और जोरोआस्टर के सिद्धान्त देशों और राज्यों की सीमाओं को लाँघकर चारों ओर फैलने की क्षमता रखते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि इन धर्मों के माननेवालों में उन देशों और क्षेत्रों के लिए एक

विशेष आकर्षण बन गया जिनमें उनके द्वारा माने जानेवाले धर्मों का जन्म हुआ था। परन्तु इस भावना को ही हम अन्तर्राष्ट्रीयता का नाम नहीं दे सकते। सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में यूरोप में उस राज्य-व्यवस्था ने जन्म लिया जिसका आधार राष्ट्रीयता की भावना पर था। मध्य-यूरोप में १६१८-१६४८ तक लड़े जानेवाले तीसवर्षीय युद्ध (Thirty Years War) में, धार्मिक कारणों के होते हुए भी, राष्ट्रीयता की भावना काम कर रही थी। इस युद्ध की समाप्ति पर पहली बार इस सिद्धान्त को माना गया कि अन्य राज्यों से संबंधों की दृष्टि से प्रत्येक राज्य को समानता का अधिकार प्राप्त है। यह सच है कि इसके बाद ही राज्यों की साम्राज्य-लिप्सा ने इतना भयंकर रूप ले लिया कि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना अधिक विकास नहीं कर सकी, परन्तु अठारहवीं शताब्दी के अन्त में स्वेच्छाचारी शासकों का पतन हुआ, फ्रांस की राज्य-क्रान्ति ने व्यक्ति के महत्त्व पर जोर दिया और जनतंत्र की भावना तेजी के साथ फैलने लगी। उन्नीसवीं शताब्दी तो जनतंत्र की शताब्दी ही कहलाती है। जनतंत्र के विकास ने अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास को प्रोत्साहन दिया।

परन्तु इस भावना को एक सशक्त रूप देने का श्रेय उन दो प्रवृत्तियों को है जिनका समुन्नत विकास उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दी में हुआ। वे हैं—औद्योगिक क्रान्ति और महायुद्ध।

औद्योगिक क्रान्ति की देन

औद्योगिक क्रांति का परिणाम यह हुआ है कि संसार के सभी देश अपने आर्थिक और सामाजिक जीवन में तेजी से एक दूसरे के समीप आते गए है। रेल और समुद्री जहाज, तार और टेलीफोन, समाचार-पत्र और वायुयान, सिनेमा और रेडियो—इन सबने विभिन्न देशों को एक दूसरे के नजदीक लाने में सहायता पहुँचाई है। औद्योगिक क्रांति ने पूँजीवाद को प्रोत्साहन दिया और अन्य देशों में अधिक लाभ पर पूँजी लगाने और उनके आर्थिक शोषण की लालसा ने एक ओर तो उन्नीसवीं शताब्दी के महान् साम्राज्यों को जन्म दिया और दूसरी ओर शोषित देशों में राष्ट्रीयता की भावना का विकास किया। परन्तु, राजनीतिक संबंधों की सीमाओं से परे, आर्थिक दृष्टि से प्रत्येक देश अन्य देशों के कच्चे माल अथवा तैयार किए हुए माल पर अधिक से अधिक निर्भर होता जा रहा है। आज तो स्थिति यह है कि यदि कोई नागरिक अपनी भोजन की सामग्री, पहिनने के कपड़ों अथवा कमरे में

जमाए गए सजावट के सामान पर नजर डाले और यह जानने का प्रयत्न करे कि कौन सी चीज किस देश की बनी हुई है तो उसे यह देखकर हैरानी होगी कि न जाने कितने दूर-पास के अनेक छोटे-बड़े देशों ने उसकी दैनिक आवश्यकताओं की साधारण वस्तुएँ उसके पास तक पहुँचाने में भाग लिया है। आज यदि कनाडा में फसल अच्छी हो जाती है तो राजस्थान की मण्डियों पर उसका असर पड़ता है और लन्दन के किसी कारखाने में हड़ताल होती है तो मैक्सिको के बाजारों मे चीजों के भाव बढ़ते हुए दिखाई देते हैं। भौगोलिक व्यवधान आज इतने क्षीण हो गए हैं कि चौबीस घण्टे में दिल्ली से लन्दन पहुँचा जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से एक दूसरे पर इतना अधिक निर्भर रहने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि आज हम अपने ही देश की बात नहीं सोचते हैं अन्य देशों में होनेवाली घटनाओं का भी हम पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

आर्थिक दृष्टि से पारस्परिक निर्भरता ने विभिन्न देशों के नागरिकों में अन्तर्राष्ट्रीयता की जो दृष्टि उत्पन्न की उसे बार-बार उठ खड़े होनेवाले राजनीतिक संकटों और महायुद्धों ने और भी विस्तृत
बनाया। युद्धों का रूप अब पहले जैसा नहीं रहा है। महायुद्धों का प्रभाव
पहले शत्रु की सेनाएँ खेतों के बीच की पगडण्डियों
से निकल जाती थीं और कृषक खेतों में काम करते रहते थे। आज तो युद्ध का प्रभाव प्रत्येक व्यक्ति पर पड़ता है, उसका अपना देश युद्ध में शामिल हो या नहीं। आज तो व्यक्तियों के समान ही राष्ट्रों के लिए भी तटस्थ रहना असम्भव होता जा रहा है। जब युद्ध आता है तब उसमें केवल सैनिकों को ही नहीं, सभी नागरिकों को जुट जाना पड़ता है—वे उद्योगपति हों अथवा व्यापारी, बड़े वैज्ञानिक हों अथवा साधारण क्लर्क, बूढ़ों, स्त्रियों और बच्चों को भी युद्ध में किसी न किसी रूप में सहायता पहुँचाना अनिवार्य हो जाता है। कोई स्थान बमों के आक्रमण से सुरक्षित नहीं है। हिरोशिमा और नागासाकी के निर्दोष स्त्री, पुरुष और बच्चे उसी निर्दयता से अणु-विस्फोट में भून दिए गए जैसे युद्ध-क्षेत्र में लड़नेवाले सिपाही। युद्ध के इस भयंकर और सर्वव्यापी रूप को देखते हुए यह आवश्यक हो गया है कि जब तक वह अपनी समस्त भीषणता के साथ सिर पर आ ही नहीं जाता तब तक सभी देश और उनकी जनता उसे रोकने का अधिक से अधिक प्रयत्न करें; अन्तर्राष्ट्रीय उलझनों को

आपसी बातचीत, समझदारी और सहयोग की भावना से सुलझाने का प्रयत्न करें; युद्ध के कारणों का पता लगाएँ और उन्हें दूर करने की चेष्टा करें; सामाजिक न्याय और आर्थिक समानता के निर्माण में जुट पड़ें, जिसके अभाव में प्रायः युद्धों का जन्म होता है; युद्ध को रोका नहीं जा सके तो उसे सीमित रखने का प्रयत्न करें। इन सब प्रयत्नों में सफलता प्राप्त करने के लिए अधिक से अधिक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आवश्यक हो गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का वर्त्तमान रूप

इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार का सहयोग पिछले वर्षों में लगातार बढ़ता गया है। हम केवल अपने ही देश के नागरिक नहीं हैं और केवल अपने देश की समस्याओं को सुलझाने की जिम्मेदारी ही हम पर नहीं है, विश्व की नागरिकता का उत्तर-दायित्व भी हम पर है, यह भावना अब अधिक बढ़ती जा रही है। असंख्य सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाओं के द्वारा हम अन्य देशों के निरन्तर सम्पर्क में आते रहते है। अन्तर्राष्ट्रीयता की यह भावना अब संसार के किसी एक प्रदेश अथवा महाद्वीप तक ही सीमित नहीं है। यह ठीक है कि अपने आस-पास की समस्याओं के लिए कभी-कभी हम प्रादेशिक संगठनों का निर्माण भी करते हैं परन्तु जब हम अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग अथवा संगठन की बात करते हैं तब हमारे सामने यही कल्पना रहती है कि उसमें संसार के छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों का समावेश किया जा सके। इसके साथ ही हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की हमारी आज जो भावना है उसका आधार विभिन्न राष्ट्रों के स्वेच्छापूर्ण सहयोग पर है। विभिन्न राष्ट्रों पर, उनकी इच्छा के विरुद्ध ऊपर से कोई सत्ता नहीं थोपी जा सकती। इसमें सन्देह नहीं कि यदि हम अन्तर्राष्ट्रीयता का अधिक से अधिक विकास करना चाहते हैं तो हमें अपनी निष्ठा को राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता के बीच में बाँटना होगा और अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रति अपनी निष्ठा को सबल बनाने के लिए राष्ट्रीयता में अपनी निष्ठा को कम करना होगा। जब तक राष्ट्रीयता को हम अपना एकमात्र लक्ष्य मानते रहेंगे और राष्ट्रीय शक्ति और सामर्थ्य के ही विकास पर हमारा समस्त आग्रह रहेगा तब तक अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को दृढ़ और सबल नहीं बनाया जा सकेगा। ज्यों-ज्यों औद्योगिक क्रान्ति और महायुद्धों का प्रभाव बढ़ता जाता है हम निश्चित रूप से राष्ट्रीयता की सीमाओं से मुक्त होकर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग

की दिशा में आगे बढ़ते जा रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे कदम अभी धीमे है और हमारी मंजिल अभी दूर है, परन्तु इतिहास की जो शक्तियाँ हमें प्रेरित कर रही हैं उनका लक्ष्य स्पष्टतः उसी दिशा में है।

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का पूर्व इतिहास

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की पहली कल्पना छठी अथवा सातवीं शताब्दी में की गई। इसके बाद तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी में इटली में दान्ते (Dante) और फ्रांस में पायरे दुबॉय (Peirre-Dubois) ने इसके संबंध में अपने विचार प्रकट किए। दांते ने राष्ट्रों के एक ऐसे संगठन का स्वप्न हमारे सामने रखा जिसमें उनके पारस्परिक संबंधों का आधार न्याय पर स्थापित हो। दुबॉय ने यूरोप के राजाओं के एक संघ की कल्पना की, जिसका अपना कार्यकारी मण्डल और न्यायालय हो और जो अपने संगठित प्रयत्न से यूरोप की पवित्र भूमि को मुसलिम आक्रमणकारियों से बचा सके। सत्रहवीं शताब्दी में हेनरी चतुर्थ की योजनाएँ हमारे सामने आईं। इसके बाद विलियम पेन और सेण्ट पायरे के एवे ने इसी प्रकार की योजनाएँ बनाईं और अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में फ्रांस में रूसो, ब्रिटेन में वेन्थम और जर्मनी में कांट ने अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की विभिन्न रूप-रेखाएँ तैयार कीं। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से तो अनेकों साहित्यिकों, दर्शन-शास्त्रियों और स्वप्नद्रष्टाओं ने विश्व-शांति की सुरक्षा के लिए योजनाएँ सामने रखना आरंभ किया। इसकी संख्या इतनी अधिक है कि इन सबका वर्णन असम्भव होगा।

प्राय: प्रत्येक युद्ध के बाद इस प्रकार की योजनाओं का निर्माण अधिक तेजी के साथ हुआ। इन सभी योजनाओं में शान्ति की सुरक्षा के लिए सुझाव दिए गए, सभी में किसी न किसी प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सम्मेलन अथवा समझौते की कल्पना की गई। जिसका आधार चुने हुए प्रतिनिधियों के किसी सम्मेलन पर रखा गया और एक सामान्य बात यह है कि प्राय: इन सभी योजनाओं को व्यावहारिक राजनीतिज्ञों ने उपेक्षा की दृष्टि से देखा। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के प्रयत्नों की एक विशेषता यह रही कि उसमें अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में विचार-विनिमय करने की प्रथा का काफी अच्छा विकास हुआ। इस प्रथा का आरम्भ शक्ति-सन्तुलन (Balance of Power) के उस सिद्धान्त की रक्षा में हुआ था जिसे नैपोलियन की अनवरत विजयों ने

खतरे में डाल दिया था। नैपोलियन पर अन्तिम विजय प्राप्त करने के बाद ब्रिटेन, जर्मनी, आस्ट्रिया और रूस ने एक चतुर्देशीय संगठन (Quadruple Alliance) का निर्माण किया। बाद में फ्रांस के सम्मिलित कर लिए जाने पर इस संगठन ने एक यूरोपीय संगठन का रूप ले लिया। बाद के कुछ वर्षों में जब कभी कोई अन्तर्राष्ट्रीय समस्या सामने आई, इस संगठन की बैठक बुलाई गई। इस प्रकार की बैठकें १८२०, १८२१ और १८२३ में हुईं। १८२६ में यूनान की स्वाधीनता के प्रश्न को लेकर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। बाद में इस प्रकार के सम्मेलन कभी-कभी ही होने लगे। १८५६ में पेरिस में और १८७८ में बर्लिन में टर्की की समस्याओं को लेकर इस प्रकार के सम्मेलन बुलाए गए। बीसवीं शताब्दी में भी यह प्रथा चलती रही। १९०६ में मोरक्को के प्रश्न पर, १९०८ में आस्ट्रिया के सम्बन्ध में और १९१३ में बलकान युद्धों को लेकर इस प्रकार के सम्मेलन होते रहे।

अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के कार्य

परन्तु राजनीतिक प्रश्नों को लेकर विभिन्न देशों में जो विचार-विनिमय होता था, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दृष्टि से उससे कहीं अधिक उपयोगी काम उन अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के द्वारा हो रहा था, जिनका निर्माण आधुनिक युग की विज्ञान-प्रदत्त सुविधाओं के उपयोग की दृष्टि से हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कई अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की नींव डैन्यूब, राइन, काङ्गो, एल्ब अथवा यांग्त्सी नदियों से सम्बन्ध रखनेवाले शासन के उन प्रश्नों को लेकर डाली गई जिनका सम्बन्ध एक से अधिक राज्यों से था। १८५६ में पेरिस में होनेवाले एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में, जिसमें बीस राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया था, अन्तर्राष्ट्रीय तार-संघ की नींव डाली गई। तार के द्वारा एक देश से दूसरे देश को भेजे जानेवाले सन्देशों के आने-जाने की व्यवस्था की देख-रेख के लिए समय-समय पर विभिन्न शासन-विभागों का संगठन होता गया और इस सारे काम के समुचित संचालन के लिए नियम बनाए जाते रहे। रेडियो के आविष्कार के बाद रेडियो और तार के मिले-जुले सम्मेलन होने लगे। १८७४ में अन्तर्राष्ट्रीय डाक-संघ (Universal Postal Union) की स्थापना हुई। इसके पहले डाक के संबंध की बहुत-सी बातें विभिन्न देशों के आपसी विचार-विनिमय में तय कर ली जाती

थीं, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय डाक संघ बन जाने के बाद संसार भर के लिए एक ही प्रकार की डाक की दरें और चिट्ठियों, रजिस्ट्री, मनीआर्डर आदि के आने-जाने के सामान्य नियम निर्धारित किए जा सके। स्वास्थ्य, सफाई, व्यापार, अर्थनीति और मानववादी सुधारों के संबंध में समय-समय पर अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ बनती रहीं। वजन और माप, ट्रेडमार्क और कॉपीराइट आदि की अपनी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं। रेडक्रॉस मानवी आदर्शों को लेकर चलनेवाला एक बड़ा उपयोगी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। इन सभी संस्थाओं के संचालन में विभिन्न राष्ट्रों और उनकी सरकारों का सहयोग आवश्यक होता है परन्तु उनमें सुलझाए जानेवाले प्रश्न राजनीतिक उतने नहीं हैं जितने शासनिक; सारा काम बड़े सहयोग और सुरुचि के वातावरण में संपन्न हो जाता है।

अभ्यास के प्रश्न

१—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता पर अपने विचार प्रकट कीजिए।

२—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के कुछ प्रारम्भिक प्रयत्नों का वर्णन कीजिए।

३—औद्योगिक क्रांति और महायुद्धों ने अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता को किस प्रकार बढ़ाया?

४—अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के वर्त्तमान स्वरूप की व्याख्या कीजिए।

५—अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन के पूर्व-इतिहास पर प्रकाश डालिए।

६—राजनीति के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में काम करनेवाली अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के कार्यों का संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Eagleton Clyde : International Government.
2. Hemleben, S. J. : Plans of World Peace through Six Centuries.
3. Willkie, W. : One World.

अध्याय ३३

राष्ट्रसंघ (League of Nations) का संगठन

पहला महायुद्ध जब चल रहा था तभी विभिन्न देशों में बहुत सी ऐसी योजनाएँ बनाई जा रही थीं जिनका लक्ष्य एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक संगठन को जन्म देना था जिसका उद्देश्य युद्ध को रोकना हो। स्विजरलैंड, हॉलैंड, फ्रांस, जर्मनी, ब्रिटेन और अमरीका सभी देशों के विचार-शील व्यक्ति इस सम्बन्ध में अपने विचारों को प्रकट कर रहे थे। अमरीका में बननेवाली योजनाओं को वहाँ के अध्यक्ष वुड्रो विल्सन का भी पूरा समर्थन प्राप्त था। उन्होंने कहा, "हम चाहें या न चाहें पर हम सभी संसार के जीवन में साझीदार हैं।" सभी देशों, और विशेषकर छोटे देशों की, सार्वभौम सत्ता में उनका पूरा विश्वास था परंतु उसकी सुरक्षा के लिए वह यह आवश्यक समझते थे कि एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय-संगठन का विकास किया जाए जो युद्ध को असंभव बना दे। १९१७ में अमरीका जब महायुद्ध में सम्मिलित हुआ तब वह यही मान कर सम्मिलित हुआ था कि यह 'युद्ध युद्ध को समाप्त करने' और 'संसार को जनतन्त्र के लिए सुरक्षित बनाने' के लिए लड़ा जा रहा है।

युद्धकालीन योजनाएँ

युद्ध के समाप्त होने पर विशेषतः प्रेसीडेंट विलसन की प्रेरणा से राष्ट्रसंघ (League of Nations) की स्थापना हुई। पेरिस के शान्ति-सम्मेलन में ही इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का जन्म हुआ, क्योंकि उक्त सम्मेलन की कार्यवाही के आधार रूप में इस बात को मान लिया गया था कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देने, संधियों पर हस्ताक्षर करने वाले विभिन्न देशों के द्वारा उनके अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्यों के पूरा किए जाने और भविष्य में युद्ध को न होने देने के उपाय निकालने के लिए इस

राष्ट्रसंघ की स्थापना

प्रकार की संस्था की बड़ी आवश्यकता थी। इस संस्था के निर्माण में विल्सन का बहुत बड़ा हाथ था, और उसे एक अधिक शक्तिशाली संस्था नहीं बनाया जा सका, इसका कारण भी यही था कि उसके निर्माता उसमें कोई ऐसी बात नहीं रखना चाहते थे जिसके कारण अमरीका का लोकमत उसे अस्वीकार कर दे। परन्तु इन सब सावधानियों के लिए जाते हुए भी जब लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना हो गई तब अमरीका बड़े देशों में पहला ऐसा देश था जिसने उसकी सदस्यता स्वीकार नहीं की और वही अकेला ऐसा देश था जो अन्त तक कभी भी उसका सदस्य नहीं बना। इसका कारण यह नहीं था कि अमरीका का लोकमत इस प्रकार की संस्था में विश्वास नहीं रखता था। इसका कारण तो केवल यही था कि अमरीका की 'सीनेट' के कुछ सदस्य विल्सन और उनके राजनीतिक दल की प्रतिष्ठा को कम करने के लिए 'सीनेट' में लीग ऑफ नेशन्स के सम्बन्ध में झूठे और निराधार आक्षेप रखने में नहीं हिचकिचाए।

अमरीका के शामिल न होते हुए भी लीग ऑफ नेशन्स का निर्माण तो हुआ ही। यह सच है कि इसकी नींव विजयी राष्ट्रों के द्वारा डाली गई परन्तु इसका निर्माण किसी ऐसी राज-सत्ता के रूप में नहीं हुआ था जो अन्य राज्यों से उनकी इच्छा के विरुद्ध कुछ करा सके। यह तो सत्ता-सम्पन्न राज्यों का स्वेच्छा से निर्माण किया

गया एक अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन था। नैतिक बल से राष्ट्रसंघ की अधिक कोई शक्ति उसके पास नहीं थी। उसके विशेषताएँ आदेशों को मानने या न मानने की पूरी स्वाधीनता

प्रत्येक सदस्य को थी। वह एक विश्वव्यापी संस्था इस अर्थ में तो नहीं थी कि संसार के सब देश उसके सदस्य हों परन्तु अधिकांश देश तो उसके सदस्य थे ही और किसी देश को जान-बूझकर बाहर रखने की कोई चेष्टा कभी उसके द्वारा नहीं की गई। युद्ध को रोकने और शान्ति का वातावरण बनाने की दृष्टि से वह एक बहुत सफल संस्था नहीं बन पाई क्योंकि उसका जन्म ही विभिन्न दृष्टिकोणों में कठिनाई से स्थापित किए गए समझौते में हुआ था। उसका उद्देश्य-पत्र (Covenant) ही इस समझौते का एक उदाहरण था। उद्देश्य-पत्र में दिए गए आदर्शों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का अधिकृत मत देने का अधिकार किसी संस्था को नहीं था। प्रत्येक सदस्य उसमें से अपना मनमाना

अर्थ निकाल सकता था। सदस्यता दो प्रकार की थी। सन्धियों पर हस्ताक्षर करनेवाले और उनकी चर्चा में भाग लेने के लिए आमंत्रित देशों को मूल सदस्य माना गया था। इसके अतिरिक्त अन्य देशों को भी उसमें प्रवेश करने का अधिकार था, सदस्यता से त्यागपत्र देने अथवा उससे वञ्चित किए जाने की व्यवस्था थी। संस्था के बजट का उत्तरदायित्व असेम्बली (League Assembly) को दिया गया था। उसका केन्द्रीय कार्यालय जेनेवा (Geneva) में रखा गया। आनेवाले कई वर्षों तक युद्ध-पीड़ित मानवता की सभीत दृष्टि जेनेवा के एक महान् प्रासाद में, जिसकी लागत में कई करोड़ रुपया खर्च हुआ था, काम करनेवाली लीग ऑफ नेशन्स की विभिन्न संस्थाओं पर गड़ी रही। परंतु अन्त में उसे निराश होकर बैठ रहना पड़ा। जब दूसरे महायुद्ध का बवण्डर उठा तो उसे रोकना तो दूर रहा उसके बढ़ते हुए प्रवाह में लीग ऑफ नेशन्स का सारा ढाँचा चकनाचूर होकर बहता हुआ दिखाई दिया।

राष्ट्रसंघ के उद्देश्य

लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना, जैसा कि उसके उद्देश्य-पत्र से विदित होता है, तीन उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए की गई थी। उसका पहला उद्देश्य शान्ति-सन्धियों और अन्य समझौतों की शर्तों को अमल में लाना था। इस दृष्टि से लीग का काम शान्ति-सम्मेलन में निश्चित की हुई अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं का निर्वाह करना था। लीग का दूसरा उद्देश्य स्वास्थ्य, सामाजिक प्रश्न, अर्थनीति, यातायात के साधन, सन्देश-वाहन आदि की सुविधाओं का विकास करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का निर्माण करना था। लीग का तीसरा उद्देश्य युद्ध को रोकना और विभिन्न देशों के आपसी झगड़ों को शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाना था। इन उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए लीग के विशाल ढाँचे की सृष्टि की गई थी।

प्रमुख संस्थाएँ : असेम्बली

असेम्बली (League Assembly), कौंसिल (League Council) और सचिवालय (League Secretariat) उसकी प्रमुख संस्थाएँ थीं। असेम्बली अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीतिज्ञों का एक सम्मेलन थी। उसमें भाग लेनेवाले प्रतिनिधि अपनी राष्ट्रीय सरकारों के मत को वहाँ रख सकते थे। स्वतंत्र रूप से अथवा बातचीत और विचार-विनिमय के परिणाम-स्वरूप कोई निर्णय देने का उन्हें अधिकार नहीं था। असेम्बली

की तुलना किसी धारा-सभा से नहीं की जा सकती। कानून बनाने का कोई अधिकार उसे नहीं था। असेम्बली से किसी भी विषय के सम्बन्ध में वैज्ञानिक, तर्क-सम्मत अथवा पक्षपातहीन निर्णय की आशा नहीं की जा सकती थी क्योंकि वह राजनीतिज्ञों की एक समिति थी, विशेषज्ञों की नहीं। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें जिन विषयों पर विचार किया जाता था उनके संबंध में सही और निष्पक्ष परिणाम निकलने की कोई आशा ही नहीं की जा सकती थी। प्रायः ऐसा होता था कि विभिन्न देशों के द्वारा उन्हीं प्रतिनिधियों को असेम्बली के विभिन्न अधिवेशनों में भेजा जाता था। इस प्रकार अन्य देशों के प्रतिनिधियों से निकट के संपर्क स्थापित करने का उन्हे अवसर मिलता था। एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने की उनमें जिज्ञासा होती थी और आपसी सहयोग के लिए वे प्रयत्नशील होते थे। अपने देश की सरकारों पर भी उनका कुछ न कुछ प्रभाव पड़ता ही था, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं कि प्रत्येक देश की सरकार प्रत्येक प्रश्न पर अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से ही निर्णय लेती थी और उसके प्रतिनिधियों को इस सीमा के भीतर रहकर ही काम करना होता था। असेम्बली की बैठक साधारणतः वर्ष में एक बार होती थी और कभी कभी उसके विशेष अधिवेशन भी बुलाए जाते थे। उसका कार्यक्रम महामन्त्री (Secretary General) के द्वारा पहले से तय कर लिया जाता था, परन्तु असेम्बली को उसमें परिवर्त्तन करने का अधिकार था। कौंसिल और सचिवालय के काम के सम्बन्ध में रिपोर्टें उसके पास आती रहती थीं और उन पर वाद-विवाद, आलोचना-प्रत्यालोचना, सुझाव और संशोधन, उसका मुख्य काम था। इस प्रकार संसार की सभी समस्याओं पर विचार करने का उसे अवसर मिलता था। असेम्बली अपने अध्यक्ष का चुनाव स्वयं ही करती थी। छः स्थायी समितियों और छः उपाध्यक्षों का चुनाव भी वह करती थी। दो तिहाई मत से नए सदस्यों का चुनाव करने का भी उसे अधिकार था। बहुमत से वह कौंसिल के ९ अस्थायी सदस्यों में से प्रत्येक वर्ष तीन का चुनाव करती थी। महामन्त्री की नियुक्ति कौंसिल के द्वारा की जाती थी परन्तु उसकी स्वीकृति असेम्बली के बहुमत से प्राप्त की जाती थी। संविधान के संशोधन में भी असेम्बली का प्रमुख हाथ था। कौंसिल और अन्य संस्थाओं के कामों का

निरीक्षण तो वह करती ही थी, उनका बजट भी उसके द्वारा ही स्वीकृत किया जाता था। इन सब अधिकारों के कारण असेम्बली लीग ऑफ नेशन्स की सर्वप्रमुख संस्था बन गई थी।

लीग कौंसिल और उसके कार्य

कौंसिल एक छोटी समिति थी। इसमें बड़े राष्ट्रों को स्थायी सदस्यता मिली हुई थी, और अस्थायी पदों के लिए छोटे राष्ट्रों में से चुनाव होता था। आरम्भ में इसमें अमरीका, ब्रिटेन, फ्रान्स, इटली और जापान, इन पाँच देशों के लिए स्थायी सदस्यता और इनके अतिरिक्त छोटे राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के रूप में चार अस्थायी सदस्यों की व्यवस्था की गई थी। परन्तु अमरीका के असहयोग के कारण इन दोनों प्रकार की सदस्यताओं का अनुपात ४ : ४ रह गया। १९२२ में अस्थायी सदस्यों में दो की वृद्धि की गई। १९३६ में अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाकर ९ कर दी गई और जर्मनी को स्थायी सदस्य बना लिया गया। बाद में इन संख्याओं में फिर थोड़े-बहुत परिवर्त्तन हुए। दूसरे महायुद्ध के पहले उसमें ब्रिटेन, फ्रांस और रूस ये तीन स्थायी सदस्य और ग्यारह अस्थायी सदस्य थे। कौंसिल की बैठकें वर्ष में कम से कम चार बार तो होती ही थीं, पर विशेष अधिवेशन भी बुलाए जा सकते थे। लीग के कार्यक्षेत्र और विश्व-शान्ति से सम्बन्ध रखनेवाले किसी भी प्रश्न पर वह विचार-विमर्श कर सकती थी। अल्पसंख्यकों, शरणार्थियों, संरक्षित प्रदेशों और कुछ विवादग्रस्त समस्याओं के सम्बन्ध में उसे निरीक्षण के विशेष अधिकार प्राप्त थे। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का सुलझाना उसका प्रमुख काम था। असेम्बली के सुझावों को कार्यान्वित करना, निःशस्त्रीकरण की योजनाएँ बनाना, महामन्त्री का चुनाव आदि भी उसके कार्यक्षेत्र में आते थे। इसकी बैठकों में प्रायः विदेश-मन्त्री अथवा प्रधान मन्त्री भाग लेते थे और इस कारण उनमें एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने और सहयोग की भावना का निर्माण करने में उनका बड़ा हाथ था। अध्यक्ष का चुनाव वर्णमाला के क्रम से किया जाता था। कौंसिल अपने काम के लिए समितियों का निर्माण और उपयोग करती थी। वह एक राजनीतिक संस्था थी, इस कारण उसके निर्णय न्याय के आधार पर नहीं राजनीतिक आवश्यकताओं और अनिवार्यताओं के आधार पर ही अधिक किए जाते थे। न्याय-सम्बन्धी मामलों में वह

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से राय ले सकती थी। निर्णयों के लिए सभी सदस्यों का एकमत होना आवश्यक था। जहाँ तक असेम्बली से उसके सम्बन्धों का प्रश्न था उनकी तुलना किसी देश की कार्यकारिणी और धारा-सभा के आपसी सम्बन्धों से नहीं की जा सकती। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि कौंसिल और असेम्बली एक ही मशीन के दो पुर्जों के समान थीं जो आपस में मिल-जुलकर काम करते थे। अधिकारों की दृष्टि से कौंसिल के अधिकार कुछ बढ़े-चढ़े थे परन्तु असेम्बली को बहुत से मामलों में उसके कार्यों पर निरीक्षण का अधिकार था। व्यावहारिक रूप से इन दोनों संस्थाओं में कभी कोई संघर्ष नहीं हुआ।

सचिवालय तथा अन्य संस्थाएँ

सचिवालय को लीग ऑफ नेशन्स की रीढ़ की हड्डी माना गया है। लीग का सारा काम उसके द्वारा ही संचालित होता था। महामंत्री की अध्यक्षता में उसके कई सौ कर्मचारियों पर कौंसिल, असेम्बली और अन्य संबद्ध संस्थाओं की बैठकों को संयोजित करने और उनके निर्णयों को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व था। महामंत्री की सहायता के लिए कुछ उपमंत्री और सहायक मंत्री होते थे। ये पद प्राय: राजनीतिक होते थे और इस कारण उनके सम्बन्ध में कई बार झगड़े भी उठ खड़े होते थे। सचिवालय कई विभागों में बँटा हुआ था, जिनके अपने निर्देशक होते थे। कर्मचारियों की नियुक्ति में यह प्रयत्न किया जाता था कि वे अधिक से अधिक देशों में से चुने जाएँ। लीग ऑफ नेशन्स के संगठन में असेम्बली और कौंसिल के अतिरिक्त अन्य विशेष संस्थाओं के लिए भी स्थान था। शस्त्रीकरण और संरक्षित प्रदेशों के सम्बन्ध में कमीशन, आर्थिक और वित्तीय संगठन, यातायात-सम्बन्धी संगठन, स्वास्थ्य संगठन आदि कई संस्थाएँ थीं जिन्हें एक दूसरे से संबद्ध रखने का काम भी सचिवालय के द्वारा ही किया जाता था। इनमें से कुछ स्थायी और कुछ अस्थायी संगठन थे। इनके अतिरिक्त कुछ विशेष संस्थाएँ थीं। असेम्बली और कौंसिल के अतिरिक्त लीग ऑफ नेशन्स की मुख्य संस्थाओं में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ (International Labour Organisation) और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Permanent Court of International Justice) की भी गणना की जानी चाहिए, परन्तु ये दोनों संस्थाएँ, बहुत कुछ अपने मूल रूप में ही, आज भी संयुक्त राष्ट्रसंघ

के तत्त्वावधान में काम कर रही हैं, इस कारण उनका विस्तृत उल्लेख संयुक्त राष्ट्रसंघ के अध्ययन के साथ किया जा सकेगा।

इस विशाल संगठन को लेकर काम करनेवाली लीग ऑफ नेशन्स के बीस वर्ष के जीवन पर जब हम दृष्टि डालते हैं तो उसमें आशा और निराशा, सफलता और असफलता, आश्वासन और आशंकाओं का एक विचित्र इतिहास हमें मिलता है और उसका अन्त होता है एक ऐसी दयनीय निष्क्रियता में जिसे देखकर क्रोध भी आता है और ग्लानि भी। यह सच है कि अमरीका का असहयोग उसकी सफलता के लिए बहुत घातक सिद्ध हुआ परन्तु अन्य देशों ने बहुत ईमानदारी के साथ अथवा बड़े साहस के साथ उसके उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए कुछ किया हो, ऐसा नहीं जान पड़ता। बेचारे छोटे राष्ट्र तो उसे अन्त तक अपना सहयोग देते ही रहे परन्तु बड़े राष्ट्रों में, जिनमें ब्रिटेन और फ्रांस की गिनती सबसे पहले की जानी चाहिए, अपने संकीर्ण राष्ट्रीय स्वार्थों पर अपनी दृष्टि अधिक रखी और अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा की चिन्ता उन्होंने कम ही की। जब कभी छोटे राष्ट्रों के आपसी झगड़ों के सुलझाने का प्रश्न आया—वह आलैंड द्वीप का झगड़ा हो अथवा विल्ना का विवाद, मेमल का मामला हो अथवा उत्तरी साइलेशिया की समस्या, उसका सम्बन्ध अलबानिया की सीमाओं से हो अथवा मोसल के भविष्य से—लीग ऑफ नेशन्स उसे सुलझा सकी, कौर्फू की घटना, यूनान और बलगारिया के मतभेद, दक्षिणी अमरीका के झगड़े, सार का प्रशासन और डेंजिग का नियंत्रण, इन सभी मामलों में उसे सफलता मिली, क्योंकि इनका सम्बन्ध छोटे राष्ट्रों से था। परन्तु जब किसी बड़े राष्ट्र से सम्बन्ध रखनेवाली कोई समस्या उसके सामने आई, उसकी दयनीय असमर्थता प्रकट हो गई। मंचूरिया पर जापान का आक्रमण, अबीसीनिया पर अधिकार करने की इटली की साम्राज्यवादी लिप्सा और अन्त में जर्मनी के द्वारा सन्धियों को एक के बाद एक भंग करते हुए जर्मन साम्राज्य को केन्द्रिय और पूर्वीय यूरोप पर फैला देने की योजनाएँ जब सामने आईं तब लीग ऑफ नेशन्स कुछ भी न कर सकी। फासिस्ट आक्रमणों को रोकने के लिए लीग एक सशक्त संस्था बन सकती थी। इसके लिए साम्यवादी रूस ने बार-बार जनतांत्रिक

लीग ऑफ नेशन्स की असफलता और उसके कारण

ब्रिटेन और फ्रांस के सहयोग को आमन्त्रित किया परन्तु पश्चिमी यूरोप के ये दोनों ही देश अपने राष्ट्रीय स्वार्थों के आगे कुछ भी न देखने के निश्चय पर दृढ़ता से जमे रहे। इसका परिणाम यह हुआ कि दूसरा महायुद्ध आरंभ हुआ और उसके साथ ही लीग के कंकाल को भी दफ़ना दिया गया। लीग की अन्त्येष्टि-क्रिया के समय किसी ने उसकी स्मृति में दो बूँद आँसू गिराना भी आवश्यक नहीं समझा। परन्तु उसके अवसान के साथ ही साथ संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्म हुआ और आज फिर दूसरे महायुद्ध से जर्जरित और तीसरे महायुद्ध के भय से संत्रस्त विश्व आशा और विश्वास की दृष्टि से उसकी ओर देख रहा है।

अभ्यास के प्रश्न

१—राष्ट्रसंघ का जन्म किन परिस्थितियों में हुआ?

२—राष्ट्रसंघ के संगठन की विशेषताएँ बताइए और उसके मुख्य दोषों का उल्लेख कीजिए।

३—राष्ट्रसंघ के उद्देश्य क्या थे? इन उद्देश्यों की प्राप्ति में उसे कहाँ तक सफलता मिली?

४—राष्ट्रसंघ की प्रमुख संस्थाओं और उनके कार्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

५—राष्ट्रसंघ की असफलता के कारणों पर प्रकाश डालिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Howard Ellis, C.: The Origin, Structure and Working of the League of Nations.
2. Marburgh Theodore: Development of the League of Nations Idea.
3. Eagleton, Clyde: International Government.

अध्याय ३४

संयुक्त राष्ट्रसंघ (U.N.O.) की स्थापना

विषय-प्रवेश

युद्ध में मित्र-राष्ट्रों को सहयोग की भावना से काम करना पड़ता है। प्रायः यह देखा जाता है कि युद्ध के दिनों में एक पक्ष के राष्ट्रों में जितना निकट का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है शान्ति के दिनों में वैसा नहीं हो पाता। दूसरे महायुद्ध में भी धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध जिन राष्ट्रों ने अपना एक संगठन बना लिया था वे इसी निकटतम सहयोग की भावना में काम करते रहे थे। इस कारण यह स्वाभाविक था कि युद्ध के बाद सहयोग की इस भावना को स्थायी रूप देने का प्रयत्न किया जाता। युद्ध से उत्पन्न होनेवाली समस्याओं को सुलझाने, पराजित राष्ट्रों के साथ की जानेवाली संधियों को क्रियात्मक रूप देने और पराजित देशों में से कोई देश अथवा उनका कोई संगठन भविष्य में मित्र-राष्ट्रों के लिए खतरा न बन सके, इसका प्रबन्ध करने के लिए एक स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता थी। इसके साथ ही सभी देशों में यह भी अनुभव किया जा रहा था कि एक विश्व-व्यापी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन, लीग ऑफ नेशन्स के एक परिवर्धित और अधिक परिपक्व स्वरूप की स्थापना भी आवश्यक है। इस प्रकार एक ओर तो मित्र-राष्ट्रों को अपना एक स्थायी संगठन बना लेने की जरूरत थी और दूसरी ओर विश्व-शान्ति की रक्षा और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को निपटाने के लिए एक विश्व-व्यापी संस्था का निर्माण भी आवश्यक था। मित्र-राष्ट्रों ने इस विश्वास के आधार पर कि वे संसार भर का प्रतिनिधित्व करते हैं, अपने युद्ध-कालीन संगठन को ही एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का रूप देने का निश्चय किया। संयुक्त राष्ट्रों ने ही इस प्रकार अपने को संयुक्त राष्ट्रसंघ के रूप में संगठित किया।

महायुद्ध में विजय प्राप्त कर लेने पर मित्र-राष्ट्र किस प्रकार की दुनिया का निर्माण करेंगे इसके सम्बन्ध में प्रेजीडेंट रूजवेल्ट ने ७ जनवरी १९४१ को अपने विचार प्रगट किए। उन्होंने कहा, "हम एक ऐसी दुनिया का निर्माण करना चाहते हैं जिसका आरंभिक प्रयत्न आधार चार आवश्यक मानवी स्वतन्त्रताओं पर हो।"
उन्होंने अपने इस वक्तव्य में चार स्वतंत्रताओं पर जोर दिया—(१) वाणी और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता, (२) प्रत्येक व्यक्ति को अपने ढंग से ईश्वर की उपासना करने की स्वतंत्रता, (३) आर्थिक अभाव और निर्धनता से स्वतत्रता और (४) भय से स्वतंत्रता। इन विचारों को, एटलांटिक महासागर के मध्य में रूजवेल्ट और चर्चिल की आपसी बातचीत के बाद, अगस्त १९४१ में प्रकाशित किए जानेवाले प्रसिद्ध एटलांटिक घोषणा-पत्र में और भी विस्तार के साथ रखा गया। इस घोषणा में कहा गया कि मित्र-राष्ट्र किसी व्यक्तिगत लाभ अथवा साम्राज्य-विस्तार की आकांक्षा से युद्ध का संचालन नहीं कर रहे थे, उनके इस विश्वास को अभिव्यक्त किया गया कि सभी देशों की जनता को अपने ढंग की सरकार चुनने का पूरा अधिकार है और उनके द्वारा इस निश्चय को दोहराया गया कि वे संसार में एक ऐसी व्यवस्था ले आना चाहते हैं जिसमें मनुष्य-मात्र को आर्थिक अभाव और भय से मुक्त रखा जा सके और जिसमे राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों का आधार आर्थिक सहयोग और मुक्त व्यापार के सिद्धांतों पर हो। १ जनवरी १९४२ को संयुक्त राष्ट्रों द्वारा एक घोषणा प्रकाशित की गई जिसमें संपूर्ण विजय की इसलिए माँग की गई थी कि मानवी अधिकारों और न्याय को सुरक्षित रखा जा सके और साथ ही धुरी राष्ट्रों को यह आश्वासन दिया गया कि यद्यपि संपूर्ण आत्म-समर्पण से कम किसी भी शर्त पर उनसे संधि नहीं की जाएगी परन्तु युद्ध समाप्त हो जाने के बाद उनके विरुद्ध प्रतिशोध की कोई भावना भी काम में नहीं ली जाएगी। अक्तूबर १९४३ में मॉस्को में रूस, ब्रिटेन और अमरीका के विदेश-मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें युद्ध समाप्त करने की शर्तों की घोषणा के साथ एक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण के सम्बन्ध में भी विचार प्रकट किए गए। नवम्बर १९४३ में रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन ने तेहरान में आपस में बातचीत की। बाद में इसी प्रकार की बातचीत फरवरी १९४५ में याल्टा में और जुलाई १९४५

में पौट्सडम में हुई। इस बीच, अधिकांश विपक्षी राष्ट्रों ने, जिनमें जर्मनी भी था, आत्म-समर्पण कर दिया था और उनके साथ बातचीत के लिए विदेश-मंत्रियों के सम्मेलन होने लगे थे। सितम्बर १९४५ में लंदन में विदेश-मंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया। दिसम्बर १९४५ में मॉस्को में और अप्रैल १९४६ में पेरिस में। उनके तैयार किए गए पाँच संधियों के मसविदे जुलाई से अक्तूबर तक होनेवाले युद्ध में प्रमुख भाग लेनेवाले राष्ट्रों के एक सम्मेलन में रखे गए। पर मित्र-राष्ट्र ज्यों-ज्यों समझौतों की शर्तों की गहराई में घुसते गए उनके आपसी मतभेद अधिकाधिक तीव्र होते गए।

इस दृष्टि से यह अच्छा ही हुआ कि एक विश्वव्यापी संस्था के निर्माण-कार्य को इन मतभेदों से अलग रखा गया। पहले महायुद्ध के बाद की जानेवाली सन्धियों में लीग ऑफ नेशन्स के उद्देश्यों को भी समाविष्ट कर लिया गया था, परन्तु इस बार विजयी और पराजित राष्ट्रों के बीच की जानेवाली सन्धियों के प्रश्न को अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन के प्रश्न से अलग रखा गया। सन्धियों का काम पाँच बड़े विजयी राष्ट्रों के हाथ में सौंप दिया गया। सन्धियों के तैयार करने का काम निःसन्देह एक बड़े झगड़े का काम था और संयुक्त राष्ट्रसंघ को अपने को उस झगड़े से मुक्त रखने में एक बड़ा लाभ यह था कि उसे युद्ध में भाग लेनेवाले अनेक राष्ट्रों के आपसी सम्बन्धों और संघर्षों, वैमनस्य और विद्वेषों से दूर, और ऊपर रखा जा सका। बड़े राष्ट्रों के विदेश-मन्त्री जब सन्धियों की शर्तों में उलझे हुए थे तब भी अन्तर्राष्ट्रीय सङ्गठन के निर्माण का काम बड़ी तेजी के साथ चल रहा था। १९४४ के २१ अगस्त से ७ अक्टूबर तक अमरीका के वाशिंगटन राज्य में डम्बार्टन ओक्स नाम के स्थान पर चार बड़े राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में रूस, ब्रिटेन, अमरीका और चीन, ये चार बड़े राष्ट्र सम्मिलित हुए थे। सभी अपनी-अपनी योजनाएँ लाए थे, जिन पर सम्मेलन में विचार किया गया और उस विचार-विनियम के बाद उन सिद्धान्तों की एक रूप-रेखा तैयार की गई जिनके अनुसार प्रस्तावित अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को काम करना था। डम्बार्टन ओक्स में स्वीकार किए गए प्रस्तावों का काफी प्रचार हुआ। संसार के प्रत्येक देश में गहराई के साथ उनका अध्ययन

निर्माण का इतिहास

किया गया और समाचार-पत्रों में उन पर काफी आलोचना-प्रत्यालोचना हुई। २५ अप्रैल १९४५ को इन प्रस्तावों को कार्यरूप मे परिणत करने के उद्देश्य में, सेनफ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्रों का एक बड़ा सम्मेलन बुलाया गया। इस सम्मेलन में ५० राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व करनेवाले २८२ सदस्य सम्मिलित हुए, और दो महीने के अनवरत परिश्रम के बाद उन्होंने प्रस्तावित संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों का एक घोषणा-पत्र तैयार किया। २६ जून को इन राष्ट्रों ने घोषणा-पत्र पर अपने हस्ताक्षर किए, और इस प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ की नींव पड़ी। प्रेसीडेन्ट ट्रूमैन ने सम्मेलन के अन्तिम अधिवेशन में कहा—"संयुक्त राष्ट्रसंघ का घोषणा-पत्र जिस पर आपने अभी हस्ताक्षर किए हैं एक ऐसा सशक्त आधार है जिस पर हम एक सुन्दर विश्व का निर्माण कर सकेंगे।" १० जनवरी १९४६ को संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा की पहली बैठक लन्दन के प्रसिद्ध वेस्ट-मिनिस्टर हॉल में हुई।

संयुक्त राष्ट्रसंघ : कुछ विशेष बातें

संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध मे पहली बात जो हमें ध्यान में रखना चाहिए वह यह है कि लीग ऑफ नेशन्स के समान ही, उसका प्रादुर्भाव भी युद्ध के बीचोबीच और युद्ध की आशंका में हुआ, और विजयी पक्ष के द्वारा उसकी नींव डाली गई। सेनफ्रांसिस्को के सम्मेलन में उन्हीं देशों को निमंत्रण दिया गया था जिन्होंने संयुक्त राष्ट्र की जनवरी १९४१ की घोषणा पर दस्तखत किए थे। न तो हारनेवाले देश उसमें निमंत्रित थे, और न वे देश जिन्होंने युद्ध में कोई सक्रिय भाग नहीं लिया था। जो देश युद्ध में हरा दिए गए थे वे फिर उभर न सकें और विजयी राष्ट्रों के लिए खतरा न बन जाएँ, एक प्रकार से, इसी उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए इस संगठन की नींव डाली गई थी। परंतु, जहाँ तक पराजित राष्ट्रों पर नियंत्रण रखने का काम था उसका सीधा उत्तरदायित्व संयुक्त राष्ट्रसंघ पर नहीं परंतु पाँच बड़े राष्ट्रों पर था। यहाँ तक तो ठीक था, पर इस प्रकार का उत्तरदायित्व उन्हे सौंप देने के बाद संयुक्त राष्ट्रसंघ को अपनी सारी शक्तियाँ युद्ध के मूलभूत कारणों को, जिनका उद्गम आर्थिक विषमताओं और सामाजिक असमानता में हैं, दूर करने, समानता और न्याय के आधार पर एक नए विश्व का निर्माण करने में लगा देनी चाहिएं थीं। उसके लिए यह आवश्यक था कि सभी राष्ट्रों को इस प्रयत्न में समान

अवसर दिया जाता। पर संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी उन्हीं पाँच बड़े राष्ट्रों का प्राधान्य रखा गया जिन्होंने युद्ध में विजय प्राप्त करने में प्रमुख भाग लिया था। सुरक्षा-परिषद् में उन्हें स्थायी स्थान दिया गया, और उनमें से प्रत्येक को अपने निषेधाधिकार के द्वारा बड़े से बड़े निर्णयों को रद्द करने की शक्ति दी गई। उनकी स्वीकृति के बिना किसी नए देश को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य नहीं बनाया जा सकता था। महामंत्री के चुनाव और घोषणा-पत्र के संशोधन में भी उन्हीं का निर्णय अन्तिम है। किन बड़े राष्ट्रों को यह प्रभावपूर्ण पद प्राप्त हो सकता था, इसका कोई आधार नहीं रखा गया था। घोषणा-पत्र में पाँच बड़े राष्ट्रों के नाम गिना दिए गए थे और सदा के लिए उन्हें गौरव के इस ऊँचे शिखर पर बिठा दिया गया था, जहाँ से बिना स्वयं उनकी स्वीकृति के, उन्हें हटाया नहीं जा सकता था।

पक्ष और विपक्ष के मत

इस व्यवस्था के पक्ष में यह कहा जाता है कि इसका आधार ठोस यथार्थवाद पर रखा गया था। वस्तुस्थिति यह थी कि यदि ये राष्ट्र मिलकर कुछ करना चाहें तो वे सब कुछ कर सकते थे—इतनी शक्ति उनके पास थी—पर यदि उनमें से कोई किसी बात के लिए तैयार न हो तो उस पर कोई दबाव नहीं डाला जा सकता था। उस पर दबाव डालने का अर्थ होता एक दूसरे महायुद्ध को निमन्त्रण देना और यह निश्चित था कि इस प्रकार के महायुद्ध को रोकने अथवा उसका मुकाबिला करने में संयुक्त राष्ट्रसंघ सर्वथा अक्षम और असमर्थ था। यह कहा जाता है कि एक ऐसे राजनीतिक वातावरण में जब कोई भी बड़ा राष्ट्र अपनी प्रभुसत्ता का तनिक-सा भी प्रतिक्रमण सहने के लिए तैयार नहीं है, संयुक्त राष्ट्रसंघ से अधिक से अधिक यही आशा की जा सकती थी कि वह पराजित देशों को सिर न उठाने दे अथवा छोटे-मोटे आक्रान्ताओं को कुचल सके। विश्व-शान्ति को आज यदि खतरा हो सकता है तो दूसरे महायुद्ध के इन पराजित संत्रस्त और सभीत राष्ट्रों अथवा छोटे-मोटे राष्ट्रों से नहीं किसी बड़े राष्ट्र से ही हो सकता है, पर वैसे संकट का सामना करने के लिए कोई व्यवस्था संयुक्त राष्ट्रसंघ के पास नहीं है। किसी बड़े राष्ट्र के विरुद्ध वह कोई कदम नहीं उठा सकता। इस प्रकार की परिस्थिति का अनिवार्य परिणाम यह हुआ है कि छोटे-छोटे राष्ट्रों ने

किसी न किसी बड़े राष्ट्र और विशेषकर दो सब से बड़े राष्ट्रों में से एक के, पीछे चलना ही अपने लिए श्रेयस्कार समझा है, और संयुक्त राष्ट्रसंघ के दो गुटों मे बँट जाने का एक बड़ा कारण यह भी रहा है।

लीग ऑफ नेशन्स से तुलना

लीग ऑफ नेशन्स के समान ही संयुक्त राष्ट्रसंघ में भी इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि सदस्य-राज्यों की प्रभु-सत्ता पर किसी प्रकार की आँच न आने पाए। घोषणा-पत्र और संविधान की बहुत सी धाराओं में इस तथ्य को बार-बार दोहराया गया है। कानून बनाने का कोई अधिकार संयुक्त राष्ट्रसंघ की किसी भी संस्था को नहीं है और किसी सदस्य पर, अपनी सहमति के बिना, संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी भी नियम को मानने की बाध्यता नहीं है। यहाँ एक यह बात हमें ध्यान मे रखना है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ का आधार राजनैतिक है। उसे एक कानूनी व्यवस्था मानना उचित नहीं होगा। प्रारम्भिक प्रस्तावों में तो अन्तर्राष्ट्रीय कानून नाम का कोई शब्द था ही नहीं। बाद में इस शब्द का प्रयोग किया गया परन्तु इसकी उपयोगिता केवल आपसी झगड़ों को निपटाने के लिए मानी गई। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णयों को मानने के लिए भी कोई सदस्य बाधित नहीं है, जब तक वह स्वयं ही उसके लिए तैयार न हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि लीग ऑफ नेशन्स के समान, संयुक्त राष्ट्रसंघ के काम का आधार भी सदस्यों की सहयोग की इच्छा और क्षमता पर निर्भर है, यह बात केवल अन्य क्षेत्रों में ही नहीं सुरक्षा के क्षेत्र में भी उतनी ही सच है। सुरक्षा के सम्बन्ध में पाँच बड़े राष्ट्रों की सहमति के बिना कोई कदम नहीं उठाया जा सकता। इसका परिणाम यह हुआ है कि लीग ऑफ नेशन्स के समान ही संयुक्त राष्ट्रसंघ से भी आर्थिक सहयोग और सामाजिक सुधार के क्षेत्रों मे बड़े और उपयोगी कामों की अपेक्षा की जा सकती है परन्तु राजनीति के क्षेत्र में, जहाँ बड़े राष्ट्रों का सहयोग कम ही संभव हो सकता है, वह किसी बड़ी सफलता के प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ रहेगी।

संयुक्त राष्ट्रसंघ को इसके लिए तो बधाई दी ही जानी चाहिए कि अमरीका और रूस जैसे दो सबसे बड़े राज्यों को, जो लीग ऑफ नेशन्स

में शामिल नहीं थे वह अपने साथ रख सका। यह ठीक है कि उनमें आपस में बहुत गहरा मतभेद रहता है, पर यह अच्छा है कि वह मतभेद संयुक्त राष्ट्रसंघ की बैठकों में ही जोर पकड़ता है उसके बाहर किसी बड़े संघर्ष का रूप वह अभी तक नहीं ले सका है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के पक्ष में दूसरी बात यह कही जा सकती है कि उसमें लीग ऑफ नेशन्स के समान, निषेधाधिकार प्रत्येक सदस्य को नहीं दे दिया गया है, केवल पाँच बड़े राष्ट्रों को दिया गया है और वह भी विशेषकर सुरक्षा के क्षेत्र में। तीसरी बात उसके सम्बन्ध में यह कही जा सकती है कि आक्रमणकारी के विरुद्ध, बशर्ते कि वह पाँच बड़े राष्ट्रों में से न हो, शस्त्र का प्रयोग करने की व्यवस्था उसके पास है, चाहे वह कितनी सीमित क्यों न हो, आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में तो, लीग की तुलना में, जहाँ अवरोध उत्पन्न करने के कहीं बड़े साधन उसके पास हैं, उसकी विशेष संस्थाओं में पिछड़े हुए देशों की स्थिति को सुधारने की कहीं अधिक क्षमता भी वह रखता है। इन सब सुधारों के होते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि सुरक्षा और विश्व-शान्ति की दृष्टि से संयुक्त राष्ट्रसंघ को एक पूर्ण और शक्तिशाली संस्था नहीं माना जा सकता।

उद्देश्य और सिद्धान्त

घोषणा-पत्र की प्रस्तावना और पहली व दूसरी धाराओं में संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य व सिद्धान्त दिए गए हैं। प्रस्तावना का आरंभ इन शब्दों से होता है—"हम संयुक्तराष्ट्रों की जनता निश्चय करती है...।" परन्तु जनता के नाम पर कुछ कहने के दावे का खोखलापन घोषणा-पत्र के निर्माताओं पर बहुत जल्दी स्पष्ट हो जाता है, और इस कारण उसके अंत में "हमारी सरकारें......" आदि शब्दों का ही अधिक प्रयोग होता है। उद्देश्यों के सम्बन्ध में चार बातें कही गई हैं—(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का निर्वाह, (२) राष्ट्रों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्धों का विकास, (३) व्यापक क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की स्थापना और व्यक्तिगत रूप से मनुष्य-मात्र के अधिकारों के लिए प्रयत्न, और (४) इन विभिन्न उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का निर्माण। इन उद्देश्यों का निर्धारण डम्बार्टन ओक्स के प्रस्तावों

में ही किया जा चुका था, पर घोषणा-पत्र में उनकी अधिक स्पष्ट व्याख्या कर दी गई। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया गया कि वे "शांतिपूर्ण उपायों और न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धान्तों के अनुसार" सुलझाए जाएँगे। राष्ट्रों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्धों के विकास के साथ यह जोड़ दिया गया कि उनका आधार "जनता के समान अधिकारों और आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के प्रति आदर की भावना" पर होगा। मानवी अधिकारों और मूलभूत स्वतंत्रताओं के विकास और प्रोत्साहन के सम्बन्ध में "जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के बिना" शब्द जोड़ दिए गए। इसके साथ ही "समान अनुसत्ता" के सिद्धान्त और सुरक्षा परिषद् के बाहर सभी राष्ट्रों के कानूनी और मतदान सम्बन्धी अधिकारों की समानता पर जोर दिया गया। सदस्यों को अपने कर्त्तव्यों को निबाहने की प्रार्थना की गई। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के निपटारे के सम्बन्ध में यह कहा गया कि यह काम केवल शान्तिपूर्ण रूप में ही नहीं, परन्तु इस ढंग से किया जाएगा कि उसमें तटस्थ राष्ट्रों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देशों के विपरीत शक्ति के प्रयोग को बुरा बताया गया और उन उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए बल-प्रयोग की सभी देशों से अपेक्षा की गई। शान्ति और सुरक्षा के निर्वाह के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ को इस बात का अधिकार दिया गया कि वह गैर सदस्यों के लिए भी निर्णय कर सकेगा, और गैर-सदस्यों को अपने आपसी झगड़ों को निपटाने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ की सेवाओं का उपयोग करने का आवाहन किया गया। इसके साथ ही, सिद्धान्तों की सूची में ही यह भी जोड़ दिया गया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी राष्ट्र के 'घरेलू' मामलों में हस्तक्षेप नहीं कर सकेगा। इस धारा का प्रभाव संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यक्षेत्र पर बहुत बुरा पड़ा। लीग ऑफ नेशन्स की कौंसिल को यह अधिकार था कि वह, अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से, यह निर्णय करे कि कौन सा मामला 'घरेलू' विशेषण की परिधि में लाया जा सकता है। परन्तु संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा-पत्र में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ है कि प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार मिल गया है कि वह स्वयं यह निर्णय कर ले कि वह किन मामलों को 'घरेलू' समझता है और किन्हें अन्तर्राष्ट्रीय। स्पेन के तानाशाही शासन और

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ किए जानेवाले दुर्व्यवहार को दूर करने में संयुक्त राष्ट्रसंघ सर्वथा असमर्थ रहा है।

सदस्यता

संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्यता दो प्रकार की है। जो राष्ट्र सेन-फ्रांसिस्को के सम्मेलन में शामिल हुए थे अथवा जिन्होंने संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्राथमिक घोषणा पर हस्ताक्षर किए थे और अब नए घोषणा-पत्र को अपनी स्वीकृति दे दी थी वे 'मौलिक सदस्य' कहलाते हैं। इनमें ५१ राष्ट्रों की गिनती की जाती है। किसी भी अन्य 'शान्तिप्रिय' राज्य को सदस्य बनाया जा सकता है, यदि उसमें सदस्यता के कर्त्तव्यों को निवाहने की 'सामर्थ्य और इच्छा' है। नए सदस्यों को सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश और महासभा की सहमति से ही लिया जा सकता है। सुरक्षा-परिषद् में कोई भी बड़ा राष्ट्र अपने निषेधाधिकार के प्रयोग से किसी भी नए सदस्य के प्रवेश को रोक सकता है, और महासभा में दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता है। किसी भी सदस्य को उसकी सदस्यता से तो पृथक् नहीं किया जा सकता परन्तु 'सदस्यता के अधिकारों और सुविधाओं के उपयोग' से वंचित किया जा सकता है। इस प्रकार का निर्णय, पाँच बड़े राष्ट्रों की सहमति से, सुरक्षा-परिषद् द्वारा ही दिया जा सकता है, और उसके लिए महासभा के दो-तिहाई बहुमत के समर्थन की आवश्यकता है। परन्तु, उस सदस्य को इन सुविधाओं के लौटाने का पूरा अधिकार सुरक्षा-परिषद् को है। किसी भी सदस्य को संयुक्त राष्ट्रसंघ से 'निकाला' भी जा सकता है, परन्तु यह सजा केवल उन्हीं राष्ट्रों के लिए है जो 'घोषणा-पत्र में दिए हुए सिद्धान्तों की लगातार अवहेलना' करते रहे हों। सदस्यों को 'त्यागपत्र' देने का अधिकार है या नहीं, इसके संबंध में घोषणा-पत्र कुछ नहीं कहता, पर यह स्पष्ट है कि जब संयुक्त राष्ट्रसंघ किसी सदस्य को अपने निर्णय को मानने के लिए विवश नहीं कर सकता तो वह उसकी सदस्यता छोड़ भी सकता है, संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी भी सदस्य ने अभी तक अपनी सदस्यता से त्यागपत्र नहीं दिया है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का अपना कानूनी अस्तित्व है। उसे समझौते करने और अपनी जायदाद के संबंध में वे सब अधिकार तो प्राप्त हैं ही जो किसी भी देश के कानून में प्रत्येक कानूनी व्यक्तित्व को प्राप्त होते हैं,

कानूनी स्वरूप, केन्द्रीय कार्यालय, आर्थिक प्रबन्ध और संशोधन-सम्बन्धी नियम

अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से भी उसके व्यक्तित्व को मान लिया गया है। कुछ मामलों में उसे विभिन्न देशों से संधियाँ अथवा समझौते करने का अधिकार भी दिया गया है। उसकी 'विशेष संस्थाओं' को भी, महासभा की स्वीकृति से, इस प्रकार के समझौते करने का अधिकार है। सदस्य-देशों की भौगोलिक सीमाओं में संयुक्त राष्ट्रसंघ को वे सब सुविधाएँ और अधिकार प्राप्त हैं जो उसके उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए आवश्यक हैं। सदस्यों के प्रतिनिधि और संयुक्त राष्ट्र के अधिकारी इन सुविधाओं का उपयोग कर सकते हैं, यदि वे संयुक्त राष्ट्र के किसी काम से किसी देश में जाएँ। संयुक्त राष्ट्रसंघ का केन्द्रीय कार्यालय न्यूयॉर्क में रखा गया है, जहाँ उसके लिए एक बहुत बड़े भवन का निर्माण किया गया है। आर्थिक प्रबंध पूरी तौर से महासभा के हाथ में है। संयुक्त राष्ट्र का खर्चा उसके सब सदस्य मिलकर उठाते हैं, किस सदस्य से कितना रुपया लिया जाए, इसका निर्णय महासभा, अपनी एक विशेष समिति की राय से, करती है। बजट उसके द्वारा ही पास किया जाता है। संविधान में संशोधन भी महासभा के द्वारा ही किया जा सकता है, परन्तु उसके लिए सभी सदस्यों के दो-तिहाई मतों की आवश्यकता है और इन दो-तिहाई मतों में पाँचों बड़े राष्ट्रों का मत होना अनिवार्य माना गया है। संशोधन के क्षेत्र में भी पाँच बड़े राष्ट्रों को निषेधाधिकार देने का काफी विरोध हुआ। जान पड़ता है कि इस विरोध को संतुष्ट करने के लिए संशोधन के नियमों में एक यह धारा जोड़ दी गई है कि यदि महासभा के दो-तिहाई सदस्य, जिनमें सुरक्षा-परिषद् के कोई सात सदस्य सम्मिलित हों, चाहे तो संविधान में आवश्यक परिवर्त्तन के लिए एक सभा बुलाई जा सकती है, और यदि महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन तक इस प्रकार की सभा न बुलाई जाए तो वह अधिवेशन साधारण बहुमत, और सुरक्षा परिषद् के सात सदस्यों की सहमति से इस प्रकार की सभा बुलाने का निश्चय कर सकता है। परन्तु इस सभा के द्वारा स्वीकृत किए गए प्रस्ताव भी कार्यान्वित तो तभी किए जा सकेंगे जब उन्हें पाँचों बड़े राष्ट्रों की भी स्वीकृति मिल जाए। संविधान में किसी भी प्रकार के संशोधन में उनके निषेधाधिकार को इस प्रकार सर्वथा सुरक्षित रखा गया है।

अभ्यास के प्रश्न

१—संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की आवश्यकता क्यों पड़ी ?

२—संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्माण के लिए किए जानेवाले कुछ आरंभिक प्रयत्नों का उल्लेख कीजिए।

३—संयुक्त राष्ट्रसंघ और लीग आॅफ नेशन्स की तुलना कीजिए।

४—संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों और सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।

५—संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्बन्ध में निम्न बातें समझाइए—
(अ) सदस्यता के नियम, (आ) आर्थिक प्रबन्ध, (इ) संविधान में संशोधन के नियम।

६—संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान में 'बड़े राष्ट्रों' को क्या विशेष सुविधाएँ और अधिकार दिए गए हैं ?

विशेष अध्ययन के लिए

1. Bentwich, N.: From Geneva to San Francisco.
2. Bentwich and Martin : A Commentary on the Charter of the United Nations.
3. Dotniet Louis : The United Nations.

अध्याय ३५

संस्थाएँ और उनके कार्य

प्रमुख संस्थाएँ

महासभा (General Assembly), सुरक्षा-परिषद् (Security Council), आर्थिक और सामाजिक-परिषद् (Economic and Social Council), संरक्षण-परिषद् (Trusteeship Council) अन्तर्राष्ट्रीय-न्यायालय (International Court) और सचिवालय (Secretariat)—ये संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रमुख संस्थाएँ हैं। महासभा और सचिवालय, ये दोनों संस्थाएँ तो लीग ऑफ नेशन्स में भी थीं परन्तु उसके साथ एक ही परिषद् थी। जो लीग कौंसिल कहलाती थी। संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए तीन परिषदों की व्यवस्था की गई है। अन्तर्राष्ट्रीय-न्यायालय को अब संयुक्त राष्ट्रसंघ का ही एक अङ्ग बना दिया गया है। इसके विपरीत, अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर सङ्गठन (International Labour Organisation) जो पहले लीग ऑफ नेशन्स का एक अंग माना जाता था अब विशिष्ट संस्थाओं (Specialized Agencies) की सूची में रखा गया है। संयुक्त राष्ट्र-के कार्य के विस्तार के साथ विशिष्ट संस्थाओं की संख्या में, भविष्य में भी वृद्धि की जा सकेगी।

महासभा (General Assembly) सङ्गठन व अधिकार

सुरक्षा-परिषद् के एक बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था होते हुए भी यह एक निर्विवाद तथ्य है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की केन्द्रीय संस्था महासभा (General Assembly) को ही मानना चाहिए। यह वह एकमात्र संस्था है जिसमें संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य सम्मिलित हैं। अन्य परिषदें, न्यायालय, विशिष्ट संस्थाएँ, सब किसी न किसी रूप में महासभा से संबद्ध हैं। संयुक्त राष्ट्र का कोई भी उद्देश्य महासभा की कार्य-परिधि के बाहर नहीं है, यहाँ तक कि सुरक्षा का मुख्य दायित्व सुरक्षा-परिषद् पर होते हुए भी महासभा को

इस संबंध में बहुत कुछ करने की स्वाधीनता है। सुरक्षा के अतिरिक्त और सब कार्यों का निरीक्षण और नियंत्रण अन्तिम रूप में महासभा के अधिकार में है। सब संस्थाएँ उसके प्रति उत्तरदायी हैं, और उनके बीच कार्य का बँटवारा भी महासभा ही करती है। संयुक्त राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य महासभा का सदस्य है, और प्रत्येक को एक मत देने का अधिकार है, यद्यपि प्रत्येक अपने पाँच प्रतिनिधि महासभा के अधिवेशन में भेज सकता है और आवश्यकता के अनुसार उनमें हेर-फेर भी कर सकता है। महासभा को प्रत्येक वर्ष एक अधिवेशन करना पड़ता है और नियम के अनुसार, इस अधिवेशन का आरंभ सितंबर के तीसरे मंगलवार को होता है। आवश्यकता पड़ने पर सुरक्षा-परिषद् की प्रेरणा से अथवा सदस्यों के बहुमत से विशेष अधिवेशन भी बुलाये जा सकते हैं। महासभा के अधिवेशन, लीग असेम्बली की तुलना में, काफी लम्बे अर्से तक चलते हैं, क्योंकि उसका कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत बड़ा है।

महासभा प्रत्येक अधिवेशन के लिए एक अध्यक्ष और सात उपाध्यक्ष चुनती है। महासभा के काम को सुचारु रूप से चलाने के लिए कई समितियों का निर्माण किया जाता है। इनमें छः समितियाँ मुख्य हैं—(१) राजनीतिक और सुरक्षा-समिति (२) आर्थिक और वित्तीय समिति, (३) सामाजिक, मानवी और सांस्कृतिक प्रश्नों से संबंधवाली समिति, (४) संरक्षण-समिति, (५) शासन और बजट संबंधी समिति और (६) कानून समिति। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य स्थायी समितियाँ भी हैं जिनका काम विविध समस्याओं आदि के संबंध में सलाह देना है और एक बड़ी समिति है जो इन समितियों के काम में तालमेल बनाये रखती है। प्रमुख समितियों में संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य-देशों को अपना एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। जब कोई बड़ा प्रश्न महासभा के सामने प्रस्तुत किया जाता है तो वह इनमें से किसी एक समिति को सौंप दिया जाता है। समिति उस पर गहराई से मनन करती है और अपनी सम्मति महासभा के सामने रखती है। इन समितियों में सभी देशों का प्रतिनिधित्व होने के कारण प्रायः ऐसा होता है कि समिति जो निर्णय देती है वह महासभा के द्वारा भी मान्य होता है। महासभा की कार्यवाही के लिए पाँच भाषाओं को स्वीकार किया गया है—अंग्रेजी,

फ्रेंच, रूसी, स्पेनिश और चीनी। प्रत्येक भाषण का इन सभी भाषाओं में तात्कालिक अनुवाद कर दिया जाता है और जो व्यक्ति जिस भाषा में उसे सुनना चाहे सुन सकता है। लीग की तुलना में संयुक्त राष्ट्र ने एक जो बड़ी प्रगति की वह यह है कि महासभा के निर्णयों के लिए यह आवश्यक नहीं माना गया है कि उनमें सभी सदस्य एक मत हों। जो सदस्य उपस्थित हों और अपना मत देने के लिए तैयार हों उनके बहुमत से कोई भी प्रश्न तय किया जा सकता है। कुछ विशेष प्रश्न अवश्य ऐसे हैं जिनमें दो-तिहाई बहुमत को आवश्यक माना गया है और यदि संविधान में संशोधन करना हो तो केवल उपस्थित सदस्यों का बहुमत ही नहीं महासभा के सब सदस्यों का दो-तिहाई मत आवश्यक माना गया है। प्रत्येक सदस्य को एक मत दिए जाने का अर्थ यह है कि इजरायल और लिबेरिया जैसे छोटे देशों को भी महासभा में उतना ही अधिकार प्राप्त है जितना रूस अथवा अमरीका को, किसी सदस्य को महासभा के निर्णयों में अवरोध उत्पन्न करने का अधिकार नहीं है परन्तु, इसका कोई विशेष प्रभाव इस कारण नहीं पड़ता कि महासभा के किसी निर्णय को, बिना उसकी स्वीकृति के, किसी सदस्य पर लादा नहीं जा सकता। परन्तु इसके साथ ही हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि अपने निर्णयों को किसी भी सदस्य से उसकी स्वीकृति के बिना मनवाना चाहे महासभा के अधिकार के बाहर हो परंतु महासभा यदि किसी प्रश्न पर अपना निर्णय दे देती है तो अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत पर उसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है।

महासभा का कार्य-क्षेत्र

महासभा का कार्यक्षेत्र उतना ही विस्तृत है जितना संयुक्त राष्ट्र का उद्देश्य-पत्र। सुरक्षा के संबंध में कुछ मर्यादाओं को छोड़ कर कोई भी प्रश्न ऐसा नहीं है जिस पर विचार करके वह अपना निर्णय नहीं दे सकती। यह अपने आप में बहुत बड़ा काम है। सुरक्षा-परिषद् और महासभा के बीच कार्यों के विभाजन का प्रयत्न तो किया गया है परन्तु वह बहुत स्पष्ट नहीं है। सुरक्षा-परिषद् को "शान्ति और सुरक्षा के निर्वाह का प्रमुख उत्तरदायित्व" सौंपा गया है परन्तु इस क्षेत्र में भी महासभा बहुत कुछ कर सकती है। वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के निर्वाह की दृष्टि से सहयोग के

व्यापक सिद्धान्तों की चर्चा तो कर ही सकती है, विशिष्ट प्रश्नों, जैसे संघर्षों आदि के निपटारे के संबंध में भी विचार-विमर्श कर सकती है। "कोई भी प्रश्न" किसी भी राज्य के द्वारा, वह चाहे सदस्य हो या न हो, अथवा सुरक्षा परिषद् के द्वारा महासभा के सामने लाया जा सकता है, और महासभा उसके संबंध में सिफारिश कर सकती है। इस संबंध में केवल एक मर्यादा यह लगा दी गई है कि वह ऐसे प्रश्न पर तभी चर्चा कर सकती है जब वह सुरक्षा-परिषद् के कार्यक्रम में न हो। इस संबध में दूसरी बात हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि ऐसे प्रश्नों पर चर्चा और सिफारिश तो महासभा कर सकती है पर उसके संबंध में कोई कार्यवाही सुरक्षापरिषद् ही कर सकती है, यद्यपि उस स्थिति में भी कार्यवाही के संबंध में अपनी सिफारिश तो वह दे ही सकती है।

शान्ति और सुरक्षा के निर्वाह को छोड़कर कुछ विशेष काम महासभा को सौंपे गए हैं। राजनीतिक क्षेत्र में सहयोग की भावना को बढ़ाने के लिए सभी संभव साधनों का अध्ययन करते रहना और अपने सुझाव प्रस्तुत करना, अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षणिक और स्वास्थ्य-संबंधी योजनाएँ बनाना, जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेदभाव के बिना मानवी अधिकारों और बुनियादी स्वतंत्रताओं को सबको उपलब्ध कराने का प्रयत्न करना—ये सब काम भी महासभा को सौंपे गए हैं। इन सबका संबंध अध्ययन और योजना-निर्माण से है। इनके अतिरिक्त चुनाव, शासन, और निरीक्षण के अधिकार भी महासभा को हैं। वह सुरक्षापरिषद् की सिफारिश पर नए सदस्यों को प्रवेश की अनुमति दे सकती है। और पुराने सदस्यों को स्थगित अथवा निष्कासित कर सकती है। इसके अतिरिक्त महामंत्री की नियुक्ति की स्वीकृति भी वही देती है। तीनों प्रमुख परिषदों के चुने जानेवाले सदस्यों का चुनाव भी महासभा ही करती है और, सुरक्षा परिषद् के सहयोग में, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालयों के सदस्यों के चुनाव में भाग लेती है। सब परिषदों और विशेष समितियों और संस्थाओं को अपने काम की रिपोर्ट महासभा को देनी पड़ती है और उसे उनके काम की आलोचना करने और उनके कार्यक्षेत्रों पर नियंत्रण रखने का पूरा अधिकार है। उनके द्वारा किए जानेवाले समझौतों के लिए भी महासभा की स्वीकृति आवश्यक है। संयुक्त राष्ट्र संघ के

सम्पूर्ण बजट पर महासभा का अधिकार है। इन सब बातों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि महासभा संयुक्तराष्ट्र संघ की सबसे अधिक प्रतिष्ठित और महत्त्वपूर्ण संस्था है।

प्रतिष्ठा और महत्त्व की दृष्टि से महासभा को चाहे जितना भी आदर क्यों न प्राप्त हो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सर्वोच्च सत्ता के अन्तिम सूत्र सुरक्षा-परिषद् (Security council) के हाथ में है। सुरक्षा-परिषद् में ग्यारह राज्यों के प्रतिनिधि हैं, जिनमें रूस, चीन, ब्रिटेन, अमरीका और फ्रांस तो स्थायी सदस्य हैं और शेष ६ अस्थायी सदस्यों का चुनाव महासभा के द्वारा दो तिहाई मत के आधार पर किया जाता है। इनमें से तीन सदस्य प्रति वर्ष दो वर्ष के कार्यकाल के लिए चुने जाते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि सुरक्षा-परिषद् मे दो श्रेणियों के सदस्य हैं। पहली श्रेणी के पाँच सदस्यों के महत्त्व को उनके हाथ में निषेधाधिकार (Veto power) देकर और भी बढ़ा दिया गया है। इस पाँच सदस्यों की नियुक्ति का कोई तर्क-सम्मत आधार नहीं था और यदि यह मान लिया जाए कि संयुक्त राष्ट्र संघ बनने के समय वे विजयी राष्ट्रों में सबसे महान् और शक्तिशाली थे तो भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि राजनीति की शक्ति सदा बदलती रहती है और इस परिवर्त्तन के अनुरूप इन सदस्यों में भी परिवर्त्तन करने की कोई व्यवस्था नहीं रखी गई है।[१]

सुरक्षा परिषद् (Security council)

सुरक्षा-परिषद् के संबंध में यह व्यवस्था की गई है कि उसके अधिवेशन लगातार होते रहें, जिससे किसी भी आवश्यक और महत्त्वपूर्ण समस्या

१—उदाहरण के लिए पिछले आठ वर्षों में जब कि रूस और अमरीका की शक्ति और प्रभाव लगातार बढ़ते गए हैं ब्रिटेन और फ्रांस की प्रतिष्ठा कम होती चली गई है और कुओमिन्तांग चीन का जिसे बड़े राष्ट्रों की गिनती में रखे जाने का गौरव दिया गया था, आज नामोनिशां भी मिट गया है, यद्यपि उसकी गिनती संयुक्त राष्ट्र की दृष्टि से आज भी बड़े राष्ट्रों में की जा रही है और उसके प्रतिनिधि को वही विशेष अधिकार प्राप्त हैं जो रूस और अमरीका को!

के संबंध में वह शीघ्र ही विचार-विनिमय कर सके और अपना निर्णय दे सके। सदस्यों से यह अपेक्षा की गई है कि वे अपने किसी प्रमुख राजनीतिज्ञ, जहाँ तक सम्भव हो अपने विदेश-मन्त्री को, उसकी कार्यवाही में भाग लेने के लिए नियुक्त करें। सुरक्षा-परिषद् को विशेष समितियों को नियुक्त करने का अधिकार भी है। उसके अध्यक्ष का चुनाव विभिन्न सदस्यों में से बारी-बारी से किया जाता है। सुरक्षा-परिषद् में प्रत्येक सदस्य का एक मत होता है। साधारण प्रश्नों का निर्णय किन्हीं सात सदस्यों के मत से किया जाता है परन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के निर्णय के लिए 'विशिष्ट बहुमत' की आवश्यकता होती है। विशिष्ट बहुमत का अर्थ है कि इन सात सदस्यों में पाँचों स्थायी सदस्यों का मत भी होना चाहिए। इसका यह अर्थ हुआ कि स्थायी सदस्यों में से प्रत्येक को किसी भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न से संबंध रखनेवाले निर्णय को, यदि वह उसकी इच्छा और स्वार्थों के प्रतिकूल हुआ, रोक देने का सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त है। यह निषेधाधिकार यदि बड़े और महत्त्वपूर्ण निर्णयों तक ही सीमित रखा जाता तो भी ठीक था। उसके पक्ष में तब यह दलील दी जा सकती थी कि बड़े राष्ट्र इस बात के लिए तैयार नहीं थे कि अनुत्तरदायी छोटे राष्ट्रों के बहुमत से कोई ऐसा महँगा और खतरनाक निर्णय बना लिया जा सके जिसका परिणाम स्वयं उन्हें ही भुगतना पड़ता। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि यह अधिकार केवल सुरक्षा के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। उसका प्रयोग नए सदस्यों के प्रवेश, पुराने सदस्यों के अधिकारों को स्थगित करने अथवा उन्हें संयुक्त राष्ट्र से बहिष्कृत करने, संविधान में संशोधन, न्यायाधीशों के चुनाव, कुछ संरक्षित प्रदेशों के शासन और महामन्त्री के चुनाव में भी किया जाता है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and social Council) की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के विकास में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उसका निर्माण इस बात का द्योतक है कि संयुक्त राष्ट्र के कर्णधार यह अच्छी तरह समझते थे कि विभिन्न राष्ट्रों में मित्रता और सहयोग, एक बड़ी सीमा तक, इस बात पर भी निर्भर रहता है कि सभी देशों की आर्थिक और सामाजिक स्थिति के स्तर को ऊँचा उठाया जाय। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए आर्थिक और सामाजिक परिषद् की स्थापना की गई। इस परिषद् में १८ सदस्य होते हैं, जिनका

चुनाव महासभा के दो-तिहाई बहुमत से होता है। इन सदस्यों में से ६ का चुनाव प्रति वर्ष तीन वर्ष की अवधि के लिए होता है। बड़े और छोटे राज्यों का भेद यहाँ नहीं रखा गया है। सदस्यों के चुनाव पर किसी प्रकार का प्रतिबंध नहीं है। अपनी अवधि समाप्त हो जाने पर वे दुबारा भी चुने जा सकते हैं। परिषद् को अपनी आवश्यकता के अनुसार समितियाँ नियुक्त करने का भी अधिकार है। मानवी अधिकारों के लिए एक समिति नियुक्त करने का अधिकार तो उसे संविधान के द्वारा ही दिया गया था। इन समितियों के सदस्य विभिन्न देशों की सरकारों के द्वारा चुने जाते हैं परंतु उनसे अपेक्षा यह की जाती है कि वे विशेषज्ञों को ही चुनेंगे। प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का ही अधिकार है और निर्णय उपस्थित और मतदान करनेवाले सदस्यों के बहुमत के आधार पर किया जाता है। निषेधाधिकार का कोई प्रश्न यहाँ नहीं उठता और न 'साधारण' और 'विशेष' समस्याओं के बीच कोई भेद किया गया है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and social Council)

सुरक्षा-परिषद् में सदस्य देशों के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त विशिष्ट समितियों (Specialized Agencies) के प्रतिनिधियों को भी बैठने का अधिकार है और विचार-विमर्श के लिए गैर-सरकारी संस्थाओं के प्रतिनिधियों को भी उसमें निमंत्रित किया जा सकता है। अपनी बैठकों की संख्या और तिथियाँ निश्चित करने का पूरा अधिकार आर्थिक और सामाजिक परिषद् को है। अधिकांश सदस्यों की माँग पर कभी भी बैठक बुलाई जा सकती है। परिषद् का मुख्य काम समस्याओं का अध्ययन करना, उन पर रिपोर्ट तैयार करना, अपनी सिफारिशें देना, समझौतों के मसविदे आदि तैयार करना और अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों की व्यवस्था करना है। समझौतों अथवा सन्धियों का महासभा के सामने रखा जाना आवश्यक है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन परिषद् के द्वारा ऐसे ही विषयों के सम्बन्ध में बुलाए जा सकते हैं जिनका सम्बन्ध उसके कार्यक्षेत्र से हो। जहाँ तक परिषद् के कार्यक्षेत्र का सबंध है उससे यह अपेक्षा की गई है कि वह विश्व-शान्ति के लिए प्रयत्न करे, और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए निम्न बातों को प्रोत्साहन दे—(अ) जीवन के स्तर को ऊँचा उठाने, सबको काम दिलाने

की व्यवस्था करने और सामाजिक और आर्थिक प्रगति और विकास के लिए उचित वातावरण का निर्माण करना, (ब) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य-संबंधी और अन्य संबंधित समस्याओं के समाधान और अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक और शैक्षणिक सहयोग के लिए प्रयत्न करना, और (स) जाति, लिंग, भाषा अथवा धर्म के भेद-भाव के विना सबके लिए मानवी अधिकारों और बुनियादी स्वतंत्रताओं की प्राप्ति के प्रति सार्वभौम आदर के भाव की सृष्टि और उन्हें कार्यान्वित कराने का प्रयत्न करना। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए परिषद् जो निर्णय दे उनका पालन करने के लिए सदस्यों पर कोई बाध्यता तो नहीं है परंतु उनसे अपेक्षा की जाती है कि वे उन्हें व्यावहारिक रूप देने का पूरा प्रयत्न करें।

विशिष्ट समितियों से संबंध

इन उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए कुछ विशिष्ट समितियों (Specialized Agencies) का निर्माण किया गया है, जो अपने आपमें स्वतंत्र अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाएँ हैं, जिनका आधार अपनी स्वतंत्र संधियाँ हैं, जिनके अपने अधिकारी हैं और जो अपने विशिष्ट क्षेत्रों में काम करती हैं। ये विशिष्ट समितियाँ, जिनका विवरण आगे दिया जायगा। एक प्रकार से संयुक्त राष्ट्रसंघ से बाहर काम करती हैं, यद्यपि उनके निर्माण के लिए उचित वातावरण तैयार करने का काम परिषद् के द्वारा किया जाता है और परिषद् के साथ किए गए समझौते के द्वारा संयुक्त राष्ट्र से उनका संबंध रहता है। संयुक्त राष्ट्र का उन पर कितना नियंत्रण रहे, यह उन समझौतों पर निर्भर रहता है जो परिषद् उनके साथ करती है। परिषद् इन विशिष्ट समितियों को समय-समय पर सलाह और प्रेरणा भी देती रहती है। इन विशिष्ट समितियों के अतिरिक्त परिषद् अनेक प्रकार के कमीशन, स्थायी समितियाँ, अस्थायी समितियाँ और विशेष समितियाँ बनाती रहती है। इन अनेकों साधारण और असाधारण समितियों द्वारा किए जानेवाले कामों का क्षेत्र लगातार बढ़ता जा रहा है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक दूसरी आवश्यक परिषद् संरक्षण परिषद् (Trusteeship Council) है। पहले महायुद्ध के बाद जिन प्रदेशों को कुछ बड़े राष्ट्रों के संरक्षण (Mandate) में रख दिया गया था

उनके भविष्य का प्रश्न तो था ही, दूसरे महायुद्ध में शत्रु से प्राप्त होनेवाले प्रदेशों के शासन के लिए एक उचित व्यवस्था के निर्माण का कार्य भी संयुक्त राष्ट्र के सामने था। संरक्षण-परिषद् की जब स्थापना हुई तब उसके कार्यक्षेत्र मे इन दो प्रकारों के प्रदेशों के अतिरिक्त ऐसे प्रदेशों को भी शामिल किया गया जिनका शासन अन्य प्रदेशों के अधिकार में था। इन प्रदेशों के संबंध में यह अपेक्षा की गई कि उन पर शासन करनेवाले देशों के लिए यह आवश्यक होगा कि वे "सूचना मात्र देने के लिए" उनके संबंध में महामन्त्री को नियमित रूप से रिपोर्ट देते रहे। इन रिपोर्टों पर संयुक्त राष्ट्र की विभिन्न संस्थाओं में विचार-विमर्श और आलोचना होती है और अन्तर्राष्ट्रीय लोकमत के निर्माण पर उसका काफी असर पड़ता है। संक्षेप मे, संरक्षण परिषद् का मुख्य उद्देश्य उन प्रदेशों के शासन के संबंध में व्यवस्था करना है जो (१) पहले महायुद्ध के बाद किसी विजयी राष्ट्र के अन्तर्गत रखे गए थे, (२) जो द्वितीय महायुद्ध के बाद किसी पराजित राष्ट्र से प्राप्त किए गए, और (३) जिन्हें किसी ऐसे साम्राज्यवादी देश ने स्वेच्छा से उसके हाथ में सौंप दिया हो जो पहले से उन पर शासन कर रहा था। अन्तिम श्रेणी के प्रदेशों को शासनकर्त्ता राष्ट्रों की सहमति से और उनके साथ लिखित समझौतों के आधार पर ही, संरक्षण-परिषद् के तत्त्वावधान में रखा जा सकता है।

संरक्षण-परिषद् (Trusteeship Council)

इन समझौतों की शर्तों को निश्चित और स्वीकार करने का पूरा अधिकार उन राष्ट्रों को है जिनके हाथ में इस प्रकार के प्रदेशों का शासन रहा है। अपेक्षा तो यह की गई थी कि सभी साम्राज्यवादी देश अपने सभी अधीनस्थ प्रदेशों को, यदि उन्हें वे पूर्ण स्वाधीनता के लिए परिपक्व न मानते हों तो, संरक्षण-परिषद् के निरीक्षण में इस लक्ष्य तक पहुँचने मे सहायता दें। परन्तु इस प्रकार की तत्परता किसी भी साम्राज्यवादी देश ने नहीं बताई। कुछ राज्यों ने, जैसे दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका के सम्बन्ध में, इस प्रकार के प्रदेशों को अपने राज्य का अंग बना लेने की प्रार्थना भी की। परंतु उसे नहीं माना गया। दस वर्ष के बाद इन समझौतों को दुहराने की गुंजाइश रखी गई है। दूसरे महायुद्ध के बाद

प्राप्त किए गए प्रदेशों की स्थिति उतनी स्पष्ट नहीं है। उदाहरण के लिए जापान और उसके समीपस्थ द्वीपों को संयुक्त राष्ट्र के तत्त्वावधान में न रखते हुए अमरीका ने कई वर्ष तक अपने अधिकार में रखा। इसके अतिरिक्त कई ऐसे क्षेत्र हैं जिन्हें सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण घोषित करके कोई भी बड़ा राष्ट्र अनिश्चित काल के लिए अपने अधिकार में रख सकता है। उत्तरी प्रशान्त के असंख्य द्वीप इसी कोटि में आते हैं और उनके साथ अमरीका ने जो समझौते किए हैं उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें अमरीका ने अपने राष्ट्रीय हितों को प्रधानता दी है न कि अन्तर्राष्ट्रीय हितों को। इन द्वीपों पर अमरीका का लगभग वैसा ही अधिकार है जैसा उसके अपने प्रदेशों पर। इस कारण कई आलोचकों ने उसे "साम्राज्यवाद का प्रछन्न रूप" माना है।

संरक्षण-परिषद् अन्य दो परिषदों के समान ही महासभा का एक मुख्य अंग है। अन्य परिषदों के समान उसके सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं की गई है। उसमें (१) संरक्षित प्रदेशों के शासक-राष्ट्र (२) पाँच बड़े राष्ट्रों में से वे राष्ट्र जो इस सूची में नहीं आ जाते, और (३) महासभा के द्वारा तीन वर्ष की अवधि के लिए चुने गए इतने अन्य सदस्य कि परिषद् के ऐसे सदस्यों से जिनके पास शासन का काम है उनकी संख्या कम न हो। प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह किसी विशेषज्ञ को ही अपना प्रतिनिधि चुनकर भेजे। संविधान में परिषद् के कामों का पूरा ब्योरा दिया गया है। उसे प्रत्येक संरक्षित प्रदेश में जनता के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक विकास की वास्तविक स्थिति जानने के लिए प्रश्नों की एक सूची तैयार करनी पड़ती है और उस सूची के आधार पर प्रत्येक देश के शासक-राष्ट्र को महासभा के पास अपनी वार्षिक रिपोर्ट भेजनी पड़ती है। महासभा इन रिपोर्टों के आधार पर शासक राष्ट्र को अपनी सिफारिशें दे सकती है, यद्यपि यह अपेक्षा की जाती है कि वे सिफारिशें समझौते की शर्तों के अनुकूल हों। प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का अधिकार है। निर्णय उपस्थित सदस्यों के बहुमत से किया जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court) की स्थापना के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र में प्रारम्भ से दो मत थे। कुछ लोगों का

कहना था कि लीग ऑफ नेशन्स के तत्त्वावधान में चलनेवाली अन्तर्राष्ट्रीय न्याय की स्थायी अदालत (P. C. I. J.) को, जो बड़ी योग्यता के साथ काम कर रही थी, संयुक्त राष्ट्र का न्यायालय मान लिया जाए। बाद में इस नए नाम से पुराने न्यायालय को पुनर्गठित किया जाना शायद इसलिए आवश्यक समझा गया कि अमरीका और रूस को, जो पुराने न्यायालय के सदस्य नहीं थे, उसमें सम्मिलित होने में कोई आपत्ति न हो परन्तु नाम को छोड़कर सभी बातों में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय पुराने न्यायालय का ही एक नया रूप है—केवल चुनाव की पद्धति और कुछ छोटी-मोटी बातों में थोड़ा-बहुत परिवर्त्तन कर दिया गया है। संयुक्त-राष्ट्र का प्रत्येक सदस्य इस न्यायालय के नियमों से बँधा हुआ है। गैर-सदस्यों के लिए भी इसका उपयोग करने की व्यवस्था है। सदस्यों से उसके निर्णयों का पालन करने की अपेक्षा की गई है। अपने सामने लाए गए मामलों के सम्बन्ध में अपना निर्णय देने के अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का यह भी कर्त्तव्य है कि वह सुरक्षापरिषद्, महासभा और संयुक्त-राष्ट्र की अन्य संस्थाओं और विशिष्ट समितियों के द्वारा माँगे जाने पर अपनी राय दे।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court)

संयुक्तराष्ट्र के मुख्य अवयवों में अन्तिम सचिवालय (Secretariat) है। इसका अध्यक्ष महामंत्री (Secretary General) होता है, जिसका चुनाव सुरक्षा-परिषद् की सिफारिश पर महासभा के द्वारा किया जाता है। नार्वे के श्री त्रिग्वे ली (Trigvie Lie) को पाँच वर्ष की अवधि के लिए पहिला महामंत्री चुना गया। महामंत्री का काम महासभा और तीनों प्रमुख परिषदों की व्यवस्था करना और उनसे संबंध रखनेवाले भाषणों और वक्तव्यों को शीघ्र से शीघ्र मुद्रण और प्रकाशन करना है। इस काम में उसकी सहायता के लिए उसके पास एक बहुत बड़ा कार्यालय है जिसके द्वारा वह असंख्य राष्ट्रों, संयुक्तराष्ट्र की विभिन्न संस्थाओं और विशिष्ट समितियों और गैर-सरकारी संगठनों से अपना संबंध रखता है। महामंत्री को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह आवश्यकता पड़ने पर किसी भी ऐसे मामले की ओर सुरक्षा-परिषद् का

सचिवालय (Secretariat)

ध्यान आकर्षित कर सके जो उसकी सम्मति में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की दृष्टि से खतरनाक हो। महामंत्री को संयुक्त राष्ट्र के कामों के संबंध में एक वार्षिक रिपोर्ट भी तैयार करनी होती है। सचिवालय को काम की दृष्टि से आठ विभिन्न भागों में बाँटा गया है, जिनमें से प्रत्येक का अध्यक्ष एक सहायक महामंत्री (Assistant Secretary General) होता है। सचिवालय के कर्मचारियों के संबंध में यह अपेक्षा रखी गई है कि वे सभी राष्ट्रों में से लिए जाएँ, यद्यपि भौगोलिक कठिनाइयों के कारण यह संभव नहीं हो पाया है। संयुक्त राष्ट्र के कार्यों में सचिवालय का बहुत अधिक महत्त्व है क्योंकि विभिन्न राष्ट्रों के द्वारा निर्धारित की गई नीतियों के अनुसार निर्णयों का मसविदा तैयार करना और उन्हें कार्य-रूप देना सचिवालय का ही काम है। सचिवालय केवल सुरक्षा-परिषद् अथवा महासभा के लिए ही नहीं है। संयुक्त राष्ट्र की सभी संस्थाएँ और समितियाँ उसका पूरा उपयोग करती हैं, यद्यपि परिषदों और विशिष्ट समितियों के अपने स्वतंत्र कार्यालय भी हैं। सचिवालय एक प्रकार से उस सूत्र के समान है जो सभी संस्थाओं को अपने में पिरोए हुए है और जिसके द्वारा वे सब, एक दूसरे से संबद्ध हैं।

अभ्यास के प्रश्न

१—संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रमुख संस्थाओं का उल्लेख कीजिए।

२—महासभा के कार्यक्षेत्र व अधिकारों का विवरण देते हुए उसका महत्त्व समझाइए।

३—महासभा और सुरक्षा-परिषद् के सम्बन्धों पर प्रकाश डालिए। आप इन दोनों में से किसे अधिक महत्त्वपूर्ण संस्था मानते हैं?

४—सुरक्षा-परिषद् मे 'बड़े राष्ट्रों' का क्या स्थान है? अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की दृष्टि से उसे आप हितकर मानते हैं अथवा अहितकर?

५—आर्थिक और सामाजिक-परिषद् के कार्यों का उल्लेख कीजिए। अपने उद्देश्यों में उसे कहाँ तक सफलता मिली है?

६—संरक्षण-परिषद् की स्थापना किस उद्देश्य से की गई थी? वह अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफल हुई है?

७—अन्तर्राष्ट्रीय-न्यायालय के संगठन और कार्यों का विवरण दीजिए।

विशेष अध्ययन के लिए

1. Dohirit, Louis : The United Nations.
2. Evatt, H. V. : The United Nations.
3. Goodrich, L. M. and E. Hambro : Charter of the United Nations, Commentary and Documents.

अध्याय ३६

विशिष्ट समितियाँ(Specialized Agencies)

विशिष्ट समितियों का स्वतन्त्र अस्तित्व

विशिष्टसमितियों (Specialized Agencies) का निर्माण संयुक्त राष्ट्रसंघ की अपनी एक विशेषता है। लीग ऑफ नेशन्स के समस्त कार्यक्षेत्र पर एक केन्द्रीभूत अनुशासन था, परन्तु उसमें कई कठिनाइयाँ सामने आती थीं, और कई बार ऐसा होता था कि सदस्यों के राग-द्वेष और मनोमालिन्य का प्रभाव, जिसका उद्भव राजनीति में होता था, उनके सामाजिक और आर्थिक कार्यों पर भी पड़ता था। इस कारण दूसरे महायुद्ध के बाद, जब एक नए अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण किया गया तब यह उचित समझा गया कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक प्रश्नों से संबंध रखनेवाले क्षेत्रों में काम करने के लिए ऐसी समितियाँ बनाई जाएँ जिनका संचालन विशेषज्ञों के हाथ में हो, राजनीतिज्ञों के नहीं, इन समितियों को संयुक्त राष्ट्रसंघ से स्वतंत्र माना जाए और इनका सदस्य बनने या न बनने की स्वाधीनता प्रत्येक राष्ट्र को हो। इन समितियों का काम निर्णय देना उतना नहीं माना गया जितना सलाह देना और उस सलाह को मानने या न मानने के संबंध में सदस्य राष्ट्र का पूरा अधिकार स्वीकार कर लिया गया। जहाँ तक संयुक्त राष्ट्र से इन समितियों के सम्बन्ध का प्रश्न है, आर्थिक और सामाजिक परिषद् के साथ किए जानेवाले समझौतों के द्वारा वे उससे संवद्ध हैं ही, परन्तु अपनी सदस्यता और कार्यविधि में वे संपूर्णतः स्वाधीन भी हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन (International Labour Organisation) का निर्माण प्रथम महायुद्ध के बाद हुआ था। तब उसका स्वरूप लीग ऑफ नेशन्स के एक अंग का था। लीग और अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की सदस्यता और उसका बजट एक ही थे। उसका उद्देश्य सामाजिक न्याय की स्थापना करना था। इस उद्देश्य को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक व्याख्या दी गई थी जिसमें निम्नलिखित